राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का त्रैमासिक वृत्त



रंग प्रसंग

अप्रैल-जून 2006 मूल्य 50 रुपये

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के नये प्रकाशन

- **रंग हबीब :**

भारतीय रंगमंच के सक्रिय, प्रयोगशील और राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त रंग निर्देशक हबीब तनवीर से साक्षात्कार, उनका अन्तर्मन, उनके सपने, अपेक्षाएँ और आकांक्षाएँ आदि ही इस पुस्तक का विषय हैं।

लेखन : **भारत रत्न भार्गव**

डिमाई आकार, पृष्ठ संख्या : 248, मूल्य : 250 रुपये।

- **रंग भूमिकाएँ :**

भारतीय रंगचिंतन और पश्चिम की रंग-परम्पराओं की पड़ताल, साथ ही तीन दशक के नाट्य-प्रयोगों को जानने-समझने के साथ-साथ इस क्षेत्र की नई सम्भावनाओं और नए उद्यमों का आकलन।

लेखन : **मुद्राराक्षस**

डिमाई आकार, पृष्ठ संख्या : 171, मूल्य : 150 रुपये।

- **नुक्कड़ नाटक रचना और प्रस्तुति**

नुक्कड़ नाटक के उद्भव, उसके व्याकरण, लेखन, प्रदर्शन, उसकी अन्तर्वस्तु और रूप तथा आज के समय में नुक्कड़ नाटक पर हो रहे व्यावसायिकता के हमले से जुड़े अनेक सवालों को उठाती है यह किताब।

लेखन : **प्रज्ञा**

डिमाई आकार, पृष्ठ संख्या : 228, मूल्य : 175 रुपये।

संपादक

रंग प्रसंग

नई दिल्ली

प्रिय महोदय,

रंग प्रसंग के एक वर्ष (4 अंक) 200/- रुपये / तीन वर्ष (12 अंक) 500/- रुपये / पाँच वर्ष (20 अंक) 750/- रुपये का चैक/ड्राफ्ट संकलन कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक / तीन वर्ष के लिए / पाँच वर्ष के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ।

(हाँ, अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के 40/- रुपये उसमें अतिरिक्त जोड़ दें यानी चेक हमें 240/- रुपये का भेंजे।)

नाम ....

पता ....

....

....

....

टेलीफ़ोन नं. ....

यहाँ से काटिए

चेक/ड्राफ़्ट **नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा, नई दिल्ली** के नाम पर ही बनाएँ और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें :

संपादक

रंग प्रसंग

नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा,
बहावलपुर हाउस,
भगवानदास रोड,
नई दिल्ली-110001

ई.मेल : **rangprasang@rediffmail.com**
वेब साइट : **http/www.nationalschoolofsrama.org**

टेलीफ़ोन - 011-23389138, 23389402, फ़ैक्स : 011-23384288

अंक आप नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा के नाम मनीआर्डर भेजकर भी मंगा सकते हैं या फिर वी.पी.पी. से।

विदेश में :

हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर / 6 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड

डॉ० मूखन लाल कौल
को
सादर भेंट
मोतीलाल क्यमू
22/08/2007

रंग प्रसंग

वर्ष 9 अंक 2
अप्रैल-जून, 2006

"नगर उदास"
पृष्ठ 135 पर
क्यमू



राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का
त्रैमासिक वृत्त

संपादक

प्रयाग शुक्ल

त्रैमासिक
रंग प्रसंग
वर्ष 9 अंक 2 : अप्रैल-जून, 2006

प्रकाशक : राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय

संपादकीय कार्यालय :
बहावलपुर हाउस, भगवानदास रोड,
नई दिल्ली-110001
फ़ोन : 23389138, 23389402, 23387916 फ़ैक्स : 011-23384288

संपादन सहयोग : प्रकाश चन्द्र झा

आवरण अभिकल्पन : गोपी गजवानी

आवरण चित्र : *विक्रमोर्वशीयम्* का एक दृश्य।

बैक कवर : के.जी. सुब्रमण्यन की कलाकृतियाँ

चित्र : त्यागराजन एवं दीपक कुमार

प्रसार : चंद्रदत्त तिवारी
कार्यालय सहयोगी : कुलभूषण शर्मा
विक्रय : दर्शन सिंह बिष्ट

साधारण अंक का मूल्य 50 रुपये
(एक प्रति : रजिस्टर्ड डाक-व्यय सहित मूल्य 80 रुपये)

RANG PRASANG :
A quarterly journal of Indian Theatre & related Arts.
National School of Drama
Bahawalpur House, Bhagwandas Road,
New Delhi-110001, India.
Email : **rangprasang@rediffmail.com**
Website : **http/www.nationalschoolofsrama.org**

प्रो. देवेन्द्र राज अंकुर, निदेशक, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा प्रकाशित तथा नवचेतन प्रिंटर्स, 1–ई/2, झंडेवालान एक्सटेंशन, नई दिल्ली–110055 में मुद्रित। फ़ोन : 23623269 E-mail : navchetan@matraonline.com

रंग प्रसंग

वर्ष 9 अंक 2 : अप्रैल-जून, 2006

अनुक्रम

खजुराहो नृत्य समारोह

रंग आयोजन

जन्मशती

कला

लोक नाट्य

संगीत

सिनेमा

पुस्तक प्रसंग

नाटक

संदेश : विश्व रंगमंच दिवस

मनोहर श्याम जोशी स्मृति

प्रसंगवश

रंग प्रसंग के प्रारंभिक अंकों से ही हम इसमें रंगजगत के अलावा अन्य कलाओं से संबंधित सामग्री देते आए हैं। इसके पीछे का सोच यही रहा है कि, एक तो रंगकर्म में वास्तव में सभी कलाओं का समावेश किसी-न-किसी रूप में रहता ही है, दूसरे, कलाओं की वास्तविक अंतर्निभरता में हमारा गहरा विश्वास है। सभी कलाओं के बीच की आवाजाही को समझने-परखने के लिए, और उनके आपसी संबंध को मर्मभरे ढंग से जाँचने के लिए, भी यह ज़रूरी है कि हम किसी कला-माध्यम को, अन्य कलाओं के पड़ोस में रखकर भी देखें-पहचानें। इसी से कला-मर्म का, रचनात्मकता का, एक व्यापक फलक बनता है, प्रयोगों की दिशाएँ खुलती हैं, और स्वयं किसी कला-माध्यम की सीमाएँ और चौड़ी होती हैं। सुधी पाठकों ने लक्ष्य किया होगा कि हमने पिछले कुछ अंकों से संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, साहित्य, सिनेमा आदि पर बहुतेरी सामग्री प्रकाशित की है। और इस अंक में भी हमारा वही यत्न ज़ारी है। रंगकर्म पर, और नाट्य जगत से जुड़ी हुई बहुतेरी गतिविधियों पर तो इसमें सामग्री है ही, खजुराहो नृत्य समारोह पर, रामकिंकर और के.जी. सुब्रमण्यन जैसे कलाकारों पर भी कथात्मक ढंग से एक विमर्श बनाने वाले लेख हैं। हमें उम्मीद है कि पाठक इस सामग्री को विभिन्न कलाओं की स्वतंत्र क्रियाशीलता, और ऊर्जा के परिप्रेक्ष्य में तो रखकर देखेंगे ही, और उसका एक आस्वाद लेंगे, साथ ही वे यह भी पहचानेंगे कि यह सारी सामग्री रंगकर्म के संदर्भ में भी एक ज़रूरी सामग्री है, कि इस का एक अनिवार्य रिश्ता किसी-न-किसी रूप में नाट्य-चिंताओं में भी या तो गुँथा हुआ है, या वह 'नाट्य' में भी किसी-न-किसी तरह से सहायक बन सकती है। कुल मिलाकर यह कि रंगकर्म को, और उसके बारे में ज़रूरी उत्सुकता और 'खोज' को, ऐसे लेख-टिप्पणियाँ कुछ उद्दीप्त ही करेंगे। हमें इस बात का भी भान है कि ऐसी सामग्री चित्र-विहीन नहीं होनी चाहिए, इसलिए हमने कई लेखों के साथ छवियाँ भी प्रचुर मात्रा में दी है।

●

शुरू से ही हमारा यत्न यह भी रहा है कि रंगकर्म के जो भी विविध रूप और शैलियाँ हैं, उन्हें हम अपने सोच के दायरें में ला सकें। इसलिए अगर हमारी नज़र नागर कला रूपों पर, और उनके आधुनिक और उत्तर आधुनिक स्वरूपों पर रही है तो, लोक के नाट्य और नृत्य-संगीत रूपों पर भी रही है। इस अंक में भी एक ओर *विक्रमोर्वशीयम्* पर सामग्री है तो दूसरी ओर *सलहेस* और *बिदेसिया* पर भी। साथ ही हबीब तनवीर की मंडली के एक प्रमुख अभिनेता उदयराम जैसे व्यक्ति पर भी, जिसकी रंगयात्रा लोक से लेकर नागर मंच तक फैली हुई है। इस साक्षात्कार से यह बात भी बहुत अच्छी तरह प्रकट होती है कि लोक में भी रंगकर्म को सीखने-सिखाने के अपने संदर्भ मौजूद रहे हैं, और वे प्रविधियाँ उपस्थित भी रही हैं, जिनसे हम लोक नाट्य की बारीकियों को जाँच और जान सकते हैं। दूसरे शब्दों में, लोक की अपनी वे कसौटियाँ किसी-न-किसी रूप में काम करती रहती हैं, जिनसे किसी कलाकार के गुण-दोष की परख मौक़े पर ही की जा सके। और ये कसौटियाँ कुल रंगकर्म के लिए भी उपयोगी हैं।

●

यह एक दुखद तथ्य है कि हिंदी के वे कुछ कृतिकार जो रंगकर्म में, और अन्य कला माध्यमों

में गहरी दिलचस्पी लेते रहे हैं, पिछले कुछ महीनों में, थोड़े-थोड़े अंतराल से, हमारे बीच से उठते गए हैं। नेमिचन्द्र जैन, विद्यानिवास मिश्र, फिर निर्मल वर्मा, और अब मनोहर श्याम जोशी के जाने से हम मर्माहत हैं। इन सबका रंगकर्म से, *रंग प्रसंग* से, और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से अत्यंत घनिष्ठ और आत्मीय रिश्ता रहा है। इनका लेखन, चिंतन, और रचना-दर्शन इस बात का प्रमाण है कि ये अपने साहित्यिक रचना-कर्म के साथ, अन्य कला-माध्यमों के रचनाकारों से जुड़ने में एक सार्थकता महसूस करते रहे हैं। और कहीं-न-कहीं यह मानते रहे हैं कि विभिन्न कला-माध्यमों से उनके जुड़ाव ने उनके लेखन में भी कुछ नए क्षितिज खोले हैं। मनोहर श्याम जोशी की रंगकर्मियों और रंगकर्म से एक निजता ही है, और उन्होंने *हम लोग, बुनियाद* जैसे लोकप्रिय धारवाहिकों की रचना के साथ ही कई फ़िल्मों की पटकथाएँ भी लिखीं हैं। 'पटकथा लेखन' पर हिंदी में एक व्यावहारिक पुस्तक भी उनकी है। *दिनमान* और *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* में क्रमशः सहायक संपादक और संपादक की भूमिका में कार्यरत रहते हुए उन्होंने रंगकर्म, रंगकर्मियों और नाट्य-विमर्श पर बहुतेरी सामग्री को प्रकाशित करने में भी विशेष दिलचस्पी ली थी। हम इस अंक में उन पर जो सामग्री दे रहे हैं, उसमें इन तथ्यों की भरपूर याद है, और उन जैसी विरल और बहुमुखी प्रतिभा के कई अन्य रचनात्मक पक्षों पर भी ऐसी जानकारियाँ, और विश्लेषणात्मक टिप्पणियाँ हैं, जो जोशीजी और उनके कामकाज पर हमारा ध्यान एक बार फिर एकाग्र करती हैं और बताती हैं कि उनकी स्मृति, हमें हर तरह से रचना-कर्म, और उसके लिए एक ज़रूरी स्पेस बनाने के लिए आंदोलित-प्रेरित करती रहेगी।



आठवें भारत रंग महोत्सव के प्रसंग से, हमने समकालीनता और समकालीन रंगमंच को लेकर एक विमर्श तैयार करने की कोशिश की है। इसमें निश्चय ही कुँवरजी अग्रवाल का लेख, विशेष रूप से हमारी मदद करता है। यह वर्ष इब्सन जैसे महान नाटककार—जिनके नाटक भारत में भी, हिंदी समेत विभिन्न भाषाओं में लगातार मंचित होते रहे हैं—की स्मृति को समर्पित वर्ष माना जा रहा है। इब्सन के निधन को सौ साल पूरे हो रहे हैं। उनके न रहने के सौ वर्षों बाद भी उनके नाटकों में जो दिलचस्पी व्याप्त है, उसका एक आकलन उत्पल के. बनर्जी कर रहे हैं।

हमने पिछले अंक में घोषित किया था कि अंक-22 में हम 'रंगभाषा आर्तो का आर्तनाद—जॉक देरिदा की मार्फ़त' शीर्षक से कृष्ण गोपाल वर्मा का एक लेख प्रस्तुत करेंगे। पर अपरिहार्य कारणों से वह इस अंक में नहीं जा पा रहा है। पाठक इसे अगले अंक में पढ़ सकेंगे।

इस बार भी एक संपूर्ण नाटक हम प्रस्तुत कर रहे हैं *नगर उदास* । यह कश्मीरी के सुपरिचित नाटककार मोतीलाल केम्यू की कृति का हिंदी अनुवाद है।

हमेशा की तरह हमें आपके सुझावों और प्रतिक्रिया(ओं) की प्रतीक्षा रहेगी।

शुभकामनाओं सहित,

आपका

प्रयाग शुक्ल

नाटक का उत्सव

कुँवरजी अग्रवाल

आजकल नाटक देखते हुए अक्सर ऐसा महसूस होता है कि काश! मैं फिर से अपने बचपन में लौट जाता, जब नाटक की जादुई दुनिया में बिलकुल खो जाया करता था, शायद चार-पाँच साल की उम्र से ही नाटक की दुनिया मुझे अपनी ओर खींचने लगी थी। बिहार के एक क़स्बे में शायद कोई नौटंकी हो रही थी—जालिमसिंह डाकू। ख़ूब रंगीन पर्दे, कई पैट्रोमैक्सों की तेज़ रोशनी, चमकीले-भड़कीले कपड़े और भावुकता से भरी आवाज़ें। इसके सिवा और कुछ समझ में नहीं आ रहा था। लेकिन रंगमंच की मोहक दुनिया से खिंचा हुआ, तन्मय, एकटक देखता हुआ मैं पूरी रात बैठा रहा था। मुझे उन सब में सिवा आनंददायक के और दूसरा कुछ नज़र ही नहीं आता था। वैसे ही बचपन में बनारस में रामलीलाओं में लगातार, महीनों जाया करता था और मंत्रमुग्ध-सा बैठा हुआ सब कुछ देखता सुनता रहता था। मेरे बचपन में बनारस में मथुरा वृंदावन से रासमंडलियाँ भी ख़ूब आया करती थीं। मैं उन्हें देखने का भी कोई मौक़ा नहीं छोड़ता था। सबकुछ बहुत अच्छा लगता था। उसमें कहीं कोई आलोचनात्मक दृष्टि नहीं थी। तन्मयता और आनंद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। और उस तन्मय आनंद के सामने बचपन का और कोई भी आकर्षण मेरे लिए तुच्छ था। एक बार, शायद 5-6 साल की उम्र में, परिवार के साथ मुझे सिनेमा देखने ले जाया गया। वहाँ पर्दे पर बहुत बड़े-बड़े चित्रों को देखकर मैं भयभीत हो उठा था और भूत-भूत कहकर चिल्लाने लगा था। अंत में विवश होकर पूरे परिवार को सिनेमा छोड़कर मेरे साथ बाहर निकल आना पड़ा।

कितना सुखकर होता है नाटक की दुनिया को तर्कहीन विश्वास के साथ जीना जिसे कॉलरिज ने *विलिंग सस्पेंशन ऑफ डिसबिलीफ* कहा है। लेकिन अब मेरे लिए नाटक देखना कितने ही किंतु-परंतुओं, कितने ही नुक्तों रेखांकनों से भर गया है। अब तो नाटक बौद्धिक व्यूह संरचना के सात फाटकों को तोड़कर ही हृदय के मर्म को छू पाता है।

मुझे नाटक देखना हमेशा सुखकर लगता है, जब बहुत उच्चकोटि की कलात्मक सृष्टि हो रही हो, और तब भी जब कोई बड़ा कमज़ोर नाटक भोंडे ढंग से मंच पर उतारा जा रहा हो। उस समय मेरा मन एक नए तरह की आलोचनात्मक सर्जना का अनुभव करता है कि इन कमज़ोरियों के क्या कारण हो सकते हैं और नाट्यसर्जकों को उनके प्रति सचेत करने का कारगर तरीक़ा क्या हो सकता है?

नाट्य सर्जन की दुनिया में डूबने का यह सुखकर अनुभव भी मुझे अक्सर दिल्ली के राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में खींच कर ले जाता है।

एक बात और है पिछले लगभग 50 सालों से मेरे नाटक देखने, नाटकों में अभिनय और निर्देशन करने, नाट्य पर पढ़ने, लिखने और सोचने का मुख्य केंद्र बनारस ही रहा है। मेरी रंगभूमि मूलतः बनारस ही है। लेकिन बनारस की रंगमंचीय गतिविधि निश्चय ही काफ़ी हद तक अपने परिवेश से सीमित है और मुझे उनसे पूरी तृप्ति नहीं मिलती। मैं भारत के संपूर्ण नाट्य परिवेश से जुड़कर अपनी नाट्य चेतना को विकसित करने के लिए निरंतर उत्सुक रहता हूँ।

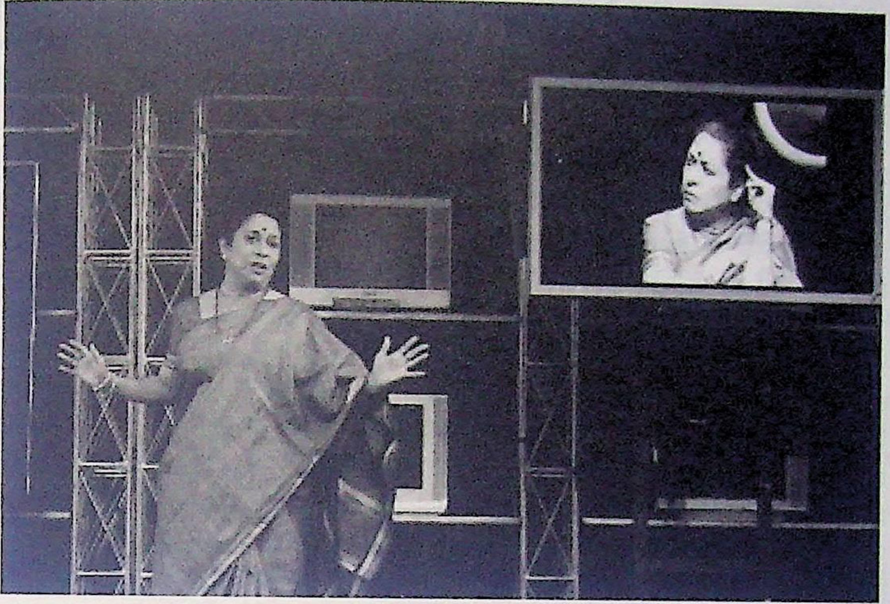
बनारस में रहकर बाहर की नाट्य प्रस्तुतियों को देखने का मौक़ा यदा कदा ही मिल पाता है। जब कभी मैं बनारस के बाहर निकलता हूँ, तब भी नाटक देखने का मौक़ा गँवाना नहीं चाहता। मेरी लंबे अरसे से तीव्र लालसा रही है कि एक बार काफ़ी वक्त लेकर पूरे भारत की नाट्य यात्रा करूँ। लेकिन ऐसा अवसर अभी तक मुझे नहीं मिल सका। इसलिए भारंगम जब से शुरू हुआ तब से जब कभी मौक़ा मिला मैंने उसमें अधिक से अधिक नाटक देखने की कोशिश की और पिछले दो वर्षों (2005 से 2006) के महोत्सवों में मैं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के सौजन्य से शुरू से अंत तक उपस्थित रहा और यथासंभव सभी नाटकों को देख लेने की कोशिश की। यह अनुभव मेरी नाट्य चेतना को बेहद समृद्ध कर गया और मेरा आत्म प्रशिक्षण कई स्तर ऊपर उठ सका।

इन दोनों वर्षों को मिलाकर मैंने सोचना शुरू किया कि क्या यह नाट्यलेखन और प्रस्तुतियों का पूरा भारतीय परिदृश्य है? अथवा चयनकर्ताओं के निजी रुझानों की एक झलक है? या फिर यह प्रत्येक वर्ष की श्रेष्ठतम प्रस्तुतियों का संकलन है? मैं तो विशेष रूप से यह देखना चाहता था कि अपने-अपने क्षेत्रों में कौन-कौन सी प्रस्तुतियाँ दर्शकों द्वारा सबसे ज़्यादा सराही गईं। लेकिन यह सब जानने का कोई उपाय नहीं था।

निजी तौर पर मेरे लिए तो यही बहुत बड़ी बात थी कि इतने कम समय में इतनी अधिक प्रस्तुतियाँ देख पाया। फिर भी मुझे अफ़सोस है कि कुछ तो मानवीय क्षमता और कुछ नाटकों के समय चक्र की सीमाओं के कारण कई प्रस्तुतियाँ देखने से मैं वंचित रह गया। मैं सोचता हूँ कि भारंगम का इस तरह का आयोजन मेरे जैसे व्यक्तियों के लिए बेहद फ़ायदेमंद है और मेरा स्वार्थ कहता है कि इसे ज़ारी रहना चाहिए।

लेकिन मेरे जैसे कितने दर्शक भारंगम में जुट पाते हैं? और जब दर्शकों की बात चली है तो भारंगम में जुटे दर्शकों के कुछ व्यवहारों को रेखांकित करना मुझे आवश्यक लगता है। नाट्यप्रस्तुति की बारीकियाँ दर्शकों की तल्लीन सर्जनात्मक सहभागिता पर निर्भर है। इस बात को अब नाट्य से जुड़े प्रायः सभी लोग जान चुके हैं। फिर भी मुझे भारंगम की प्रस्तुतियों में बीच-बीच में लगातार दर्शकों का आना-जाना देखने को मिलता रहा और जब मैंने थोड़ा समझने की कोशिश की तो जान पाया कि ऐसे दर्शक या तो वे नाट्यकर्मी हैं जो हर प्रस्तुति से अपने लिए कुछ ख़ास चीज़ें बटोर लेना चाहते हैं या फिर ऐसे लोग हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में लिखने के लिए हर प्रस्तुति से दो एक ख़ास बात नोट कर लेना चाहते हैं क्योंकि बाक़ी चीज़ें तो ब्रोशर से मिल ही जाएँगी। इस तरह के कुछ ऐसे भी दर्शक दिखे जो इस बात का रिकॉर्ड बनाना चाहते हैं कि उन्होंने भारंगम के सारे नाटक देख लिए। अक्सर मैंने मंच पर उपस्थित अभिनेताओं में इसकी निराशाजनक प्रतिक्रिया भी देखी है। मैंने अभिनेताओं और दूसरे रंगकर्मियों में ऐसी निराशाजनक प्रतिक्रिया और भी गहराती देखी है जब प्रस्तुति हिंदी या अंग्रेज़ी से इतर भाषाओं में हो रही हो। ऐसी प्रस्तुतियों में कभी-कभी तो मैंने सिर्फ़ 15-20 या उससे भी कम दर्शकों की उपस्थिति देखी है। मैं सोचता हूँ कि भारंगम में कोई भी ऐसी प्रस्तुति जिसमें दर्शकों की उपस्थिति बेहद कम हो नाट्यकर्मियों पर नकारात्मक प्रभाव डालती है और उन्हें कुंठित कर देती है। आयोजकों को इस पहलू पर सोचना चाहिए।

किसी नाट्यप्रस्तुति की कलात्मक समीक्षा या उस पर कुछ सार्थक लिखना बेहद टेढ़ी खीर है। नाट्यानुभूति एक जटिल प्रक्रिया है और नाटक देखने की अवधि में कालक्रम के अनुसार निरंतर परिवर्तित होती रहती है। भारतीय और पाश्चात्य नाट्य समीक्षा में जो पारिभाषिक शब्द



गिरीश कारनाड द्वारा निर्देशित नाटक ***बिखरे बिम्ब*** *का एक दृश्य*

इसके लिए उपलब्ध हैं बेहद अपर्याप्त हैं, साँचे जैसे हैं और उनमें प्रेषण की निजता को व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। दूसरी बात नाटक देखने और लिखने के बीच का व्यवधान अनुभूति की बारीकियों को ध्वस्त करता है और लिखते समय लेखक के पूर्वाग्रहजनित अभ्यस्त भाषिक साँचे उस पर हावी हो उठते हैं। इसीलिए नाट्य प्रस्तुति और उसकी समीक्षा के बीच का रिश्ता बेहद पतला हो जाता है। फिर भी नाट्य समीक्षा की अपनी सार्थकता है। एक तो उससे प्रस्तुति का एक तरह का डाक्यूमेंटेशन होता है और दूसरी ओर यदि यह समीक्षा नाट्य के किसी अच्छे अध्येता द्वारा लिखी गई हो तो उससे एक ऐसा नाट्य विमर्श उभरता है जो रंगकार्य को चिंतनपरक आयाम दे सकता है।

भारतीय नाट्य के संदर्भ में जब कोई बड़ा प्रस्तुति आयोजन हो, या फिर कोई सेमिनार या विचार गोष्ठी हो, तो सबसे पहले जिस बिंदु पर विचार केंद्रित होता है वह नाट्यशास्त्र और संस्कृत के क्लासिकल नाटक हैं। भारंगम की कुछ नाट्य प्रस्तुतियों में यह देखकर मन आश्वस्त होता है कि पिछले 50 वर्षों में इस दिशा में काफ़ी उल्लेखनीय कार्य हुआ है। उदाहरणार्थ जी. वेणु द्वारा कुडिअट्टम् परंपरा में *अभिज्ञानशाकुन्तलम्* के चतुर्थ अंक की प्रस्तुति (भारंगम, 2002)। इस प्रस्तुति को देखकर मेरा यह विचार और भी दृढ़ हो गया कि *नाट्यशास्त्र* भारतीय नाट्य के सिद्धांतों, तकनीकों, विधियों और सौंदर्यदर्शन का केंद्रीय संदर्भ ग्रंथ है। भिन्न-भिन्न भाषाओं में भारत के कोने-कोने में फैले हुए पारंपरिक नाट्यों ने अपनी क्षेत्रीय और आंचलिक ज़रूरतों के मुताबिक उसके विभिन्न पहलुओं को ग्रहण किया है और उनकी अपने-अपने ढंग से अलग-अलग व्याख्याएँ भी की हैं। संस्कृत नाट्य की बहुत सी पुरानी परंपराओं में आंगिक अभिनय के बाद वाचिक अभिनय किया जाता है। सौंदर्यबोध की समकालीन चेतना को यह बड़ा अजीब लगता है और इसकी सार्थकता स्पष्ट नहीं होती। जी. वेणु की प्रस्तुति में इस गुत्थी को बड़े प्रभावी ढंग से सुलझाया गया है जिससे न केवल उसका

पूरा औचित्य प्रमाणित होता है बल्कि आधुनिक भाव बोध के अनुसार उस प्रक्रिया के प्रयोग की संभावना भी दिखाई पड़ती है। इसी प्रस्तुति में पहली बार मैंने अनुभव किया कि *अभिज्ञानशाकुन्तलम्* के चतुर्थ अंक के श्लोक चतुष्टय को भारतीय नाट्य परंपरा में सर्वोत्कृष्ट क्यों ठहराया गया है?

पारंपरिक नाट्यों के पुनरनुसंधान में महज़ रूढ़ियों की खोज और उनके यथावत पालन से आगे बढ़कर उनके पीछे छिपी कलात्मक और सौंदर्यमूलक तार्किक अवधारणाओं तक पहुँचना निश्चय ही बहुत बड़ा कार्य है।

कुछ ऐसी ही अनुभूति मुझे गुणाकर देव गोस्वामी द्वारा प्रस्तुत *श्रीरामविजय* (2005) को देखकर हुई। पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में फैले महान वैष्णव भक्ति आंदोलन के साथ नाट्य परंपराओं का एक पुनर्जागरण शुरू हुआ। इस परंपरा के आदि नाटककारों में असम के शंकर देव भी थे। उन्होंने अंकिया नाट के रूप में कई नाटक लिखे और उन्हें अभिनीत करने की परंपरा भी डाली जिन्हें *भाओना* कहा जाता है। ये नाटक *ब्रजबुलि* में हैं, जो हिंदी के अखिल भारतीय स्वरूप का ही एक अंग है। डॉ. जगदीशचंद्र माथुर और डॉ. दशरथ ओझा ने हिंदी में उनके नाटकों का संपादन भी किया है। गुणाकर देव ने उसे पूरे सार्थक तत्कालीन सौंदर्यबोध के साथ प्रस्तुत किया।

इस तरह की प्रस्तुतियों का पूरा आनंद आज के युग में भारतीय नाट्य के गहरे अध्येता ही उठा सकते हैं। संभव है कि असम या केरल में ऐसे सामन्य दर्शक भी हों जो इनका आनंद उठा सकें। लेकिन यदि किसी भी पारंपरिक नाट्य को आज के दर्शकों के लिए प्रस्तुत करना है तो निश्चय ही उसका समकालीन सौंदर्यबोध के अनुसार पुनर्संस्कार करने की आवश्यकता होगी।

ऐसी ही एक कोशिश वामन केंद्रे ने भास के *मध्यमव्यायोग* (2005) की प्रस्तुति में की। उन्होंने अत्यंत कुशलतापूर्वक आधुनिक कोरियोग्राफ़ी और कास्ट्यूम डिजाइनिंग के तत्वों को इस प्रकार प्रयुक्त किया कि वे कहीं पर भी अलग-अलग नज़र नहीं आ रहे थे। इसके अलावा बड़ी ही सूक्ष्मता से उन्होंने उसकी विषयवस्तु को भी एक आधुनिक आयाम देने की कोशिश की।

कन्नड़ भाषा की प्रस्तुति *मायासीताप्रसंग* (2005) में रमेश वर्मा ने संस्कृत रंगमंच की स्पेस की रूढ़ियों का आधुनिक भावबोध के साथ बड़ा ही सार्थक और प्रभावी प्रयोग किया।

चिदम्बराराव जांबे की प्रस्तुति *अप्सरे* (*विक्रमोर्वशीयम्* 2006) भी एक अच्छी प्रस्तुति थी; किंतु उसमें वेशभूषा और मेकअप में रूढ़ियों को सौंदर्यबोध का आधुनिक आयाम देने की कोशिश कम दिखाई पड़ी।

प्रेममोहन डोभाल निर्देशित *बूढ़देवा* (2005) में लोक तत्व, आधुनिक दृश्य कला के तत्वों की डिजाइनिंग, जो मुखौटों और वेशभूषा में मुख्य रूप से प्रकट हुई, के साथ रिचुअल नाट्य के तत्व भी मुखर थे। इसमें स्ट्रक्चर बहुत ढीला ढाला और गति काफ़ी मंद थी, जो उबाऊ हो रही थी। दिल्ली का प्रोसेनियम थिएटर का हॉल इसके लिए मुझे बिलकुल उपयुक्त नहीं लग रहा था।

पारंपरिक लोकनाट्यों को आधुनिक दर्शकों के लिए प्रस्तुत करने की दिशा में प्रवीण भोले द्वारा निर्देशित *आख्यान दमयंती* (2006) भी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसमें उन्होंने कथागायन या नैरेटिव थिएटर की कई मराठी परंपराओं को *नल-दमयंती* के एक आख्यान के साथ इस

प्रकार क्रमिक रूप से गूँथकर प्रस्तुत किया है कि दर्शकों को एक परंपरा की ऐतिहासिक यात्रा का अनुभव मिलता है। यह परंपरा बेहद पुरानी है। शायद नाट्यशास्त्र की रचना के भी काफ़ी पहले की है जो रूप बदलती हुई किसी-न-किसी तरह आज भी जीवित है और इसे नई ज़रूरतों के अनुसार संस्कारित करने की कोशिशें भी हो रही हैं।

पारंपरिक नाट्यों के संदर्भ में अब मैं एक ऐसी नाट्यविधा की चर्चा करना चाहता हूँ, जो है तो अत्यंत प्राचीन भारतीय विधा, किंतु लगभग सवा सौ साल पहले उसने महाराष्ट्र में आधुनिक यूरोपीय नाट्य के साथ मिलकर एक नया कला संस्कार पाया और लंबे समय तक महाराष्ट्र में बहुत लोकप्रिय भी रही। यह संगीत नाटक की परंपरा है। आज यह परंपरा शेषप्राय है। और यदि यदा-कदा दिखाई भी पड़ती है तो उसमें नाट्य के जीवंत तत्व और उत्कृष्ट संगीत का योग नहीं दिखाई पड़ता। लेकिन श्री पुरुषोत्तम दारवेकर द्वारा निर्देशित और भरत नाट्य संशोधन मंदिर, पुणे द्वारा प्रस्तुत *कट्यार कालजात घुसली* अर्थात् *कटार कलेजे में घुस गई* एक अत्यंत सुंदर संतुलित और ऊर्जस्वी मराठी संगीत नाटक प्रस्तुति मुझे देखने को मिली। इस नाटक में मुझे संगीत नाटक के मूल तत्वों को जिस सावधानी के साथ सहेज कर रखने का उदाहरण मिला वह दुर्लभ है। सच कहूँ तो संगीत नाटक की इतनी मार्मिक प्रस्तुति मैंने पहले नहीं देखी थी।

अपनी पहचान के संकटों से उबरने के लिए जड़ों तक पहुँचने और मिट्टी की गहराइयों में उतरकर पोषक तत्वों के स्रोतों को खोजने की कोशिशों की ओर इशारा करने के बाद अब मैं कुछ उन प्रस्तुतियों का ज़िक्र करना चाहूँगा, जिनमें नाट्य को समकालीनता से जोड़ने की छटपटाहट नज़र आई।

भारंगम में प्रस्तुत ऐसे नाटकों में यह कोशिश मुझे दो धरातलों पर स्पष्ट नज़र आई। एक धरातल तो समकालीन जीवन की समस्याओं, अनुभूतियों और फ़िक्रों को अभिव्यक्ति देने की कोशिश में नए-पुराने सभी तरह के नाट्य रूपों को आजमाता चलता है, तो दूसरे धरातल की सबसे प्रबल आकांक्षा यह है कि वह संपूर्ण नाट्य रूप को ही बदलकर एक ऐसी शक्ल दे दे, जो समकालीन विश्व के वैज्ञानिक, इलेक्ट्रॉनिकी तथा बहुत सारी ऐसी डिवाइसों से भरा हो जिनका उपयोग सिनेमा, टेलीविजन, विडियोग्राफ़ी इत्यादि करते रहे हैं।

ऐसा एक महत्वपूर्ण उदाहरण मुझे 2005 के भारंगम में प्रस्तुत बहुभाषी *मेमोरीज ऑफ़ ए लीजेंड* (एक पुराकथा की स्मृतियाँ) नाम की प्रस्तुति में देखने को मिला, जिसे पाँच एशियाई देशों—भारत, नेपाल, बांग्लादेश, पाकिस्तान और श्रीलंका के पाँच निर्देशकों—अभिलाष पिल्लई, अनूप बराल, अज़ाद अबुलकलाम, इब्राहिम कुरैशी और रुवंती डी. चिकेरा ने निर्देशित किया था। इस अत्यंत सुनियोजित प्रस्तुति के लिए आधार *बाबरनामा* को चुना गया जो एशिया के इतिहास से गहरे जुड़ा हुआ है। इसमें थिएटर हॉल और उसके स्टेज दोनों को जोड़ने की कोशिश स्टेज पर भी दर्शकों को बैठाकर की गई थी, अभिनय के साथ कई-कई टी.वी. मॉनीटरों का भी उपयोग किया गया था। इसमें पेंटिंग और स्कल्प्चर के क्षेत्र में प्रचलित इंस्टालेशन तथा परफॉरमेंस जैसी विधाओं का प्रयोग किया गया था। इसके अलावा सिनेमा के क्षेत्र में प्रचलित मोंताज और चित्रकला के क्षेत्र में प्रचलित कोलाज की तकनीकों का भी इस्तेमाल था। इस प्रस्तुति में शताब्दियों से विश्व भर में प्रचलित ऐसी नाट्य कला, जिसमें अभिनय और भाषा के नैरंतर्य से सर्जित संश्लिष्ट बिंबों का प्रवाह बनता था, को बिलकुल नकार दिया गया।

2006 में इसी तरह की अवधारणा को निखारने और आगे बढ़ाने की कोशिश में अभिलाष

पिल्लई ने विश्व प्रसिद्ध लेखक सलमान रुश्दी की एक बेस्ट सेलर *मिडनाइट्स चिल्ड्रेन (आधी रात के बच्चे)* पर आधारित एक हिंदी प्रस्तुति की। इसमें बिंबों के अंतर्संबंध अधिक परिभाषित थे और अभिनय तथा दृश्यरचना में जाने-पहचाने नाट्य तत्व अधिक मुखर थे।

अभिलाष पिल्लई की एक और प्रस्तुति *द आइलैंड ऑफ़ ब्लड* (2005) भी मल्टीमीडिया का उपयोग करने की दिशा में उल्लेखनीय कार्य है। इसमें समकालीन जीवन की एक बहुत ही महत्वपूर्ण समस्या यह उठाई गई है कि समकालीन व्यक्ति की संवेदना और विचारधारा पर मीडिया के नियंत्रण का शिकंजा कितने ख़तरनाक ढंग से बढ़ता जा रहा है। इस प्रस्तुति के रूप और कथ्य में समकालीनता लाने की कोशिश मुझे रोचक तो लगी, लेकिन अपरिपक्व।

गिरीश कारनाड द्वारा लिखित और निर्देशित *बिखरे बिंब* (2006) में एकल अभिनय के साथ टी.वी. स्क्रीन का प्रयोग अधिक सार्थक और प्रभावी था क्योंकि यह अरुंधती नाग के समर्थ अभिनय को गतिमयता प्रदान करता था और थीम में इनबिल्ट था। लेखन के साथ समरस यह प्रस्तुति नायिका की आत्मवंचना को परत-दर-परत इस तरह उघाड़ती चलती है कि दर्शक भी अंतर्मुखी होकर अपने को टटोलने की ओर प्रेरित होता है।

रंगमंच से दूर हटते दर्शकों को वापस लाने के लिए बहुत सारे निर्देशक अपनी थीम को किसी-न-किसी तरह सामयिक विषयों से जोड़ते रहते हैं। बैरी जॉन के दो नाटकों *इट्स ऑल अबाउट मनी, हनी* (2002) और *इट्स ऑल अबाउट सेक्स, हनी* (2006) में दिल्ली के युवा दर्शकों को अपनी ओर खींचने की ज़बर्दस्त कोशिश नजर आती है। मेरी दृष्टि से पहले नाटक में उन्हें ज़्यादा सफलता मिली है।

रॉयस्टन अबेल में गहरी मौलिक दृष्टि है जिससे वे नाट्य के रूप और कथ्य दोनों को समकालीनता से जोड़ने के लिए सर्जनशील कल्पना का उपयोग करते हुए दर्शकों को एक नई ताज़गी का अहसास कराते हैं। *लड़की सीधी रहेगी* (2006) और *लव : अ डिस्टेंट डायलॉग* (2002) इन दोनों ही प्रस्तुतियों में मैंने समकालीनता को पकड़ने के लिए अबेल की अनेक स्तरों पर की गई सहज कोशिशों का भरपूर आनंद लिया। अभिनेता, स्पेस और भाषा का बेहद चातुर्यपूर्ण किंतु सहज सादगी से भरपूर उपयोग नाट्य की अजस्र कला क्षमता का परिचय देता है।

वर्चुअल रियलिटी की ओर तेज़ी से बढ़ रहे इस विश्व में इक्कीसवीं सदी के नाटक की खोज की एक दिशा यह भी हो सकती है जिसमें अभिनेता और दर्शकों के बीच की वे सारी चीज़ें—जैसे सेट डिजाइन, अभिनेता और दर्शकों की दूरी बढ़ाने वाले सभी तरह के स्पेस डिवीजन, मेकअप, कॉस्ट्यूम, लाइटिंग के सारे तमाशे, यहाँ तक कि उस तरह के सारे टेक्स्ट जो अभिनेता की अपनी भीतरी सच्चाईयों से न जुड़े हों—हटा दिए जाएँ। अभिनेता और दर्शकों को बाँधने वाली चीज़ दोनों की ऊर्जाओं का आदान-प्रदान हो—अभिनेता का उसकी गहरे अंतर्तम से उपजी वाणी (परा, पश्यंती, मध्यमा, वैखरी) तथा अनुभूति की ऊर्जाओं का उसके शरीर की गतियों पर प्रतिफलन (तथाकथित 'शरीरभाषा' नहीं) और इसके बरअक्स दर्शकों के मौन की बहुविध छटाएँ तथा गहरे अनुभवों से गुज़रते उनके शरीरों की अपना संतुलन खोजने की कोशिशें।

जुलेखा चौधरी निर्देशित और मनीष चौधरी द्वारा अभिनीत *सिद्धार्थ* (2006) को देखने की कोशिश में जब मैं बहुमुख के दरवाज़े पर पहुँचा तो सचमुच वहाँ तिल रखने की जगह नहीं थी। किसी तरह संतुलन बनाते हुए बड़ी कोशिशों से पंजों के बल खड़े होकर गर्दन काफ़ी लंबी

करके मैंने जो देखा उससे सबसे पहले मेरे मन में यही पूर्वोक्त अवधारणा साकार हो उठी और कुछ उसी आकर्षण में मैं अपनी तकलीफ़देह देहमुद्रा भूल गया। मैं नहीं कह सकता कि जो मैं देख रहा था उससे मेरी सोच बन रही थी या जो मैं सोच रहा था वही देख रहा था। मुझे यह प्रस्तुति अच्छी लगी इसलिए कि शायद इस दिशा में आगे कुछ परिपक्व प्रस्तुति देखने का मौक़ा मिले।

अरुण मुखर्जी निर्देशक के रूप में एक ऐसे चतुर नाविक हैं जो अपनी प्रस्तुति को भावनाओं, विचारों और यथार्थवाद की ठोस चट्टानों के बीच से निकालते हुए दर्शकों को नाटक की सटीक बारीक विचार निष्पत्ति तक सकुशल पहुँचा देते हैं। यह कुशलता मैंने उनके *निर्णय* (2005) और *आपनी कोन दिके* (2006) में बख़ूबी देखी। *निर्णय* में बड़े बारीक स्तर पर इस सवाल से साक्षात्कार है कि परिवार के आत्मीय परिवेश में बौद्धिक और भावात्मक विरासत कैसे हस्तांतरित होती है। *आपनी कोन दिके* में बेहद उलझे हुए इस प्रश्न को बड़ी बारीकी से उठाया गया है कि कलाकार की आत्यंतिक निष्ठा कला के प्रति कितनी होनी चाहिए और क्या संकट की घड़ी में दमनकारी शक्तियों से समझौता कर अपनी कला को ऊँचाइयों तक पहुँचाने में लगे रहना चाहिए या पीड़ित जनता का पक्ष लेकर किसी भी क़ीमत पर लड़ना चाहिए। नाटककार और निर्देशक दोनों ही ने बड़े निस्संग भाव से अपने को तटस्थ रखकर दर्शकों के लिए यह प्रश्न खुला छोड़ दिया है।

पिछले दोनों नाट्य महोत्सवों में मैंने सामाजिक सरोकारों के प्रति निष्ठावान कुछ ऐसी प्रस्तुतियाँ देखीं जिनमें नाट्य की भाषा के अत्यंत सीधे सादे सरल मुहावरों का इस्तेमाल हुआ। नादिरा जहीर बब्बर की *जी जैसी आपकी मर्जी* (2005) में गर्ल चाइल्ड की समस्या को बड़े सहज और मनोरंजक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें अभिनय, भाषा और संरचना तीनों ही सहज बोधगम्य किंतु बेहद प्रभावशाली थी। लेकिन *ऑपरेशन क्लाउडबर्स्ट* (2006) में वह सहजता और प्रभाव नहीं दिखाई पड़ा।

सामाजिक सरोकार के नाटकों में अजय आठले द्वारा निर्देशित *बकासुर* (2006) मुझे इसलिए अच्छा लगा कि इसमें लोकगीतों के जीवंत प्रयोग के साथ बकासुर के मिथक का इस्तेमाल इस तरह किया गया था कि ग्रामीण जनता में नाट्य प्रस्तुति का संदेश प्रभावी तरीक़े से संप्रेषित हो सके। सुधन्वा देशपांडे का *शंबूक वध* (2006) भी इस दिशा में एक प्रभावी प्रयोग था।

प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों की नाट्य प्रस्तुतियाँ मैं कई दशकों से देखता आ रहा हूँ। उनकी कुछ रचनाओं को मैंने स्वयं भी मंच पर पुनर्सर्जित करने की कोशिशें की हैं। लेकिन भारत रंग महोत्सव में उनके तीन उपन्यासों—*रंगभूमि* (2005), *गोदान* (2005) और *गबन* (2006) पर आधारित सुरेंद्र शर्मा, एम.के. रैना और विभा मिश्रा की नाट्य प्रस्तुतियों को देखकर मेरा ध्यान पहली बार प्रेमचंद के उपयुक्त नाट्य प्रस्तुति की कलाभाषा की ओर गया। मुझे लगा कि जिस प्रकार प्रेमचंद सीधी सादी सरल मुहावरेदार भाषा में अपनी रचनाएँ करते थे; ठीक उसी तरह की नाट्य भाषा ही उनके लिए विशेष उपयुक्त है। ऐसी एक सरल नाट्य भाषा खास तौर से पिछले साठ-सत्तर वर्षों में गंभीर शौकिया नाट्यकर्मियों ने उपन्यासों की नाट्य प्रस्तुति के सिलसिले में ईज़ाद की। इसके बरअक्स आधुनिक प्रशिक्षित और महत्वाकांक्षी निर्देशकों ने प्रस्तुति को पूर्णतः निर्देशक केंद्रित बनाने के सिलसिले में एक ऐसी जटिल नाट्य भाषा का विकास किया जो एक ओर तो डिजाइनिंग के तत्व पर अत्यधिक बल देती है तो दूसरी ओर प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के साधनों का प्रचुर प्रयोग करती है। यही वजह है कि इन तीनों में

मुझे सबसे सशक्त प्रस्तुति सुरेंद्र शर्मा की लगी जिसमें प्रेमचंद कथाकार के साथ ही युगदृष्टा के रूप में भी दिखाई पड़े। एम.के. रैना की प्रस्तुति में कलात्मक निखार और कसाव तथा निर्देशक की स्पष्ट उपस्थिति के बावजूद प्रेमचंद का चिंतक पक्ष नदारद था। विभा मिश्रा के *गबन* की नैया डगमगाते-डगमगाते भी अंततः सफलतापूर्वक इसीलिए पार लग गई कि उसमें प्रस्तुति की अतिसरल भाषा का इस्तेमाल हुआ था।

मोहन महर्षि द्वारा निर्देशित और अंजला महर्षि तथा बलप्रीत द्वारा अभिनीत दो स्त्रियों के नाटक *हो रहेगा कुछ न कुछ* (2005) की सबसे बड़ी ख़ूबी जीवन और मृत्यु दोनों के प्रति समान निष्ठा की प्रभावी अभिव्यक्ति है। आत्महत्या पर आमादा बेटी मरने के पहले अपनी माँ के शेष जीवन की सुख सुविधा और छोटी से छोटी ज़रूरतों को पूरी करने के इंतज़ामात करती हुई अपनी ज़िम्मेदारियों का चार्ज उत्साहपूर्वक अपनी माँ को सौंप रही है। यही पूरा नाटक है। क्रियाएँ, संवाद और अभिनय परस्पर एक दूसरे को शक्तिकृत करते बड़ी स्वाभाविक गति से आगे बढ़ते हुए दर्शकों में भावों और विचारों की दुनिया रच रहे थे।

अतुल कुमार द्वारा निर्देशित *द ब्लू मग* (2005) भी दर्शकों को अंतर्मुख कर अपने आत्म के पुनर्नुसंधान को उकसाने वाली प्रस्तुति थी। इसमें अभिनय, प्रकाश और क्रियाओं के अंडरटोन मेरे अंतर्मन को अपनी जद में लपेटे हुए थे।

साँवली मित्रा द्वारा निर्देशित *चांडाली* (2006) की प्रस्तुति को देखने की लिए मुझे ऐसी सीट मिल गई जो मेरे लिए सर्वोत्तम थी। जहाँ से मैं अभिनेता की बारीक से बारीक भावाभिव्यक्ति को देख सुन सकता था, बल्कि उसकी आँखों में सीधे झाँक भी सकता था, बेहद प्यारी प्रस्तुति थी। बंगाल का लोकजीवन, एक भोलीभाली अंत्यज लड़की की भावनाएँ और बौद्ध धर्म का करुण स्पर्श, बेहद जीवंत भावनामय मार्मिक अभिनय! मैं ख़ूब डूबा उतराया, बेसुध हुआ, लेकिन नाटक ख़त्म होने के बाद मुझे थोड़ी अतृप्ति सी लगी क्योंकि भावनाओं को संतुलित करने वाला बौद्धिक संस्पर्श मुझे नहीं मिला।

दिनेश ठाकुर द्वारा निर्देशित और प्रीता ठाकुर के साथ अभिनीत *हम दोनों* (2006) में मुझे पहली बार अपने ख़ास दर्शक वर्ग को समझने की कोशिश दिखाई पड़ी। मुंबई जैसे महानगर में अपनी आर्थिक सेहत को दुरुस्त रखते हुए नाटक करने की यह एक ज़रूरी शर्त है। मुझे तो लगता है कि हर शहर के नाट्य प्रस्तुतकर्ताओं को अपना ख़ास दर्शक वर्ग तैयार करना ज़रूरी है ताकि उसे हमेशा स्पॉन्सर का मुखापेक्षी न होना पड़े।

अलखनंदन द्वारा निर्देशित *चारपाई* देखकर मुझे प्रकृत यथार्थवादी ऐसे नाटकों की लंबी परंपरा के अभी तक जीवित रहने का अहसास हुआ जिसमें स्लम के जीवन का चित्रण बारीक ब्यौरों के साथ प्रस्तुत किया जाता है।

ग्लोबलाइजेशन, पैकेजिंग, मार्केटिंग और शेक्सपीयर : समकालीन जीवन को परिभाषित करने वाले कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण लाक्षणिक शब्दों को चुना जाए तो वैश्वीकरण, पैकेजिंग और मार्केटिंग सर्वोपरि होंगे। ये अब सिर्फ़ वस्तुओं और सेवाओं तक सीमित नहीं रह गए हैं बल्कि आध्यात्म, धर्म, शिक्षा, संस्कृति, साहित्य और कला जैसे क्षेत्रों में भी अपनी पूरी पैठ बना चुके हैं, जहाँ इन्हें बहुत निकृष्ट और वर्ज्य समझा जाता था। नाट्य प्रस्तुति के संदर्भ में इन अवधारणाओं को लागू कर सफलता पाने की अपनी समस्याएँ हैं। दुनिया के सभी श्रेष्ठ नाट्य अपनी भाषा संस्कृति से बहुत गहरे जुड़े हुए हैं, तब भी दूसरी भाषा संस्कृति में गहरी रुचि लेने

वाले लोग अक्सर विदेशी नाटकों को देखते चले आए हैं। जैसे भारत के *कथकलि* और *यक्षगान* दुनिया के कई देशों में कभी-कभी प्रस्तुत किए जाते रहे। इसी तरह जापान के *नोह* और *काबुकी* ने भारत की भी यात्रा की है। लेकिन ये सब ज़्यादातर सरकारी सांस्कृतिक आदान-प्रदान के तहत ही होता है जिसमें व्यापक दर्शक समुदाय को आकर्षित करने की आवश्यकता ही नहीं होती। लेकिन आज जब वैश्विक आवागमन और संचार की सुविधाएँ बेहद बढ़ गई हैं तो हर देश के नाट्यकर्मी और नाट्य व्यवसायी सारी दुनिया में पैर फैलाना चाहते हैं और इसके लिए यह आवश्यक है कि नाटक की पैकेजिंग इस तरह की जाए कि विश्व बाज़ार के ग्राहकों को कुछ ज़्यादा संतुष्टि दी जा सके। इस समस्या को हल करने के लिए सबसे आसान रास्ता शेक्सपीयर ने बताया। पिछले दो सौ सालों में शेक्सपीयर की पहुँच दुनिया की सभी महत्वपूर्ण भाषाओं और संस्कृतियों में हो गई और बढ़ती ही चली जा रही है।

अब यदि कोई *ओथेलो* की प्रस्तुति यक्षगान या कथकलि की शैली में करता है तो दुनिया के अनेक देशों में उसे ऐसे तमाम दर्शकों का संरक्षण प्राप्त हो जाएगा जो शेक्सपीयर से अपने परिचय के सहारे यक्षगान और कथकलि को समझना और जानना चाहते हैं। यही कारण है कि इस वर्ष नाट्योत्सव में शेक्सपीयर की छह नाट्यप्रस्तुतियाँ देखने को मिलीं। एक यक्षगान, एक कथकलि, एक जापान की नोह परंपरा में, एक कोरिया की प्रस्तुति, एक श्रीलंका की और एक हिंदी की। लेकिन इसमें जो कमाल जापान ने कर दिखाया उसका कोई मुक़ाबला नहीं। दूसरे नंबर पर दक्षिण कोरियाई प्रस्तुति रही और बाद में अन्य। जापान ने तो अपनी अत्यंत विशिष्ट नाट्य शैली नोह को विश्व बाज़ार में ले जाने के लिए उसका सार्विक सौंदर्यशास्त्रीय पुनर्संस्कार कर डाला और उसका आधार बनाया नाट्य की दृश्यमूलक कलाभाषा को, जिसके मुख्य प्रवर्तक गोर्डन क्रेग हैं।

सौंदर्यशास्त्र में प्रशिक्षित जापानी निर्देशक सतोशी मियागी ने *ओथेलो* की प्रस्तुति में तो क्रेग की मानवाकार पुतलियों का अपने ढंग से बेहद कल्पनाशील और सर्जनात्मक प्रयोग भी किया है। यह प्रस्तुति निश्चय ही विश्व बाज़ार के लिए सर्वोत्तम पैकेज का नमूना है।

विश्व बाज़ार के लिए शेक्सपीयर के इस्तेमाल के बिना ही चीन ने अपने अत्यंत प्रसिद्ध *पीकिंग ऑपेरा* को कलात्मक संस्कार के साथ छोटे-छोटे एपीसोडों के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया कि उसकी संप्रेषणीयता भाषा और संस्कृति की सीमाओं को पार कर सार्विक बन गई। मुझे तो भारतीय नाट्य परंपराओं के समानान्तर उसमें कई अवधारणाएँ दिखाई पड़ीं। ख़ास तौर से कैशिकी और आरभटी वृत्तियों का तो उसमें बहुत सटीक उदाहरण मिला। दरअसल अब मुझे लगने लगा है कि एशिया की समस्त नाट्य परंपराओं में एक आंतरिक समानता है जो उसे परस्पर बोधगम्य कलाभाषा प्रदान करती है।

कुँवरजी अग्रवाल : रंगकर्म और नाट्यचिंतन की दिशा में सक्रिय। साहित्य और अन्य कला माध्यमों में भी गहरी दिलचस्पी। बनारस में रहते हैं।

भारत और एशियाई रंगमंच

अजित राय

"यह एशियाई रंगमंच की वापसी का दौर है। पिछली कई शताब्दियों से विश्व रंगमंच का केंद्र यूरोप था। अब यूरोपीय रंगकर्मी एशिया की ओर देख रहे हैं। हमें नहीं भूलना चाहिए कि एशिया में रंगमंच की परंपरा भारत से ही गई है।" **—देवेंद्र राज अंकुर,** *निदेशक, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय*

आठवें भारत रंग महोत्सव के संवाददाता सम्मेलन (27-12-05) में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक देवेंद्र राज अंकुर का यह वक्तव्य इस समारोह पर केंद्रीय टिप्पणी मानी जा सकती है। बांग्लादेश, पाकिस्तान और नेपाल को छोड़ भी दें तो चीन, जापान, दक्षिण कोरिया, लेबनान, ईरान, श्रीलंका आदि एशियाई देशों की रंग प्रस्तुतियों में भी भारतीय रंग परंपरा साफ़ देखी जा सकती हैं। संस्कृत रंगमंच की युग की समाप्ति के लगभग एक हज़ार वर्ष बाद भारत में अंग्रेज़ों के आने और मुंबई, कोलकाता, मद्रास में विक्टोरियन थिएटर की नक़ल से शुरू हुई आधुनिक भारतीय रंगमंच की यात्रा अब पुनः अपने पारंपरिक स्रोतों से मिलती दिखाई दे रही है। पिछली एक सदी के तमाम प्रयोगों से गुज़रकर भारतीय रंगमंच का जो चेहरा उभरता है वह बड़े अर्थों में एशियाई रंगमंच का चेहरा है जिसमें कई फॉर्म, कई रंग, कई स्थापत्य, कई शैलियाँ कई कलाएँ घुल-मिल गई हैं। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा प्रतिवर्ष आयोजित भारत रंग महोत्सव की आठवीं कड़ी को (जिसे अब 'थिएटर उत्सव' नाम दिया गया है) एशियाई रंगमंच पर फोकस करने की दृष्टि से भी देखा जा सकता है।

भारत में अंग्रेज़ी रंगमंच का मूल चरित्र अभी भी पारंपरिक ही है हालाँकि कुछ सिरफिरे निदेशक बेतहाशा पैसा ख़र्च करके एक सतही ग्लैमर के नशे में अमेरिकी पापुलर मनोरंजन की भोंडी नक़ल को ही अंग्रेज़ी रंगमंच मान बैठे हैं। आज भी भारत में जो श्रेष्ठ अंग्रेज़ी रंगमंच हो रहा है, उसमें केवल संवाद या कमेंटरी अंग्रेजी की होती हैं, उसका 'फॉर्म' पारंपरिक होता है। इस महोत्सव में प्रख्यात मराठी कवि (स्व.) अरूण कोलटकर के जीवन एवं रचनाओं पर आधारित चैन्नई की *द हिंदू* की चर्चित पत्रकार गौरी रामनारायण निर्देशित नाटक *डार्क हॉर्स* इसका प्रमाण है। इसी वर्ष अरूण कोलटकर को मरणोपरांत साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्रदान किया गया है। यह प्रस्तुति महोत्सव की चुनिंदा उम्दा प्रस्तुतियों में से एक है। निदेशिका ने इस प्रस्तुति को 'अरूण कोलटकर की गलियों में टहलना' कहा है। हम जिस दूसरी प्रस्तुति का उदाहरण ले सकते हैं, वह है महात्मा गाँधी के जीवन और कर्म पर आधारित मुंबई की डॉ. लिलेट दुबे का नाटक *सैमी*। रायस्टन एबेल और बेरी जॉन जैसे निदेशक (*लड़की सीधी रहेगी* और *इट्स ऑल अबाउट सेक्स हनी*) शायद कभी यह नहीं समझ सकते कि अंग्रेज़ी जीवन मूल्य कभी इतने सतही नहीं रहे कि उसका रंगमंच सतही पापुलर मनोरंजन बनकर रह जाए। इनके पास बेशुमार पैसा है, निःसंदेह एक दर्शक वर्ग भी, पर, कम से कम इक्कीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों तक तो इस तरह का रंगमंच मुख्यधारा के अंग्रेज़ी रंगमंच का भी हिस्सा नहीं बन पाया है, भारतीय रंगमंच तो दूर की बात है।

अपनी शुरूआत (1999) के मात्र आठ साल बाद ही भारत रंग महोत्सव की भारत ही नहीं पूरी दुनिया में अपनी एक पहचान बन चुकी है। अब तक लगभग 584 नाटकों की प्रस्तुतियाँ हो चुकी हैं, जिनमें हर के साल दर्ज़न भर विदेशी नाटक भी हैं। इस वर्ष तो टिकट खिड़की

खुलने के तीन दिनों के भीतर ही आधे से अधिक नाटकों के नाम के आगे 'हाउस फुल' विज्ञापित हो जाना सुखद आश्चर्य पैदा करता है कि क्या रंगमंच में दर्शकों की बारिश हो रही है? यहाँ तक कि तीन दिनों (6-8 जनवरी, 06) तक 'थिएटर इन टर्माएल' विषय पर साहित्य अकादेमी सभागार में चले अंतरराष्ट्रीय सेमिनार में भी दर्शकों-रंगकर्मियों की बड़ी भागीदारी इस बात का संकेत है कि लोगों में संवाद की बेचैनी बढ़ी है। पाकिस्तानी रंगकर्मी मदीहा गौहर का आक्रोश कि अमेरिका को खुश करने के लिए 9/11 की घटना के बाद पाकिस्तान की संस्कृति थोड़ी उदार तो हुई है, पर, आज भी वहाँ *मंटो* को मंचित नहीं किया जा सकता—कई सवाल खड़े करता है। बांग्लादेश के मामुनूर राशिद कहते हैं कि वहाँ आज भी सेना देश को धार्मिक राष्ट्र बनाने पर तुली है। पाकिस्तानी शासन में 1966 में रवींद्रनाथ ठाकुर को प्रतिबंधित कर दिया गया था। कहीं भी छोटा बम विस्फोट होता है तो सबसे पहले थिएटर ही बंद कर दिया जाता है। वहाँ रंगकर्मी, लेखक, बुद्धिजीवी आज भी देश को एक आधुनिक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र बनाने की लड़ाई लड़ रहे हैं। "भयानक ग़रीबी, स्त्री शोषण, अशिक्षा, भ्रष्टाचार और अन्याय ने देश को वहाँ पहुँचा दिया है कि हमारे रंगमंच को राजनैतिक होना ही पड़ेगा।"

आठवें भारत रंग महोत्सव में वैसे तो कई दर्ज़न नाटक हुए जिनका अपना-अपना महत्व है, लेकिन उनमें से कुछ नाटक कुछ खास वजहों से मेरी रंग चेतना का हिस्सा बन गए हैं। इसे एक समीक्षक—जो कि उम्मीद है सहृदय दर्शक भी है—की सीमा माना जाना चाहिए। यह सब इसलिए लिख रहा हूँ क्योंकि जिन नाटकों का ज़िक्र करने जा रहा हूँ, उन्हें श्रेष्ठतम या श्रेष्ठ की बजाय मेरी पसंद माना जाए। यह संभव भी नहीं है कि किसी भी समारोह में मंचित दर्ज़नों नाटकों में से कुछ को चुन लिया जाए और उन्हें श्रेष्ठ घोषित किया जाए, और वह चुनाव सर्वमान्य हो। बहरहाल।

सुप्रसिद्ध मराठी कवि स्वर्गीय अरूण कोलटकर के जीवन और उससे अधिक उनकी चुनी हुई ग्यारह कविताओं और एक साक्षात्कार के आधार पर चेन्नई की पत्रकार गौरी रामनारायण *(द हिंदू)* की प्रस्तुति *डार्क हॉर्स* भारतीय रंगमंच में एक अलग तरह का प्रयोग है। कविताओं के प्रचलित मंचन फार्मूलों से अलग जिनमें उनका अभिनय, पाठ और बेमतलब शारीरिक गतियों का रिवाज रूढ़ हो चला है, गौरी रामनारायण ने उनकी ग्यारह कविताओं को एक जगह इकट्ठा कर प्रस्तुति में घुला-मिला दिया है। पूरी प्रस्तुति के दौरान मंच के एक हिस्से में एक महिला कर्नाटक संगीत की धीमी लय पर इस तरह गाती रहती है कि वह प्रस्तुति का पार्श्व संगीत बन जाता है। यही पार्श्व संगीत एक मराठी कवि की दुनिया का पर्यावरण रचता है जिसमें उसके आसपास की सारी गंध एकाकार होती है। प्रस्तुति में 'टाइम सेंस' ग़ज़ब का है जो संवाद और पात्रों की गति से लेकर प्रकाश परिकल्पना तक को सुगठित बनाता है और रोचकता बरकरार रहती है। नाटक में कुल पाँच पात्र हैं—कवि अरूण कोलटकर, एक महिला पत्रकार और मंच पर कविताओं को तरह-तरह के अंदाज़ में पेश करते तीन कलाकार। एक कवि की उपस्थिति को मंच पर उसके भीतरी संसार की प्रतिच्छायाओं और ऊपरी व्यवहार के चुटीले अंदाज़ के साथ प्रस्तुत करना चुनौती भरा काम है। प्रस्तुति की सफलता इससे बड़ी और क्या होगी कि हममें से जिन लोगों ने अरूण कोलटकर को नहीं देखा है, वे नाटक देखते हुए उनकी गलियों में उनके साथ टहलने का अनुभव करते हैं। धृतिमान चैटर्जी (कवि) और अमृता शेट्टी (महिला पत्रकार) ने अपनी-अपनी भूमिकाओं में अभिनय का उम्दा प्रदर्शन किया है। नाटक की शुरूआत संत तुकाराम के एक मराठी पद के गायन और कोलटकर की कविता से होती

है। उसके बाद मुंबई के काला घोड़ा इलाके में कोलटकर के एक प्रिय रेस्त्राँ में उनकी और एक महिला पत्रकार की मुलाक़ात होती है। यह एक काल्पनिक मुलाक़ात प्रसंग रचा गया है जिसका आधार बारह साल पहले निर्देशिका से हुई उनकी भेंट है। सांसारिक दुनिया से बाहर किंतु अपनी दुनिया के भीतर कवि के साथ घूमना एक रंग-अनुभव में बदलता है।

इधर रंगमंच में ऑडियो-विजुअल उपकरणों के प्रयोग को लेकर लगातार बहसें हुई हैं। कई नाटककारों ने इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों ख़ासतौर पर वीडियो स्क्रीन का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया है। गिरीश कारनाड के नए नाटक *बिखरे बिम्ब* में न सिर्फ़ टेलीविज़न स्टूडियो बल्कि सचमुच की रिकार्डिंग और प्रसारण को दिखाया गया है। पूरे नाटक में केवल एक पात्र अपना क़िस्सा बयान करता है। वरिष्ठ रंगकर्मी अरुंधती नाग का एकालाप वीडियो क्लिपिंग के असरदार प्रयोग के कारण प्रस्तुति को आकर्षक बनाता है। कहानी इतनी सी है कि एक कन्नड़ प्राध्यापिका को अचानक इंग्लैंड के बड़े प्रकाशक से उसकी पांडुलिपि की स्वीकृति के साथ अग्रिम रायल्टी का भारी चेक मिलता है। इस अंग्रेज़ी उपन्यास की बदौलत वह रातों-रात स्टार लेखिका बन जाती है। इस अवसर पर वह दूरदर्शन स्टूडियो में अपना वक्तव्य रिकार्ड करवाने जाती है। जैसे ही वह रिकार्डिंग पूरी कर कुर्सी से उठकर स्टूडियो से बाहर जाने लगती है उसकी अंतरात्मा या दूसरा 'सेल्फ' या प्रतिरूप टेलीविज़न के पर्दे पर अचानक जीवंत होकर कुछ मुश्किल सवाल करता है। तब धीरे-धीरे अभिनेत्री यानी लेखिका और टीवी स्क्रीन पर उसकी रिकार्डेड छवि के बीच संवाद के माध्यम से कहानी और नाटक आगे बढ़ता है। एक स्त्री के भीतर का अनुभव संसार जैसे-जैसे परत-दर-परत खुलता है, नाटक का हास्य करुणा में बदलने लगता है। लेकिन यथार्थवादी ढाँचे के बावजूद नाटक यथार्थवादी नहीं है।

मुंबई के वरिष्ठ रंगकर्मी दिनेश ठाकुर लिखते हैं—"मैं निर्देशकीय वक्तव्य में विश्वास नहीं करता और यह किसलिए होना चाहिए? प्रस्तुति के दौरान दर्शक तो होते हैं, उन्हें आनंद उठाने दीजिए। वे सभी बड़े बुद्धिमान होते हैं।" प्रदर्शनकारी कलाओं के बारे में यह एक पेशेवर निर्देशक की ऐसी टिप्पणी है, जिसे आसानी से पचा पाना मुश्किल है। यह भारंगम में मंचित उनके बेहद लोकप्रिय और सफल नाटक *हम दोनों* के ब्रोश्योर में छपी है। प्रख्यात रूसी लेखक अलेक्साई अर्बुजोव की रचना *ओल्ड वर्ल्ड* पर आधारित और निदेशक द्वारा तैयार आलेख *हम दोनों* के जैसे-जैसे प्रदर्शन बढ़ रहे हैं, प्रस्तुति की गुणवत्ता भी बढ़ रही है। मुंबई, दिल्ली जैसे कास्मोपोलिटन दर्शकों से लेकर इंदौर जैसे छोटे शहरों में भी इसे बेशुमार सराहना मिली है। किसी अज्ञात भूगोल में स्थित टीबी सेनेटोरियम के चीफ़ मेडिकल आफ़िसर जो सिक्ख हैं और वहाँ इलाज करवाने आई गुजराती महिला के बीच नोक-झोंक, तकरार, दोस्ती, स्नेह और प्यार के बाद बुढ़ापे में साथ-साथ रहने के फैसले तक पूरे नाटक के दौरान भावनाओं के ज़बरदस्त प्रक्षेपण से दर्शक सीधे जुड़ जाता है। लेकिन यह नाटक अपनी संरचना में चाहे जितना दिलचस्प और मनोरंजक हो, अपनी प्रस्तुति में गंभीर विमर्श में भी जाता है। ऐसा लगता है कि यह नाटक जैसे दिनेश ठाकुर और उनकी पत्नी प्रीता माथुर के लिए ही लिखा गया हो। दोनों कलाकारों की इन दो भूमिकाओं में एकाकार हो जाना कम ही संभव होता है। पार्श्व-संगीत, प्रकाश और सेट डिजाइन कथ्य को प्रभावशाली बनाते हैं। अकेले और बुढ़ापे की ओर बढ़ते दो स्त्री-पुरुष के बीच होने वाला साझा नाटक की ताक़त है।

हिंदी नाटककार रामेश्वर प्रेम कई निर्देशकों के पसंदीदा लेखक हैं जिनमें राम गोपाल बजाज और अलखनंदन प्रमुख हैं। बजाज को कई दशक पहले उनका लिखा *अजातघर*

मंचित किया था जिसमें नसीरुद्दीन शाह ने मुख्य भूमिका निभाई थी। चौथे भारत रंग महोत्सव में अलखनंदन ने रामेश्वर प्रेम का *सुप्रीमो* नाटक किया जो बेहतर प्रस्तुति के बावजूद अपनी अति अमूर्तता के कारण चल नहीं पाया। इस बार अलखनंदन ने उनके नए आलेख 'चारपाई' को मंचित किया है। एब्सर्ड शैली जैसी संवाद योजना और मंच परिकल्पना के बावजूद यह प्रस्तुति अपने प्रभाव और महत्व में नोटिस करने लायक है। एक छोटे से जर्जर घर में निम्न मध्यवर्गीय परिवार के सदस्यों की सोने और नींद के बीच उत्पन्न कई विडंबनायुक्त स्थितियों के माध्यम से आज़ादी के इतने वर्ष बाद के भारत का एक चेहरा दिखाया गया है। पति-पत्नी, बूढ़ी माँ, पिता और तीन बच्चों के बीच रात को होने वाले सामान्य संवाद भी सिहरन पैदा करता है। यह पूरा नाटक अपनी प्रस्तुति की सघनता और गुणवत्ता के कारण भी महत्वपूर्ण है जो हमें बाँध ही नहीं लेता सोचने पर भी विवश करता है। संवादों के कई अर्थ और ध्वनियाँ उभरती हैं। प्रस्तुति की इस सघनता के कौशल के कारण ही मौन या चुप्पियों का बेहतर इस्तेमाल हो सका है।

आमतौर पर सामाजिक कुरीतियों के ख़िलाफ़ और राजनैतिक विचारधारा के प्रचार-प्रसार से जुडे रंगकर्मियों के नाटकों में कई तरह की कमियाँ रहना लाजिमी है। लेकिन सुधन्वा देशपांडे का नया नाटक *शम्बूक वध* (आलेख—बृजेश, जननाट्य मंच, दिल्ली) को इसलिए विचारणीय माना जाना चाहिए कि उन्होंने मंचीय और नुक्कड़ शैली में बिना किसी पूर्वाग्रह के रामराज्य में शम्बूक बध की घटना का आधुनिक संदर्भ खोजा है। आलेख पर पर्याप्त काम किया गया है और मिथकीय कथा को वास्तविक बनाने की कोशिश की गई है। पूरे नाटक के दौरान राम या रामकथा के मुख्य पात्र मंच पर नहीं आते। दूसरे पात्रों द्वारा उनका विवरण सुनाया जाता है। ब्राह्मणवादी व्यवस्था में दलित समुदाय द्वारा शिक्षा, समानता और न्याय की लड़ाई जो मूलतः अहिंसक थी—नाटक के केंद्र में है। इसमें विचार राजनैतिक नारेबाज़ी में नहीं बदलता बल्कि साधारण पात्रों के जीवन प्रसंगों के साथ जुड़कर कथा-सूत्र को आगे बढ़ाने का माध्यम बनता है। वर्ण व्यवस्था और वर्चस्व की परंपरा को चुनौती देने के लिए चमत्कार की जगह सामान्य जनता के बीच से विद्रोह की चेतना को आलेख का मूल आधार बनाया गया है। बीच-बीच में गानों और कोरस का प्रयोग और लोकधुनों पर नृत्य निर्मितियाँ पश्चिमी एलिएनेशन युक्तियों की याद दिलाते हैं। इस प्रस्तुति में कई शैलियों का प्रयोग किया गया है। ख़ास बात यह कि कहीं भी राजनैतिक-कथ्य और कलात्मक शिल्प का संतुलन नहीं बिगड़ता।

मराठी के चर्चित निर्देशक वामन केंद्रे को जिस नाटक के चलते देशभर में ख्याति मिली और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, रंगमंडल की बहुप्रसंशित प्रस्तुति *जानेमन* उसी की अगली कड़ी थी, उस नाटक *जुलवा* को फिर से तैयार किया गया है। इस भारंगम की वह एक महत्वपूर्ण प्रस्तुति थी। कर्नाटक, महाराष्ट्र की सीमा पर एक ख़ास इलाक़े में येलम्मा देवी के मंदिर में आज भी प्रति वर्ष सैंकड़ों लड़कियों को देवदासी बनाकर वेश्यावृत्ति के जाल में फेंक दिया जाता है। नाटक में एक स्त्री के देवदासी बनने और मुक्ति के लिए उसके संघर्ष को पारंपरिक मराठी शैली में प्रस्तुत किया गया है। एक यथार्थवादी मराठी उपन्यास को गैर यथार्थवादी शैली में पेश करना सचमुच एक चुनौती है। दर्ज़नों पात्रों, कोरस, संगीतकारों, गायकों और नृत्य भंगिमाओं से सजी यह एक भव्य प्रस्तुति है। निदेशक ने इक्कीसवीं सदी की सामाजिक स्थितियों के अनुसार इस प्रोडक्शन में आलेख को थोड़ा 'अपडेट' किया है। वामन की ख़ासियत है कि वह अच्छी तरह से जानते हैं कि किस दृश्य को कहाँ 'सील' करना है। यह नाटक हमारे समय में एक आधुनिक कथ्य को पारंपरिक शैली में कहने का जोखिम उठाता है। मराठी की महत्वपूर्ण

प्रस्तुतियों में से एक होने के बावजूद हो सकता है कि हिंदी दर्शकों के लिए नाटक के कुछ अंश उबाऊ और अटपटे लगें। लेकिन अपने कथ्य की ताक़त और प्रस्तुति के प्रभाव के कारण *जुलवा* महोत्सव का एक महत्वपूर्ण नाटक बना।

आठवें भारत रंग महोत्सव में कुल मिलाकर नाटकों का चयन ठीक-ठाक ही था लेकिन कुछ नाटक अपने प्रभाव में अद्वितीय थे। कुछ नामीगिरामी निर्देशकों के नाटकों ने निराश किया हालाँकि उनकी स्टार छवि के कारण दर्शकों की भारी भीड़ होती है। हबीब तनवीर *(विसर्जन)*, एम.के. रैना *(बहादुर माँ)*, नसीरूद्दीन शाह *(कथा कोलाज-2)*, बैरी जॉन *(इट्स आल अबाउट सेक्स हनी)*, राएस्टन एबेल *(लड़की सीधी रहेगी)*, उषा गांगुली *(सरहद पार मंटो)*, नादिरा ज़हीर बब्बर *(आपरेशन क्लाउडबर्स्ट)*, मोहन महर्षि *(ऑथेलो)*, अरविंद गौड़ *(यम गाथा)*, विभा मिश्र *(गबन)* निदेशकों की प्रतिभा का रंग जगत कायल है। और उनसे वह हमेशा कुछ बड़ी उम्मीदें लगाता है। पर, वे उम्मीदें किस हद तक पूरी हुईं या नहीं हुई? जैसी बहसें दर्शकों के बीच होती रहीं। कोलकाता की उषा गांगुली की संस्था 'रंगकर्मी' और भोपाल के 'नया थिएटर' के छत्तीसगढ़ी कलाकारों को एक साथ मिलाकर एक कार्यशाला में तैयार किया गया रवींद्रनाथ ठाकुर का नाटक *विसर्जन* हबीब तनवीर के संदर्भ में निराशाजनक रहा। उसी प्रकार बर्टोल्ट ब्रेष्ट के *मदर करेज* पर एम.के. रैना की *बहादुर माँ* कम पूर्वाभ्यास और लंबी अवधि के कारण वह नहीं कह-कर पायी जिसकी अपेक्षा थी। नसीरूद्दीन शाह ने हरिशंकर परसाई की व्यंग्य रचनाओं को मिलाकर जिस *कथा-कोलाज-2* को तैयार किया है वह मनोरंजन तो खूब करता है, पर विशिष्ट रंग अनुभव को कुछ ओझल कर देता है। मोहन महर्षि का *आथेलो* श्रीवर्धन त्रिवेदी और महेंद्र मेवाती जैसे वरिष्ठ अभिनेताओं के बावजूद बहुतों के लिए यादगार प्रस्तुति भले न बनी हो, पर, वह एक रंग अनुभव संचरित करती थी।

दूसरी ओर रतन थियम *(नाइन हिल्स वन वैली)*, साओली मित्र *(चंडाली)*, गौरी रामनारायण *(डार्क होर्स)*, बांग्लादेश के कमालुद्दीन नीलू *(सोनाइबीबीर पाला)*, नीलम मान सिंह चौधरी *(नागमंडल)*, गिरीश कर्नाड *(बिखरे बिम्ब)*, सी.आर. जाम्बे *(अप्सरे)*, वामन केंद्रे *(जुलवा)*, अलखनंदन *(चारपाई)*, दिनेश ठाकुर *(हम दोनों)*, के.एन. पणिक्कर *(माया)*, सुधन्वा देशपांडे *(शम्बुकवध)* आदि निदेशकों की प्रस्तुतियाँ कई दृष्टियों से महोत्सव की उपलब्धि कही जा सकती हैं। इस उल्लेख को समीक्षक की निजी राय मानना उचित होगा न कि कोई मानकीकरण। हर महोत्सव, संगोष्ठी, आयोजन की कुछ-न-कुछ कमियाँ होती हैं, जो लाख कोशिश के बावजूद हमेशा बनी रहेंगी। सवाल यह है कि किसी महोत्सव से हम क्या अपेक्षा रखते हैं। यदि एक महोत्सव देशभर के कलाकारों में उत्साह जगाता है, एक साथ, एक मंच पर इस कलाविधा के कई बहुआयामी पक्षों को पेश करने का मंच प्रदान करता है और दर्शकों को एक साथ भारत और दूसरे एशियाई देशों की चुनिंदा प्रस्तुतियों के आस्वाद का अवसर उपलब्ध कराता है, तो इतना भी कम नहीं माना जाना चाहिए। हम नाटक देखने के बाद ठीक वहीं नहीं होते जो नाटक देखने के पहले होते हैं। इसी बात को आगे बढ़ाएँ, तो भारत रंग महोत्सव से पहले और बाद का फ़र्क रेखांकित किया जा सकता है। रंगमंच कला की इन दर्ज़नों प्रस्तुतियों को देखना आस्वाद के अनुभव के साथ-साथ बेहतर मनुष्य होने की दिशा में एक सांस्कृतिक कार्रवाई है।

अजित राय : युवा पत्रकार और रंगसमीक्षक। साहित्य और कलाओं के बहुतेरे वृत्तांत पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। दिल्ली में रहते हैं।

नाचा से नाटक तक

उदयराम से संगीता गुन्देचा की बातचीत

[उदयराम नया थिएटर के वरिष्ठ अभिनेता हैं। उन्होंने हबीब तनवीर निर्देशित लगभग सभी नाटकों में अनेक भूमिकाएँ निभाई हैं। वे ***चरनदास चोर*** *में मंत्री,* ***आगरा बाज़ार*** *में पन्सारी,* ***मुद्राराक्षस*** *में राक्षस,* ***मिट्टी की गाड़ी*** *में मैत्रेय बनते रहे हैं। इसके अलावा उन्होंने मोलियर के नाटक* ***बुर्जुआ जेंटिलमेन*** *के छत्तीसगढ़ी संस्करण लाला शोहरतराय भट्टनारायण के वेणीसंहार, शेक्सपीयर के* ***मिडसमर नाईट ड्रीम*** *(कामदेव का अपना वसंत ऋतु का सपना), ब्रेष्ट के* ***गुड वुमेन ऑफ शेज़वान*** *(शाजापुर की शांताबाई), हिरमा की* ***अमर कहानी*** *जैसे अनेक नाटकों में मदनलाल, ठाकुरराम, फीताबाई, गोविन्दराम, बुलवाराम, रामचरण, मालाबाई के साथ अनेक भूमिकाएँ की हैं। भोपाल में उदयराम का जीवन एक रिहर्सल से दूसरी के बीच फैला हुआ है। मैं उनसे रिहर्सलों और प्रदर्शनों के दौरान कई बार मिली हूँ। वे मितभाषी हैं। उन्हें इस बातचीत के लिए राज़ी करना उनके सहज स्वभाव के कारण मुश्किल भले न रहा हो, पर एक ख़ास समय और एक ख़ास स्थान पर बुला पाना ज़रा कठिन रहा। इसका कारण उनकी व्यस्तता और उनकी कलाकार वृत्ति दोनों थी। आख़िरकार दिनांक 8 सितम्बर, 2004 को हम शहर के भीड़ भरे इलाक़े के अपेक्षाकृत शांत रेस्त्राँ में बातचीत के लिए मिल सके। यह बातचीत जैसे-जैसे छत्तीसगढ़ के गाँवों, क़स्बों, लोगों, रस्मों आदि में प्रवेश करती गई, हमारे चारों ओर का शहरी संसार मानो हमारी आँखों के सामने से ओझल होता चला गया। उदयराम के शालीन शब्दों के इंगित पर हम एक अनोखी दुनिया में प्रवेश करते जा रहे थे। इस बातचीत में यह आसानी से लक्ष्य किया जा सकता है कि भारत के ग्रामीण अंचलों में रंगप्रशिक्षण की अनेक विधियाँ कितनी सहज और परिष्कृत रही हैं। यहाँ रंगप्रशिक्षण के लिए कोई अलग से प्रशिक्षण केन्द्र भले न हों, यहाँ की जीवन शैली में इस प्रशिक्षण की संभावना घुली-मिली है। जिस तरह* ***नाचा*** *में तमाम अभिनेता प्रदर्शन की अवधि में ही अपने विवेक से अनेक रोचक उपज (उपज्ञ) किया करते हैं, वैसे ही भारत के लोकजीवन में लोकनाट्य की संभावना की उपज देखी जा सकती है। इसलिए यह बातचीत जितनी एक लोक अभिनेता के शहरी रंगमंच पर आने की कथा को कहती है, उतनी ही यह हमारे लोकजीवन की जीवन्तता को भी रेखांकित करती है।*—**संगीता गुन्देचा]**

आप नया थिएटर में कब आए हैं?

नया थिएटर में मैं सन् 1975 में आया।

उसके पहले?

उसके पहले मैं गाँव में नाचा करता था।

आपका जन्म कब का है?

1-8-1948 का।

आपका गाँव कौन-सा है?

सेन डूगरी। राजनाँदगाँव से बाईस किलोमीटर दूर धमतरी रोड पर सेन डूँगरी है, वहाँ का रहने वाला हूँ मैं।

माता-पिता?

माता-पिता अब दोनों चले गए हैं। माता अभी दो साल पहले गई हैं। एक सौ पाँच वर्ष उमर में। इतनी उमर में भी हमको कभी मौक़ा नहीं लगा कि एक गिलास पानी उनको कभी भरकर पिलाए हों। न कभी उनके हाथ-पैर, बदन में तेल लगाया, न कपड़े साफ़ किए, कभी मौक़ा नहीं दिया, सारा काम खुद करती थीं।

कितने भाई-बहन हैं आप लोग?

हम लोग दो भाई हैं। मैं छोटा हूँ, मुझसे एक बड़ा भाई है।

घर में माँ-पिताजी खेती करते थे?

नहीं। मैं जात का नाई हूँ। हमारे गाँव में रिवाज है कि मालिक लोगों को इकट्ठा करके दाढ़ी बनाते हैं, उससे हमको अनाज मिलता है। ये काम हमारे पूर्वज लोग करते थे। हमारे बाप लोग भी दो भाई थे। मेरा बाप नाथगाँव में रहता था। चाचा रहते थे सुरगी में। पिताजी को दो लड़के हुए। चाचा को कोई लड़का नहीं, चाचा ने मुझे गोद ले लिया। पिताजी को वो बोले कि एक तो तुम्हारे पास है, एक मुझे दे दो। मेरे पास भी एक रह जाए तो मैं सुरगी में आ गया। सुरगी में वैसे मैं कम रहता था, एक नाम हो गया कि सुरगी में रहता है। बाक़ी माँ के पास ही ज़्यादा रहता था।

चाची के पास नहीं?

चाची से उतना मेरा लगाव नहीं था। चाचा से मेरा लगाव बचपन से था। कोई चीज़ की माँग करनी हो, कुछ भी बात हो तो चाचा से ही कहता था, पिता से कुछ कहता ही नहीं था।

आप बता रहे थे मालिकों को इकट्ठा करके दाढ़ी बनाते थे?

दाढ़ी बनाने का काम चाचा भी करते थे, पिता भी करते थे और उसके बदले में अनाज मिलता था। गाँव में यह परम्परा अभी भी है। मेरा बड़ा भाई यही काम करता है। मैं भी पाँचवीं तक पढ़ाई करके सन् 1960 में स्कूल से निकला और दो साल यही काम किया। दो साल काम करने के बाद मुझे लगा गाँव में इतने तक ही सीमित हो जाऊँगा, यह ठीक नहीं है।

ऐसा क्यों लगा आपको?

गाँव में ये है कि 'अरे, जरा सुन रे इधर आ, चल पाँव दबा रे।' मुझे लगा ये अच्छी आदत नहीं है। गड़बड़ तरीक़ा है। पैर दबा रहे हैं तो दबाते जा रहे हैं। तो क्या करना चाहिए? मैंने सोचा शहर में जाकर काम सीखना चाहिए। मैं अच्छा कारीगर बनना चाहता था।

इस बीच आपको कोई मिला था, जिसको देखकर आपको लगा कि मुझे यह नहीं करना है?

नहीं। अचानक ऐसा क्यों लगा, मुझे खुद नहीं मालूम। दो साल काम करने के बाद लगा कि अपनी कारीगरी को बढ़ाऊँ, और सीखूँ मैं अपने धन्धे को। तो मैंने नाथगाँव के एक आदमी से पूछा, जो हेमू नाम का है। नाथगाँव में अच्छा मास्टर माना जाता है, उनसे पूछा कि राजनांदगाँव में कौन-सा अच्छा कारीगर है, जो मुझे सिखा सके और उनके सिखाने के बाद मैं निकलूँ तो मुझसे बड़ा कारीगर नाथगाँव में कोई न हो। वो बोले यार, इतना बड़ा काम सीखने में तो आठ-दस साल लगेंगे। मेरी उमर तेरह-चौदह साल की थी। मैंने कहा मैं कर लूँगा। तो वो बोले कि एक शिव जी भाई हैं अगर वो सिखाना चाहें तो। शिवराज जी बँटवारे के बाद कराची से यहाँ आकर राजनांदगाँव में बस गए थे। उनका बाक़ी परिवार जामनगर, गुजरात में था। मैं शिव जी के पास गया और उनको बताया कि मैं सीखना चाहता हूँ तो उन्होंने पूछा, 'यहीं रहोगे?' मैंने कहा, 'यहीं रहूँगा।' 'घर से कोई तकलीफ़ तो नहीं होगी?' मैंने कहा, 'नहीं होगी।' 'बुलावा तो नहीं होगा?' 'नहीं होगा।' अपने आप निर्णय कर लिया। 1965 से मैं दस साल तक वहीं रहा।

घर पर आप कहकर आए थे?

नहीं। निकला तो किसी को कुछ नहीं बताया। एक सप्ताह काम कर लिया उसके बाद मंगलवार को घर गया। मंगलवार को दुकानें बंद रहती हैं। भाई को किसी को कोई परेशानी नहीं थी। पिताजी 1962 में खतम हो गए थे। माताजी को परेशानी थी कि कहाँ गया लड़का? दिन-रात रोती थीं। कहाँ गया पता नहीं? मैंने जाकर बताया कि घबराने की और रोने-धोने की कोई बात नहीं, मैं नाथगाँव में काम सीख रहा हूँ।

कैसे शुरू किया काम सीखना, शिव जी भाई ने क्या बताया?

वे बोले कि पहले तुम ब्रश धोओ। जगह साफ़ करो। कटोरी साफ़ करो। यही काम सीखो पहले। उसके बाद साबुन लगाओ दाढ़ी बनाने के लिए। फिर साबुन लगाता रहा। दो घंटे साबुन लगाता।



मुद्राराक्षस में राक्षस की भूमिका में उदय राम

रहते कहाँ थे?

दुकान के अन्दर ही सोता था रात में। फिर धीरे-धीरे शिव जी भाई बोले, 'दाढ़ी बनाना जानते हो?' मैंने कहा 'हाँ'। तो बोले, 'दाढ़ी बनाओ।' एक बार पापा सेठ आ गया। उस ज़माने में गंज में जो मंडी थी, उस मंडी में टोकन चलता था, टोकन में पापा सेठ का सिक्का चलता था। इतने मशहूर दलाल थे वो कि उनके नाम का सिक्का चलता था। एक रोज़ शिव जी बोले कि इनकी दाढ़ी बनाओ। मुझे मालूम था कि इनकी दाढ़ी शिव जी भाई बनाते हैं, दूसरा कोई नहीं बनाता था। छः-सात कुर्सियाँ थीं, उनमें किसी से नहीं बनवाते थे वो अपनी दाढ़ी। सिर्फ़ शिव जी भाई बनाते थे, उनकी दाढ़ी। उस दिन मुझसे बोले, 'दाढ़ी बनाओ।' मैं परेशान हो गया कि बड़े-बड़े और कारीगर बैठे हैं, उनको नहीं बोला, मुझे क्यों बोल रहे हैं कि दाढ़ी बनाओ। मैं गया साबुन तो लगा लिया। रेज़र पकड़ा तो हाथ काँपने लगा। देख लिया शीशे में पापा सेठ ने, तो बोले, 'बेटा! घबराने की बात नहीं है, मैं भी इनसान हूँ, डरो मत, बनाओ।' बनाई उनकी दाढ़ी। दाढ़ी से साबुन वग़ैरह साफ़ करके क्रीम लगाया तो शिव जी भाई बोले, 'आज से मेरा काम उदय करेगा।'

क्या उम्र थी आपकी तब?

16-17 साल की।

और पापा सेठ क्या बोले?

वो बोले, 'आज से मेरी दाढ़ी यही बनाएगा।' शिव जी भाई भी बोले, 'दाढ़ी तुम्हारी यही बनाएगा?' शिव जी भाई बोले, 'मैं इसको गल्ले की चाबी दे देता हूँ।' छः और कारीगर थे, पैसा

एक ही गल्ले में आता था। हर कारीगर को टोकन दिया जाता था। किसी को दाढ़ी-कटिंग बनवाना है तो वो पैसा देगा, मैं गल्ले में ले जाकर जमा करूँगा। गल्ले वाला टोकन निकालकर देगा, कटिंग का अलग, दाढ़ी का अलग। शाम को हिसाब होता था। तो शिव जी भाई बोले कि 'ये चाबी इसको देता हूँ।' पापा सेठ बोले, 'हाँ दे दो, बिलकुल दे दो।' तो उन्होंने चाबी मुझे दे दी। ये सन् 1965 की बात है। उसके बाद एक रोज़ फिर आए पापा सेठ और कहा, 'आप कटिंग बनाओ मेरा।' उनका बिलकुल पहलवान कट बनता था। कंघी वग़ैरह की कोई बात ही नहीं। यहाँ से वहाँ तक एकदम चला दो कैंची। वो मशीन से नहीं कैंची से कटवाते थे बाल। हर कारीगर कटिंग तो कर लेता है, पर ये कटिंग करना बड़ा मुश्किल होता है।

क्यों?

क्योंकि खड़े-खड़े स्वर जैसे थे पापा सेठ के बाल। ऐसे बाल में कटिंग करने के बाद पाउडर लगाओ तो दिख जाता है कि कहाँ गड़बड़ है। खुला छोड़ दो तो कुछ नहीं दिखता लेकिन पाउडर मारो तो दिख जाता है कि कौन-से बाल गड्ढे में कट चुके हैं, कौन-से बाल सही लेवल में हैं। पापा सेठ का कहना ये था कि मिस्त्री जैसे सीमेण्ट की दीवार छाबता है, बिलकुल वैसी ही कटिंग होनी चाहिए। तो आ गए एक दिन कि कटिंग बनाओ। बनाया कटिंग। डेढ़ घंटे में कटिंग तैयार हुआ उनका। देखा, आगे-पीछे शीशा लगा के पापा सेठ ने और बोले, 'शिव जी भाई, आज से कटिंग भी यही बनाएगा मेरा।' उसके बाद रायपुर में नीलम होटल के नीचे 'पेराडाईस' नाम का एक मशहूर सैलून था। उसका मैनेज़र बना दिया शिव जी भाई ने मुझे।

ये दुकान भी उन्हीं की थी क्या?

हाँ। रायपुर में नीलम होटल में 'पेराडाईस सेलून' पावारी चौक में 'भारत ड्रेसिंग हेयर हॉल' भिलाई में 'बी.एस.पी. सैलून' और 'अकादेमी सैलून' ये सभी दुकानें शिव जी भाई की ही थीं। मैं काम बहुत कम करता था। मंगलवार को यह काम था मेरा कि सुबह चार बजे से जीप में बैठता, सब जगह की दुकानों से पैसा वसूल करके वापस आता। रायपुर, भिलाई से घूमकर वापस राजनांदगाँव आता। घर आना-जाना सब बंद हो गया। इस तरह सैलून में काम करता रहा। फिर सन् 1970 में मैं नाच देखने गया एक रोज़।

कहाँ?

लखौली में। हमारे यहाँ दो-तीन नाच पार्टी बड़ी मशहूर थीं। रवेली, जिसमें गोविन्द, मदनलाल, ठाकुरराम ये सब लोग थे, एक नम्बर की पार्टी यही थी, उस ज़माने में। दूसरी इनके टक्कर की पार्टी थी लखौली, जिसको छोटी रवेली पार्टी कहते थे। मन्दराजी दाऊ का लड़का उसमें हारमोनियम बजाता था। मन्दराजी दाऊ रवेली में बजाते थे। मन्दराजी का लड़का बग्गू खैरागढ़ संगीत विश्वविद्यालय से सीखकर निकला हुआ आदमी था। दोनों टक्कर की पार्टी थी। तो एक दिन मैं रात ग्यारह बजे दुकान बंद करने के बाद नाच देखने चला गया। अब लखौली का जो मुख्य जोकर कलाकार था, जैसे रवेली पार्टी का मुख्य जोकर कलाकार था मदनलाल, वैसे लखौली में रविलाल था। उसका नाच के लिए आते हुए एक्सीडेन्ट हो गया। एक पांगी नाम का लखौली का रिक्शावाला था, उसके रिक्शा में बैठकर मैं देख रहा था नाच। ये लोग घबरा गए थे कि मुख्य कलाकार तो है ही नहीं, नाच कैसे होगा। खुमान साहू छत्तीसगढ़ का अभी हारमोनियम का मशहूर आदमी है, वो टॉर्च लेकर चारों तरफ़ ढूँढ़ते-ढूँढ़ते

मेरे पास आया। अचानक उसका टॉर्च मेरे ऊपर पड़ा, 'उतर रे, नीचे उतर, इधर आ।' मैंने कहा, 'का है गुरूजी।' वो बोले, "चल-चल उतर, मोर साथ चल।' और ले गए मोला जहाँ मेकअप रूम था वहाँ। 'ऐ भोरी, का ड्रेस पहनते हैं, मोर बता और ड्रेस दे। मैं हारमोनियम बजाऊँगा। भग्गू निकालो हारमोनियम, मैं बैठता हूँ हारमोनियम पर। इसको समझकर तुम भी निकलो। नक़ल का टाईम हो गया। दो डाँसर नाच चुके हैं, जल्दी करो।" मैं समझ ही नहीं पाया, क्या कह रहा है, ये आदमी? ये कहकर वो निकल गए। अरे! मैं परेशान, अब कैसे करूँ। हालाँकि इससे पहले मैं नाच चुका था, गाँव में। मेरा गुरु जिसको शुरुआत का गुरु कहा जाय वो है, रामसिंग साहू, जो भजन, महाभारत गाता है। अच्छा महाभारत गायक है, बहुत ही बेहतरीन गायक है। अभी तक मैंने जितने भी महाभारती गायक देखे, झाडूराम देवांगन को देखा, पूनाराम को देखा, तीजन बाई को देखा, लक्ष्मीबाई को देखा, रेवाराम को देखा पर मुझे जो जमा है, वो है रामसिंह साहू। हम दुनिया घूम रहे हैं हबीब साहब के साथ। इसलिए बहुत सारी चीज़ें देखने को मिलीं। उन सब चीज़ों को देखने के बाद लगता है कि रामसिंह साहू बेहतर महाभारत गायक है। वही मेरा गुरु है। तो गाँव में मैं सीख चुका था उनसे।

एक चीज़ मैं बीच में पूछना चाहती हूँ कि क्या साहू कलार हैं?

कलार मतलब सिन्हा। साहू का किसानी काम है, तेल निकालने का। घाणी चलाने से पहले तेल निकालना।

वो तेल निकालते थे क्या?

नहीं, उनके पूर्वज निकालते थे। रामसिंग साहू किसानी करते थे तो उनसे मैं सीख चुका था।

कैसे?

हमारे यहाँ गाँव में जिस दिन अनन्त चौदस मनाते हैं। उस रात कार्यक्रम होते हैं, अभी तक ये परंपरा चल रही है। मेरा गाँव एक कल्चर्ड गाँव है शुरू से। वहाँ महाभारत भी मिलेगी आपको, वहाँ हरि कीर्तन मिलेगा आपको, वहाँ नाचा पार्टी मिलेगी, रामायण मंडली मिलेगी। सभी कुछ मिलेगा आपको। अगर गाँव में सौ लोग हैं तो पचहत्तर आदमी आपको वहाँ कलाकार मिलेंगे।

ये तो राजा भोज के गाँव जैसा हो गया।

हाँ, बहुत बेहतरीन गाँव है। और सारा काम कर रहे हैं, किसानी वग़ैरह सब कर रहे हैं। किसी भी अच्छी से अच्छी पार्टी को ले जाकर आप नाच दिखवाएँगे और अगर मैं हूँ वहाँ तो मुझे बुलाकर कह देंगे मुझसे बड़े लोग कि आ तो रे मोटू, इधर आ तो रे, फालतू पैसा क्यूँ ख़र्च कर रहे हो, ऐसा पार्टी को बुला कर, जिसमें मजा नहीं आ रहा है। वहाँ खट् कह देने वाले लोग हैं। हर चीज़ की जानकारी है उनको। कहते हैं, "इनको न गाना आता है न बजाना आता है, क्यों इनको बुला लेते हो।"

तो रामसिंग साहू ने आपको कैसे सिखाया?

वो भी एक कहानी है। गाँव में अनन्त चौदस के दिन नाच होता था। रामप्रसाद, त्रिभुवनदास ये मिलकर सब मंच बनाते थे। उस ज़माने में लाईट थी नहीं इसलिए गैस जलाकर नाचा करते

थे। हमारे यहाँ बड़े फन्दा नाम का एक चौक है, वहीं सब होता था पहले। अब तो मंच बन गए जगह-जगह। पहले मंच वग़ैरह कुछ नहीं थे। वहीं मकान की एक परछी में बैठ गए तबला, हारमोनियम वाले। एक पाल तान दी नीचे, दो खंबे गड़ा दिए और नाच रहे हैं नाचने वाले। 'नाच है गाँव में, चलो सब नाच देखने चलो' तो मैं भी चला गया। शुरू हो गया नाच, सब देख रहे हैं। जो जोकर था उनका चमरू साहू, उसको बिच्छू काट खाया। अब चमरू साहू परेशान कि मैं नहीं नाच सकूँगा। उस दिन दूसरा जोकर रामसिंग बने थे। उस समय महाभारत गायन नहीं जानते थे वो। सिर्फ़ नाचा जानते थे। तो अब रामसिंग के साथ और कौन जोकर बने। वो परेशान। बैठे-बैठे देखा मुझे तो बोले, 'इधर आ एक मिनिट, चल।' मुझे लगा कोई काम से बुला रहे होंगे तो चला गया वहाँ। बोले, "चल बेटा, चल जल्दी कपड़ा पहन। नकल करना है।" मैंने कहा, 'कौन-सी नकल करना है।' वो बोले, 'साहब चपड़ासी' करना है। ठाकुरराम, मदनलाल ये वाली नकल पेश करते थे, जो हमारे यहाँ 'जमादारिन' वग़ैरह भी पेश करते थे, तो लखौली चौक में मैं देख चुका था इनको, रवेली पार्टी में। उस समय में मैं छोटा था, पढ़ रहा था। उस जमाने में मैंने देखा था 'साहब-चपड़ासी'। रामसिंग बोले, 'चल बेटा, साहब बन, मैं चपड़ासी बनूँ।' मैंने कहा, 'कैसी बात करो, मैं नाचा जानूँ न कुछ।' 'चल-चल मैं संभाल लूँगा तुझको। भूल जाएगा तो बता दूँगा।' मैं बोला, 'मंच पे बताओगे।' तो बोले, 'हाँ, मंच पे बता दूँगा।' ऐसे-ऐसे करके तीन नकल पेश की उनके साथ मिलकर उस दिन।

आपको भी मज़ा आने लगा?

फिर मुझे भी मज़ा आने लगा। उसके बाद धीरे-धीरे हमने कहा कि हम नाचा सीखेंगे। गाँव-गाँव में कभी-कभी उत्सव के लिए नाचा करेंगे। तो रामसिंग, मैं मायाराम, चिन्ताराम हम सबने सीखना शुरू किया। गाँव में एक चबूतरा होता था, परछीनुमा, उसको बूढ़ी कहते हैं, पुलिस वाले या दूसरे लोग वहीं जाकर बैठते थे। या जैसे गाँव के बाहर कोई आदमी जा रहा है तो वो वहीं जाकर बैठता था। तो हम लोगों ने बूढ़ी में सीखना शुरू कर दिया रामसिंग से। वहाँ सीखते रहे। स्कूल भी जाता था उस ज़माने में। स्कूल के बाद गँवई चला गया। गँवई से फिर शहर आ गया। तो उस ज़माने में मैं गाना-बजाना सब सीख चुका था।

तो खुमान साहू की टॉर्च आप पर पड़ी?

हाँ, तो खुमान साहू ने मुझे बुलाया कि चलो। मैंने भोरी, जो उनकी पार्टी में था उससे पूछा कि यार कैसे क्या करना है? कौन-सी नकल पेश करना है? वो बोला, 'माया परीक्षा।' मैंने कहा, "ठाकुरराम, मदनलाल वाला 'माया परीक्षा।' वो बोला, 'नहीं यार।' उसने कहानी बता दी मुझे कि ये है।

आपको कहानी याद है?

हाँ। कहानी ये है कि माँ-बाप का एक ही लड़का था, उसका नाम था बोच्कू। बोच्कू यानि बुचक जाना, खो जाना। अभी तो यहीं था अब कहाँ गया, पता नहीं, ऐसा। नाचा में तो ऐसे चुन-चुनकर ही नाम रखते हैं, जिसमें मज़ा आए। नाम सुनते ही हँसें लोग। अब एक ही लड़का है, इसलिए माँ-बाप बहुत ज़्यादा प्यार देते थे। उसकी शादी हुई। शादी हुई तो बच्चा नहीं था, गुज़ारा चल रहा था। एक दिन साधु आया वहाँ, तो वो लोग बोले कि महाराज दुनिया में माँगने-खाने वाले, लूटने वाले बहुत साधु घूमते रहते हैं। साधु बोला कि देख बेटा कौन रूप में

भगवान मिल जाए, यह नहीं कहा जा सकता। दुनिया का साथ दे वो साधु है। साधु बोला कि तुम किसके लड़के हो? तो वो बोला गरीबदास का लड़का हूँ मैं। मेरे माँ-बाप मुझे बहुत मानते हैं। दशरथ के बराबर मेरे पिता है। कौशल्या के बराबर मेरी माँ है और सती सावित्री के बराबर मेरी औरत है। साधु बोला, ''बेटा तू माया में फँस गया। कोई किसी का साथ नहीं देता। सब अपने लिए जी रहे हैं।'' बोच्कू बोला, 'नहीं, नहीं, मैं मर जाऊँ तो ये लोग भी मर जाएँगे।' साधू बोला, ''नहीं मरता, बेटा कोई नहीं मरता। हाय-हाय होती है, थोड़ी तकलीफ़ होती है, माया इसीलिए व्यापती है। कोई किसी के लिए नहीं जीता। सब अपने लिए जीते हैं। तुम भी जी रहे हो तो अपने लिए जी रहे हो। तुम्हारी औरत तुमसे प्यार करती है, अपने स्वार्थ के लिए।'' लड़का कहता है, 'नहीं, ऐसा नहीं है।' साधु कहता है, 'परीक्षा देखनी है?' वो कहता है, ''हाँ देखनी है।'' वहीं एक परीक्षा है, 'माया की परीक्षा।' साधु बोला, ''बेटा, घर जाकर सो जाना, ऐसे चुपचाप सोना जैसे मर गए हो। उसके बाद मैं आकर परीक्षा दिखाता हूँ।'' साधु ने घर आकर कहा कि ये तो मर गया। तो रोना-गाना शुरू करते हैं। साधु कहता है कि मैं इसको ज़िन्दा कर दूँगा। वो पूछते हैं, 'कैसे ज़िन्दा करोगे?' साधु बोला, ''इसमें एक आदमी को मरना पड़ेगा। ये गिलास है, इसमें दूध है, दूध में ज़हर है, ज़हर पी जाओ, तुम मर जाओगे बोच्कू ज़िन्दा हो जाएगा।'' बाप कहता है, 'नहीं, नहीं, हम क्यों मरेंगे' माँ को साधु कहता है कि ''बहुत तड़फ रही हो, दस महीने अपने गरभ में रखा, दूध पिलाया, अपना ख़ून पिलाया है, तुम्हीं पी जाओ।'' माँ कहती है, 'नहीं, नहीं, हम कभी नहीं पिएँगे।' साधु औरत से कहता है, 'तुम अपने पति को बहुत प्यार करती हो ना, तुम्हीं पी जाओ, कम से कम तुम्हारा त्याग तो होगा।' वो बोली, 'ये मर गए तो मरने दो, हम दूसरे से शादी कर लेंगे।' ये कहानी उन्होंने बताई मुझे 'माया परीक्षा' की। मैंने पूछा कि मुझे क्या बनना है? वो बोले कि तुम्हें साधु बनना है। मैंने कहा ठीक है। साधु बना। तीन आयटम किए। शनिवार की रात थी वो। तीसरा आयटम किया। आया, कपड़े फेंके, मेकअप पोंछा और तुरंत भागा दुकान पर। रविवार का दिन था, अगला। रविवार को सुबह छः बजे खोलनी पड़ती थी दुकान, चाबी मेरे पास थी, तुरंत भागा वहाँ से। मन्दराजी दाऊ बैठे थे, भारी आवाज़ थी उनकी, ''ए, वो लड़का कौन है? अजीब तरीक़े से काम करके भागा, वो लड़का कहाँ है।'' 'पता नहीं कौन लड़का था, खुमान गुरूजी लाए थे।' मन्दराजी बोले खुमान इधर आ, वो लड़का कहाँ है?'' वो बोले, ''नाच वाला लड़का नहीं है वो, उसको मत पकड़ो दुकानदारी वाला लड़का है। तुम्हारे काम का नहीं है।'' मन्दराजी बोले, ''नहीं एक दिन देखना है उसको, हमारे सुर में काम कराना है, मेरी पार्टी में काम करवाना है उससे।'' तो खुमानज़ी बोले, ''नहीं, नहीं, वो आने वाला नहीं है।''

चौकी के राजा के यहाँ बीस साल के बाद लड़का हुआ। मानपुर चौकी, जंगली इलाक़ा। तो खुशी में उन्होंने अपने यार-दोस्तों को, प्रजा को, और जहाँ-जहाँ तक पहचान वाले थे, सबको निमंत्रण दिया। दाढ़ी कटिंग उनकी हमारे शिव जी भाई करते थे। उनको भी निमंत्रण मिला था। शिव जी सेठ बोले, ''मैं नहीं जाऊँगा। तू ही जा। रात में जाना सुबह आ जाना' अब उस दिन के रात के कार्यक्रम के बाद मन्दराजी दाऊ मुझे ढूँढते-ढूँढते कि वो लड़का कहाँ है, दुकान पर पहुँचे। मैं एक नम्बर की सीट पर बाल काट रहा था। मैने काँच में से देख लिया कि ये मन्दराजी दाऊ बैठे हैं, खुमान साहू बैठे हैं, वो ले आए थे मन्दराजी को कि चलो दिखा देता हूँ लड़के को। पूनम नाम का लड़का, जिसको मैं कटिंग का काम सिखा रहा था, उसको मैंने कहा कि जा चाय लेकर आ। फिर जाकर पैर छुए दाऊ के, गुरूजी के पैर छुए। वो बोले, 'एक

काम था बेटा।' मैंने कहा, 'क्या है गुरूजी।' वो बोले, 'अरे ओ चौकी के राजा साहब के यहाँ जाना है, हम लोगों को, तू भी चल।' मैंने कहा, 'मैं नहीं जाता।' 'डरता क्यों है, तेरा निमंत्रण मिला है, पूछ सेठ से, चल।' मैंने उनसे कहा, 'मैं चाहूँ तो जाऊँ, न चाहूँ तो न जाऊँ, आपको क्या मतलब?' दाऊ बोले, ''नहीं, नहीं, रात को तेरा नाचा देखकर मुझे लालच लग गया। मैं बताऊँगा कहानी, वो तुम्हें करना है। मैंने कहा, 'किसके साथ?' बोले, 'मेरी पार्टी वालों के साथ।' मैंने कहा, 'किसकी जगह।' वो बोले, ''ठाकुरराम की जगह।' 'ठाकुरराम की जगह सिर्फ गोविन्द कर सकता है, 'मैंने कहा। वो बोले, 'वो मदनलाल की जगह कर रहा है तुमको ठाकुरराम की जगह करना है।' मैंने कहा, 'ठाकुरराम की जगह मैं नहीं कर सकता।' 'नहीं, नहीं, मैंने रात में देखा तेरा काम, तू ही कर सकता है, चल।'' वो बोले। जाना तो था ही। मैंने कहा चलो। 'शाम को चार बजे हमारी जीप जाएगी, बस में मत आना।' दाऊ बोले। मैंने कहा, 'ठीक है।' जीप में इनके साथ मैं निकल गया चौकी। ज़िन्दगी में मैंने पहली मर्तबा इन लोगों के साथ चौकी में नाच किया।

कौन-कौन था?

गोविन्द था, मैं था, रवि सेन था, बोहरी था। एक मिश्रित नाच था वो, क्योंकि सभी को निमंत्रण दिया था। तो इस पार्टी का अच्छा कलाकार हो गया, उस पार्टी का अच्छा कलाकार हो गया। इस तरह सब अच्छे-अच्छे कलाकार वहाँ आए। हारमोनियम बजाने वाले खुद मन्दराजी दाऊ थे।

क्या वे बहुत बढ़िया बजाते थे?

बहुत बढ़िया बजाने वाले तो खुमान साहू थे, जो अभी भी हैं। लेकिन छत्तीसगढ़ नाचा के जन्मदाता वही हैं मन्दराजी दाऊ, इसलिए उनको सभी मानते हैं और जानकारी भी थी उनको, बजाते भी अच्छा थे।

उनको नाचा का जन्मदाता क्यों कहते हैं? नाचा तो पहले से हो रहा था?

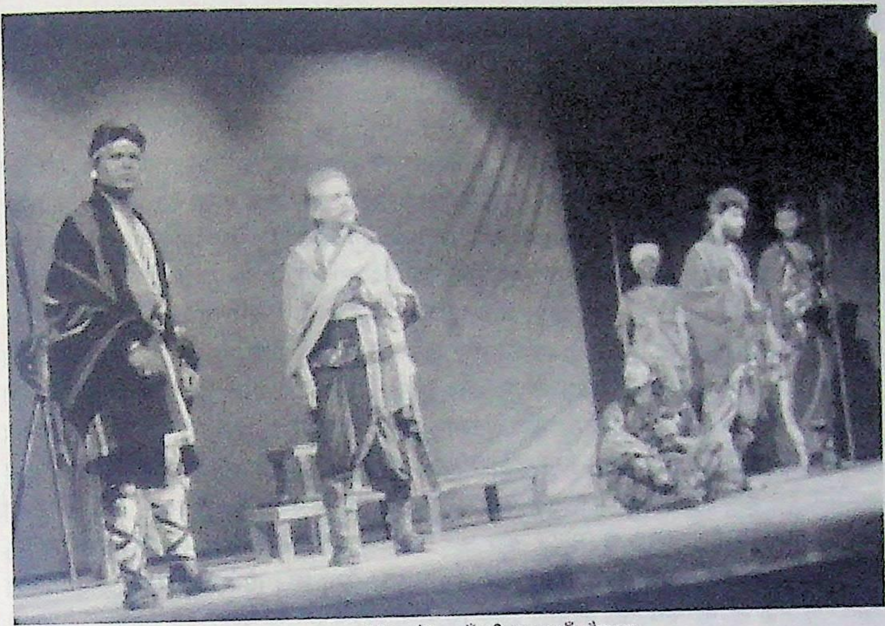
इसलिए कि नाचा उस ज़माने में पहले गाँव-गाँव में चिकारा और तबला के साथ घूम-घूमकर करते थे। इन्होंने मंच पर बैठक का रूप दिया। हारमोनियम, तबला, क्लारिनेट, बेंजो ये बैठकर मंचन करने का जो रूप बना, वो मन्दराजी दाऊ ने ही दिया। इसलिए जन्मदाता मानते हैं उनको।

तो आप चौकी में नाच करने गए?

मैं गया । मन्दराजी दाऊ ने कहानी बता दी थी । रातभर काम किया। वहाँ सब बेहतरीन कलाकार इकट्ठे थे, एक यहाँ का, एक वहाँ का। ख़ास बात ये थी कि इन लोगों के बीच में मन्दराजी मुझे देखना चाहते थे कि ठाकुरराम की जगह मैं काम कर सकता हूँ या नहीं?

ठाकुरराम कहाँ थे?

ठाकुरराम नहीं गए थे। ठाकुरराम और मदनलाल दोनों नहीं गए थे। कुछ अनबन हो गई होगी या पैसे की वजह से फूट हो गई होगी। तो वहाँ मैंने ठाकुरराम की जगह काम किया। तब मन्दराजी बोले, ''इस जगह, ये लड़का सही काम कर सकता है। इसको रखो।'' उसके बाद लगातार कार्यक्रम लेना शुरू कर दिए मन्दराजी ने। मुझे ख़बर देते थे कि आ जाओ,



मुद्राराक्षस (बीच में) दाएँ दीपक बाएँ चैतराम

कार्यक्रम है। मैं कहता था, ''मैं दुकान बंद करके ही आ सकता हूँ'', ''हाँ, हाँ, तुम्हारे लिए मोटर साईकिल खड़ी रहेगी।'' मैं रात में दस बजे दुकान बंद करता था। चुपके से मोटर साईकिल पर पीछे बैठकर जाता था। पहुँचो, वहाँ रातभर नाचा करो । सुबह छः बजे दुकान पर फिर लौट आओ। इस तरह साल भर तक चलाया सन् 1971 तक।

शिव जी भाई को पता नहीं चला?

नहीं, किसी को भी पता नहीं चला। लेकिन एक रोज़ मुझे थोड़ी देरी हो गई। दुकान की चाबी मैंने पास ही बूट पॉलिश वाले के पास छोड़ रखी थी कि कहीं देर हो जाए तो ज़रा दुकान खोलकर झाडू लगा देना। अब उस दिन पता नहीं कैसे सेठ जी आ गए जल्दी। 'कहाँ है पुतरू?' 'पता नहीं जी, कहीं गया हुआ है, ये चाबी मुझे दी है, नहाने गया होगा।' वो बोले, 'चल झाडू लगा दे।' झाडू लगा दी उसने। अब सेठ जी झाडू लगने के बाद अगरबती जला रहे थे और मैं पहुँचा। ''कहाँ से आ रहे हो?'' देखा नहाकर तो नहीं आ रहा है ये। चेहरा दूसरा दिख रहा है। मेकअप लगाने के बाद साफ़ करो, कुछ करो, पता चल ही जाता है ।

'कहाँ से आ रहे हो?'

'नाच देखने गया था।'

''नाच देखने नहीं, नाच करने गए थे। अब तुम बरबाद हो गए न! मुझे मालूम है, तुम नाच करने जाते हो, चुपके से रात में जाते हो।'' उसके बाद नाचा में इसी तरह लगन बढ़ती गई, बढ़ती गई। कार्यक्रम लेते गए, कार्यक्रम बढ़ते चले गए।

लेकिन शिव जी भाई ने तब भी आपको हटाया नहीं?

नहीं, हटाया नहीं। उनका ये कहना था बुधवार, शुक्रवार और रविवार ये तीन दिन तुम यहाँ सैलून के अंदर डटे रहो बस। बाक़ी दिन तुम कहीं भी आओ-जाओ।

ऐसा क्यों?

मंगलवार के दिन हनुमान जी के नाम से बहुत कम लोग दाढ़ी-कटिंग बनवाते हैं। शनिवार के दिन शनि महाराज के नाम से भी बहुत कम दाढ़ी-कटिंग का काम होता है। बुधवार, शुक्रवार और रविवार ये आम दिन हैं। इनमें भी रविवार छुट्टी का दिन है। मेरा काम भी ऐसा था कि सुबह छः बजे से लेकर बारह बजे तक एकमुश्त काम करता था, उसके बाद दो बजे तक किसी काम को छूता भी नहीं था। बैठा रहता था क्योंकि मैं यदि काम में लग गया तो बाक़ी कारीगर भूखे मरेंगे। जो भी आता था, 'ए उदय, कितना समय है?' 'समय लगेगा दो-तीन घंटे का, अभी दो-तीन कटिंग हैं।' जबरन बोलता था मैं, और लोगों को काम देने के लिए। अब काम इतना बेहतरीन सिखाया मुझे। मैं ज़िन्दगी में ये एहसान कभी नहीं भूलूँगा, मरूँगा तभी भूलूँगा। इतना बेहतरीन काम सिखाया कि मैंने हेमू भाई से पूछा था न कि राजनादगाँव में मुझसे बड़ा कोई कारीगर मत हो। शिव जी भाई ने मुझे वैसा ही काम सिखाया। उस जमाने में मैं एक ही नज़र आता था। लोग मुझे कहते थे 'मोटू।' बस मोटू भाई उस ज़माने में टॉप का कारीगर था मैं। मेरे सामने कोई दूसरा आदमी टिक ही नहीं सकता था। ऐसा था। तो वही हिसाब चलता रहा। शिव जी भाई ने भी मना नहीं किया। फिर लगन बढ़ती गई नाच में।

रवेली में जाते रहे?

रवेली छोड़कर लखौली पार्टी को चलाया। रवेली और लखौली दोनों टक्कर की पार्टियाँ चलती रहीं। एक जगह ऐसा मौक़ा आया कि एक ही मंच पर दोनों पार्टी इकट्ठा हो गई। बाप ने रवेली पार्टी को बुला लिया, बेटे ने हम लोगों को बुला लिया। अब कैसे करें? वहाँ मदनलाल, ठाकुरराम, गोविन्द, मन्दराजी इन सबकी एक पार्टी और यहाँ बोहरी, रवि सेन, मैं, सुखरू गंगाराम, लखन हमारी सबकी दूसरी पार्टी। "अब क्या करें?" मैंने बैठे-बैठे सोचा कि इन लोगों के साथ टक्कर लेना तो मुश्किल है? तो पहले इन लोगों को नकल पेश करने दो। पहले इन लोगों ने नकल पेश की। ठाकुरराम बाबा तब ज़िन्दा थे। मैंने ठाकुरराम बाबा से पूछा, 'बांबाजी इसके बाद कौन-सी नकल पेश कर रहे हैं?' वो बोले 'इसके बाद तुम करो न।' मैंने कहा, 'मुझे डर लगता है।' वो बोले, 'ऐसा करो, पहले हमारी *माया परीक्षा* नकल देखो।' मैंने सोचा ये *माया परीक्षा* पेश कर रहे हैं, हम लोग क्या करें?' हम लोगों ने फटाफट तैयार करके 'बुद्धू नकल' पेश कर दी। 'बुद्धू नकल' ने उनकी सारी नकल को खतम कर दिया। रवेली पार्टी खतम। उसके बाद मदनबाबू बोले कि अब हम लोग आराम से बैठकर देखेंगे नाचा। उन लोगों ने बस एक ही नकल पेश की थी 'माया परीक्षा'। उसके बाद मदनबाबू, गोविन्दराम, ठाकुरराम रातभर बैठकर हम लोगों को देखते रहे। एक बार ऐसा ही मौका लगा था। 'बुद्धू नकल' ऐसी तैयार की थी, जम के।

बुद्धू नकल में क्या होता है?

आपने पुरानी कहावत सुनी होगी। कोई बच्चा रोता है तो उसको चुप कराने के लिए कहते हैं कि ए भईया, ले, इसके कान काटकर ले जा। इसका नाक काट ले। चोर आएगा तो उठा के ले जाएगा। ऐसी कहावत बुजुर्ग लोग कहते थे। ये कहावत मेरे दिमाग़ में थी, मैंने कहा, एक

नकल बनाई जाए इसकी। डेढ़ घंटे का एक आयटम तैयार हो गया। 'बुद्धू नकल' इतनी पापुलर हो गई गाँवों में कि दूसरी सब पार्टियों की नकल को काटने लगी। उसमें 'राजा' का रोल मैं करता था, रवि सेन से कराया 'बुद्धू' का रोल' शंकर को 'राजकुमारी' बनाया। चलता रहा, चलता रहा।

'बुद्धू' की कहानी क्या है?

कहानी कुछ खास है ही नहीं।

उस रात की बात बताइए जब पहली बार आपने 'बुद्धू नकल' पेश की थी, तब क्या किया था?

पहली बार तो हम लोग आपस में बैठे। मैंने कहा कि नकल 'बुद्धू' करेंगे। रवि सेन, बोहरी वग़ैरह बोले, यार 'बुद्धू नकल' क्या है? कैसे करेंगे 'बुद्धू नकल' की कोई कहानी है? मैंने कहा "कोई कहानी नहीं है। महतारी बच्चे को चुप कराने के लिए कहती है न, आ रे पगला आ, इसके कान काट ले। एक और कहावत है न कि राजा के घर नून नहीं है ऐसी सब चीज़ों को जोड़ दें तो नहीं बन जाएगी नकल," मैंने कहा। क्या बात करते हो पागल जैसी लेकिन फिर ये लोग, बोले "हो"। मेरे दिमाग में थोड़ा-सा कुछ बना हुआ था। मैंने कहा "देखो, एक राजा है, राजा के घर लड़की है, उसके यहाँ लड़का पैदा होता है। वहाँ एक बुद्धू नौकर रहता है। राजमहल अलग है, राजदरबार अलग। उस बुद्धू नौकर से कहा जाता है कि घर में लड़का पैदा हुआ है, दरबार में जाकर ख़बर पहुँचाओ। उसके पहले क्या होता है कि राजा के यहाँ नमक खतम हो जाता है. बुद्धू से कहा जाता है कि जाओ नमक लेकर आओ तो वो ताली बजाते हुए चिल्लाते हुए नमक लेने जाता है कि राजा के घर नून नहीं, राजा के घर नून नहीं। मंत्री ये बात सुन लेता है। वो बुद्धू को बुलाकर कहता है कि इस तरह चिल्लाया नहीं जाता। राजा के घर में नमक नहीं है तो इस तरह चिल्लाते नहीं चुपके से ले जाकर दे दो। इतने बड़े राजा के घर में नमक नहीं, कैसी बात करते हो? जब लड़का पैदा होता है तो उसी से कहा जाता है कि जाओ राजा को बता दो। वो चुपचाप जाता है और राजा के पास जाकर खड़ा हो जाता है । फिर राजा के कान में कहता है, आपको लड़का हुआ है। राजा कहता है इतनी खुशी की ख़बर है, लड़का पैदा हुआ है मेरा और ये कान में चुपके से कहता है। ये कैसा नौकर रख लिया है? बुद्धू कहता है कि यही मंत्री तो बोला था कि कोई भी बात हो, चुपके से बोला करो। इसलिए हम चुपके से बोले हैं। राजा बोला, 'अरे नहीं, ऐसा माहौल हो तो नाचते-गाते-बजाते हुए आया करो।' बुद्धू ने सोचा, अच्छा कोई भी ख़बर हो तो नाचते-गाते हुए लेकर आना चाहिए। राजा साहब की माँ खतम हो जाती है, बुद्धू नाचते-गाते हुए जाता है। राजा साहब पूछते हैं कि क्या खुशख़बर है? वो कहता है "राजा साहब! आपकी माँ मर गई।" तो मेरे दोस्त लोग बोले, "हाँ! ऐसा हो सकता है। चलो साथ मिलकर करते हैं।"

कोई रिहर्सल नहीं की ?

नहीं, कोई रिहर्सल नहीं की। मैं राजा बना, बोहरी को सेक्रेट्री बनाया, रवि सेन को बुद्धू बनाया। इस तरह से हम लोगों ने *बुद्धू नकल* पेश की । लोगों को मज़ा आ गया। हम लोगों ने सोचा इसको थोड़ा और बढ़ाओ। बढ़ते-बढ़ते डेढ़ घंटे की हो गई। उसके बाद फिर जहाँ देखो बस *बुद्धू नकल* छा गई। हमारा नाचा दनादन चल रहा था। चलते-चलते सन् 1975 में

अकाल पड़ा। नाचा के कार्यक्रम होने बंद हो गए। अकाल में कौन नाचा कराएगा?

दुकान का काम आपने तब तक छोड़ दिया था?

1972 में मैंने दुकान का काम छोड़ दिया था। शिव जी भाई ने कभी मना नहीं किया। पर मुझे समय नहीं मिलता था, मैं नहीं जाता था। अब भी जाता हूँ तो दुकान पर ज़रूर जाता हूँ।

वो ज़िन्दा हैं?

हाँ, शिव जी भाई ज़िन्दा हैं। अभी भी जाता हूँ तो कहते हैं, "अब आ गए। आ गए, तो जाओ अपनी कुर्सी पर बैठो।" अब भी वो यही कहते हैं। मेरी कुर्सी वहाँ अभी भी है। होली-दीवाली की छुट्टी में यहाँ (भोपाल) से घर जाता हूँ, तो पहले दिन घर जाऊँगा। दूसरे दिन नाथ गाँव में जाऊँगा। नाथ गाँव में बराबर चाय पीने के लिए उनके पास जाऊँगा, क्योंकि उन्होंने मुझे सिखाया है, विद्या दी है, गुण दिया है, मैं कभी भूलूँगा नहीं।

तो सन् 1975 में छत्तीसगढ़ में अकाल पड़ा?

ससुर जी भिलाई में बी.एस.पी. वर्कर थे । उनको मालूम पड़ा मेरा कामधाम कुछ चल नहीं रहा है। हालाँकि मैंने न उनको ख़बर भिजवाई न चिट्ठी दी लेकिन उनको कहीं से मालूम चल गया। इस बीच नाचा की वजह से भाई ने मुझे अलग कर दिया था।

क्यों?

नाचा करने वाले आदमी की क्या ज़िंदगी? वो बोला "तू अपनी अलग ज़िंदगी जी। तू अलग खा-पी" तो मैं अपनी ज़िंदगी नाचा से और कुछ भी करके जी रहा था।

अब घर नहीं जाते थे?

घर जाता था पर रहता अलग कमरे में था। इसी बीच शादी भी हो गई थी मेरी।

शादी कब हुई?

सन् 1969 में। जब मैं दुकान पर था, तभी शादी हो गई थी। सन् 70 में गौना होकर बहू आई घर पर एक साल के बाद। सन् 70 से 75 तक मैं घर में अलग रहने लगा। तो ससुर जी को मालूम चला कि अकाल पड़ा है, काम-धाम कुछ हो नहीं रहा है। उन्होंने ख़बर भिजवाई कि एक रोज़ के लिए आ जाए, मुझसे मिलने के लिए। अपने ससुर जी से मिलने के लिए मैं भिलाई जा रहा था। *चरणदास चोर* की शूटिंग श्याम बेनेगल भिलाई में कर रहे थे। श्याम बेनेगल, हबीब साहब और नया थिएटर की टीम भिलाई में थी। ठाकुरराम ज़िन्दा थे, उस समय। जिस बस में ये लोग बैठे थे, वहाँ से ठाकुरराम ने मुझे स्टेशन पर देख लिया, बोले, 'अरे, सुन-सुन। कहाँ जा रहे हो?'

मैं बोला, 'भिलाई।'

'हम भी भिलाई जा रहे हैं। चलो हमारे साथ। भिलाई में कहाँ जा रहे हो?'

'मेरे ससुर जी के पास।'

'कहाँ।'

'सेक्टर वन।'

'हम लोग सेक्टर छः में जा रहे हैं।'

'जाओ सेक्टर छः हमको रास्ते में उतार दो।'

उदय राम एक अलग भूमिका में

'नहीं, नहीं, हबीब साहब से मिल लो, चलो।'

'हबीब साहब से मुझे क्या मतलब? क्यों मिलूँ मैं। तुम लोग कलाकार हो, तुम लोग जाओ।'

आपने हबीब साहब का नाम तब तक सुना था या नहीं?

नाम सुना था। कभी देखा नहीं था। देवी वगैरह के साथ बैठना-उठना था मेरा। इसलिए नाम से वाक़िफ़ था। ठाकुरराम बोले कि चलो तो मैं चला गया। सेक्टर नम्बर छः में गए तो हबीब साहब और श्याम बेनेगल वग़ैरह चाय पी रहे थे । मुझे देखकर श्याम बेनेगल बोले, ''जिस चेहरे की हमें तलाश थी, जो लड़का आ रहा है, वो है, अगर वो ऐक्टर है तो।'' एक सप्ताह से शूटिंग रुकी हुई थी। मैं गया, पैर-वैर छुए । ठाकुरराम बोले कि एक बार हम जिस लड़के का ज़िक्र कर रहे थे कि वो आ जाए तो अच्छा है, ये वही लड़का है। वो बोले ''बैठो, चाय पीओ। खाना यहीं खाओ हमारे साथ।'' मैंने सोचा कि सेक्टर एक जाना है, ये छः है, शाम तक चला जाऊँगा। रुक गया, खाना वहीं खाया। ये लोग बोले, 'कुछ दिखाओ।' मैंने कहा, 'एक अकेला आदमी, मैं क्या दिखाऊँ?' ठाकुरराम बोले, ''मैं साथ देता हूँ। चलो, क्या करना है?'' स्वर्ण कुमार साहू, जिन्होंने *चरणदास चोर* के गाने लिखे हैं, बोले, 'चलो मैं भी तुम्हारा साथ देता हूँ।' मैं बोला, 'क्या दिखाएँ, आप ही कुछ बताये?' स्वर्णकुमार साहू बोले ''दामाद, सास के पास जाता है, खाना-खाने बैठता है। वो लोग घर की कथा-पुराण निकालते हैं कि मेरी बेटी को तुम तंग करते हो, खाने को नहीं देते, मारते हो। बीच थाली में भात रखे हैं, भात के ऊपर घी रखा है। घी को सास अपनी तरफ लाना चाहती है और दामाद अपनी तरफ लाना चाहता है। बस ये है। तो किस तरह से लाया जाय अपनी तरफ़?'' मैंने सोचा, ''भात है, उसके ऊपर घी है, दामाद अपनी तरफ़ लाना चाहता है, सास अपनी तरफ़ लाना चाहती है, हाँ ठीक है।'' मैंने करके दिखाया। दो-तीन लोगों को समझ नहीं आया कि क्या हुआ । हबीब साहब

समझ गए कि बिलकुल सही है। वो समझ गए कि घी को दामाद अपनी तरफ़ खींचना चाह रहा है, सास अपनी तरफ़ मतलब बहू है। हबीब साहब धुरंधर आदमी हैं, वो समझ गए। 'हमारे यहाँ शूटिंग चल रही है, तुम काम करोगे?' मेरे लायक है तो ज़रूर कर लूँगा। अकाल तो पड़ा ही था, परेशान था ही मैं। 'ठीक है, तुम रुक जाओ।' मैं अपने ससुरजी से मिल लेता हूँ। 'ये गाड़ी खड़ी है, ड्राईवर को बोलो कि इनको मिलाकर वापस ले आएँ।' मैं ससुरजी से मिला और लौट आया। घरवालों को मैंने कहा था कि एक रात भिलाई में रुककर सुबह वापस चला आऊँगा। लेकिन बाईस रोज़ रुक गया वहाँ। इधर घर के लोग परेशान, उधर ससुर जी परेशान कि वो तो जा चुका यहाँ से। किसी को पता नहीं कि मैं कहाँ हूँ। पिताजी कह रहे हैं कि वो भिलाई गया है, आ ही नहीं रहा है। ससुर जी कह रहे हैं कि वो यहाँ से जा चुका। पत्नी अलग परेशान, एक बच्चा मेरा आ चुका था। घर में खाने को कुछ था नहीं। ससुर जी भिलाई में ड्यूटी से आकर रोज़ गाड़ी लेकर मुझे ढूँढ़ने निकलते थे। कहाँ मिलेगा। थाना पहुँच गए। रोज़ अख़बार देखते कि कहीं कोई रिपोर्ट तो नहीं आई है।

और आप शूटिंग कर रहे थे?

मैं शूटिंग कर रहा था। फँसा हुआ था हबीब साहब के साथ। बाईस रोज़ के बाद काम खतम हुआ तो मुझे पैसा दिया गया। हबीब साहब ने पूछा, ''कहाँ रहते हो? मैं नाटक करने बुलाऊँगा तो तुम आ सकते हो? दस रुपये रोज़ देंगे। तीन सौ रुपये महीना।'' मैंने कहा, 'ठीक है चला आऊँगा।' यह सन् 1975 की बात है। अब पचहत्तर में दस रुपये रोज़ मिलना शायद ठीक ही था। काम चलाने के लिए। ठाकुरराम, मदन वग़ैरह को पन्द्रह रुपए रोज़ मिलते थे। मुझे दस रुपया रोज़ से शुरू किया था। घर आया तो देखा घर की हालत ख़राब, घरवाली परेशान है बिचारी। बाईस किलोमीटर दूर गाँव से घास काट के राजनांदगाँव में लाकर बेचती थी। यहाँ से चावल ले जाकर बच्चे और अपनी ज़िन्दगी चला रही थी। मैं घर पहुँचा तो रोना शुरू किया 'बग़ैर कहे हमें छोड़कर चले जाते हो।' मैंने कहा, 'कहीं फँस गया था, अब आ गया हूँ। ये घास बेचना बंद करो। अब हम जी जाएँगे।' उसके बाद अभी तक हबीब तनवीर के साथ चल रहा हूँ।

फिर आप नया थिएटर में आ गए?

फिर हबीब साहब के साथ आ गया। उसी साल सब कलाकार होली के लिए घर आए। यह जनवरी पचहत्तर की बात है। बाईस-तेईस रोज़ बाद मुझे हबीब साहब ने दिल्ली बुला लिया। दिल्ली गया तो वहाँ *चरणदास चोर* नाटक तैयार हुआ। यहाँ फ़िल्म बनी और फिर वहाँ नाटक तैयार हुआ साउथ एवेन्यू दिल्ली में। मैंने *चरणदास चोर* तभी से खेलना शुरू किया था। अब तक काम कर रहा हूँ।

क्या आपका सबसे पहला नाटक वही है?

मेरा सबसे पहला नाटक वही है।

दिल्ली जाकर काम शुरू किया तो कैसा लगा?

चूँकि ठाकुरराम को मैं अपना आदर्श मानता था। सिखाया हालाँकि रामसिंग साहू ने लेकिन आदर्श मैंने ठाकुरराम को ही माना। इसलिए मुझे दिल्ली आकर तकलीफ़ उतनी नहीं हुई। लेकिन नाटक में यहाँ अभिनय, यहाँ प्रवेश, यहाँ निष्क्रमण ये समझने में थोड़ी तकलीफ़ हुई मुझे।

नाचा से क्या अंतर लगा?

नाचा में क्या है कि खुलापन है। यहाँ बन्दिश है। नाटक में जितने शब्द हैं, उतना ही बोलेंगे। नाचा इम्प्रोवाइजेशन पर चलता है। नाचा में *पोंगा पण्डित* देखें आप उसमें दो कलाकार खड़े हो जाएँगे, एक कुछ कहेगा, दूसरा उसकी काट प्रस्तुत करेगा। उसमें मौखिक इम्प्रोवाईज़ेशन कर सकते हैं, करते हैं लेकिन नाटक लिखित है। इससे एक शब्द आगे नहीं बोलना, इससे एक कदम आगे भी नहीं बढ़ना है। यहाँ प्रॉपर्टी (आहार्य) का उपयोग होता है, वहाँ माईम (अभिनय) में काम होता है। इसमें बन्दिश है, उसमें नहीं है। नाचा का बड़ा रूप है नाटक, मैं यह मानकर चलता हूँ।

संगीता गुन्देचा : युवा कवयित्री और कथाकार। नाटक और अन्य कलाओं में गहरी दिलचस्पी है। *नाट्यम* पत्रिका के संपादन से भी संबद्ध हैं। *भास का रंगमंच* पुस्तक कुछ अरसा पहले आई है। भोपाल में रहती हैं।

हेनरिक इब्सन और भारतीय रंगमंच

उत्पल के. बनर्जी

अंग्रेज़ी से अनुवाद : राजेन्द्र उपाध्याय



हेनरिक इब्सन

शेक्सपीयर के बाद विश्व के महानतम नाटककार हेनरिकइब्सन(1828-1906) के निधन को सौ वर्ष बीत चुके हैं। पर, दुनिया में हर रोज़ कहीं-न-कहीं इब्सन का कोई-न-कोई नाटक खेला जाता है और एम.के. रैना की बात मानें तो भारत में हर महीने उनका नाटक होता है।

इब्सन की अब तक की लोकप्रियता के आकलन के बाद हम उनके नाटकों का मूल्यांकन करेंगे। इसके बाद भारत के नाटककारों ने जिस तरह से इस महानतम प्रतिभा को गले लगाया उसकी भी चर्चा करेंगे।

विचार : गेसोग्ने के अनुसार इब्सन की मौलिकता उनके विषयों के चुनने की साहसिकता में है। वर्षों बाद, उनके समस्यामूलक नाटकों की 'समस्या' ने संवेदनशील नाटककारों के लिए गहरे आनंद और प्रेरणा का काम किया जैसे सुदूर बंगाल में मनोज मित्र ने *साजानो बागान* (बगिया बांछाराम की) इब्सन से प्रेरणा लेकर काफ़ी सफलता पाई। लेकिन मेमकिन कहते हैं कि उनके विचार एकदम असाधारण नहीं हैं और अंत में जो निष्कर्ष वे प्रस्तुत करते हैं वो तो हर बुद्धिमान तर्कशील दिमाग़ पहले ही सोच लेता है। भविष्यवक्ता या महात्मा बने बग़ैर, वह बेजोड़ नाटककार हैं, जो अपने विचारों को प्रस्तुत करने के नए रास्ते खोजता है। उसका सीधासादा तरीक़ा, दैनिक जीवन के आवरण में लिपटे आम तर्कों से वे एक ऐसा असामान्य तानाबाना बुनते हैं, जिससे उनके नाटकों में विचार घुल-मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए, उनके *गुड़ियाघर* (ए डॉल्स हाउस) में यह सामाजिक समस्या उठाई गई है कि किसी पत्नी को केवल सेविका और परिचारिका मानना और उसकी अवमानना करना दुखद है। *एन एनेमी ऑफ़ द पीपल* में जिसे 'गणशत्रु' नाम दिया गया, बताया गया है कि पेशेवर देशभक्त और मेयर 'फ्रॉड' (धोखेबाज़) होते हैं। *द वाइल्ड डक* में दिखाया गया है कि व्यापार में सफलता आमतौर पर उन्हीं को मिलती है जो अभद्र काम करने में हिचकते नहीं, *भूत* (घोस्ट्स) में स्थिति है कि सिफलिस बीमारी से ग्रस्त पति के साथ संभोग करने वाली पत्नी विकलांग संतान जन्मती है, *लिटल इयोल्फ* में साझा दुख पति-पत्नी के बीच प्रेम की भावनाएँ भड़काता है और उन्हें एक दूसरे के नज़दीक लाता है, *द मास्टर बिल्डर* का प्रसंग है कि सत्रह साल की लड़की के प्रेम में 55 या 60 साल की उम्र में पड़ना मूर्खता करना है, हेड्डा गेबलर में सातवें उपदेश (व्यभिचार के ख़िलाफ़) का उल्लंघन करने वाली महिला के प्रति दुनिया जंगली और निर्दयी है, और आठवें उपदेश (चोरी न करने) का उल्लंघन करने वाले आदमी के लिए भी दुनिया क्रूर है। इब्सन ने अपने सामाजिक

नाटकों की विषयवस्तु अपनी टिप्पणियों में भी बताई है। ऊपर से देखने पर ये आमफहम विचार, स्थितियाँ और प्रसंग लगते हैं। पर, देखना यह है कि इन विषय वस्तुओं को लेकर इब्सन ने अपने नाटकों में किया क्या है?

सौन्दर्यशास्त्र : नाटककार के रूप में इब्सन का मुख्य ध्येय केवल सद्विचार उठाना ही नहीं है बल्कि सौन्दर्यशास्त्रीय समस्याओं का समाधान करना है। वो नाटक की समूची प्रक्रिया पर अधिक ध्यान देता है, अपने चरित्रों को मंच पर भेजता और वापस बुलाता है, उन्हें चरम परिणति तक पहुँचाता है, प्रभावी बनाता है और अपने विचारों को नाटकों में थोपता नहीं है। उसके हर विचार अपने आप में संपूर्ण और पर्याप्त हैं। इसे वह अन्तर्द्वंद्वों में बदल देता है और यह अन्तर्द्वंद्व काफी प्रभावी तरीक़े से दिखाता है। संपूर्ण यथार्थ होता है उसमें, पूरी बात दर्शक के दिलोदिमाग़ में बैठा दी जाती है। वह नाटक की मशीनरी को पूरी तरह दरकिनार कर अपनी बात इस तरह से कहता है कि दर्शक भूल जाता है कि वह नाटक देख रहा है। उदाहरण के लिए, *गुड़ियाघर* (ए डॉल्स हाउस) में जटिल कथावस्तु की बजाय, वह आम जीवन से पति-पत्नी के चरित्र उठाता है और उन्हें सुंदर तरीक़े से चरम तक ले जाता है। उनके आम जीवन में भी वह रहस्य और भावनाओं का तूफ़ान खड़ा कर देता है। रंगमंच के एक नए आलोक में दर्शक पाता है कि उनके भीतर एक बिजली-सी कौंध गई है। परिणामस्वरूप उसके सामने एक सुगठित नाटक नहीं होता, बल्कि एक घटना जो उन्हें भीतर तक विचलित कर देती है—वह एक ऐसा नाटक होता है जो यथार्थ का सीधा प्रतिरूप ही होता है।

चरित्र : जैसा कि ब्रूस्टीन ने देखा, इब्सन महिला अधिकारों, तलाक, यूथेन्सिया, या सिफलिस के इलाज जैसी चीज़ों का प्रवक्ता नहीं है। *टोरवाल्ड हेल्मर* में इब्सन की सारी संवेदना नागरिक के प्रति है जो एक घरेलू मनुष्य है, वर्तमान व्यवस्था का हिमायती, जो समाज के अनुरूप अपनी आवश्यकताओं को ढाल लेता है, बहुमत के साथ जो चलने वाला है। इसके विपरीत, पेस्टोर ब्रांड, डॉक्टर स्टॉकमेन, मास्टर बिल्डर सोल्स में व्यक्ति एक क्रांतिकारी है, सभी सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक मान्यताओं से ऊपर, जो अपने व्यक्तिगत सत्य में ही जीवन का उद्देश्य पाता है। इब्सन के दिमाग़ में दो तरह के लोग हैं—एक गुलाम और दूसरा शासक दोनों एक दूसरे से इतने भिन्न कि एक की विजय दूसरे की अनिवार्यतः हार है, इसलिए कि एक नागरिक के अधिकार व्यक्ति के स्वातंत्र्य के आधार पर ही पाए जा सकते हैं। आत्म-सजगता ही सर्वोपरि मूल्य है।

इब्सन की मान्यताओं को देखें तो यह कहना एकदम सही होगा कि उन्होंने विद्रोह के रंगमंच का सूत्रपात किया। उनके जैसा कोई दूसरा आधुनिक नाटककार नहीं है जिसकी क्रांतिकारिता इतनी शुद्ध हो। इब्सन का विद्रोह अधिक काव्यात्मक है। वह सुधारवादी या प्रचारवादी नहीं है। लेकिन उसके नाटकों के लगातार विकसित होते रूप को देखें तो पाएँगे कि उसकी गहरी लड़ाई चर्च, राज्य या समुदाय (व्यवस्था) से उतनी नहीं है जितनी कि सर्वशक्तिमान ईश्वर से है। ऊपरी तौर पर देखें तो उसके नाटकों में चर्च, राज्य या समुदाय हावी है। अपनी काव्यात्मक कल्पना की ऊँचाईयों में उसका नाटक ईश्वर के ख़िलाफ़ विद्रोह करता है। वह केवल सामाजिक ढाँचे में ऊपरी बदलाव का समर्थक नहीं है, जबकि वह मनुष्य के नैतिक स्वभाव में समूचा बदलाव चाहता है।

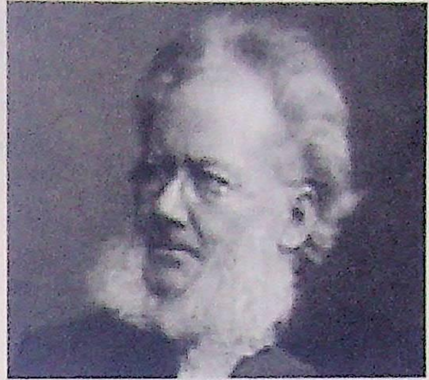
इब्सन का विद्रोही रूप भले ही कितना ही कुचला-दबाया और छिपा हुआ क्यों न हो—कभी

भी पूरी तरह अनुपस्थित नहीं रहता। यह विद्रोह उसके नाटक में अनुशासन, व्यवस्था और वस्तुनिष्ठता के साथ उभरता है लेकिन यह 'ब्रांड' और 'पीर गन्ट' जैसे महंगे भड़कीले महाकाव्यों में उतनी मुखरता नहीं पाता। इब्सन अपने विद्रोही आदर्शों को कई बार उतनी तत्परता के साथ दबाता भी है जितनी तत्परता के साथ फिलीस्तीनी और अनुयायी मित्र करते हैं। उदाहरण के लिए, ब्रांड की ईश्वर के साथ संलग्नता इतनी अधिक है कि वह ईश्वर के ख़िलाफ़ ही खड़ा हो जाता है और उसे इसकी सजा के बतौर बर्फ़ीला तूफ़ान झेलना पड़ता है। केवल डॉक्टर स्टॉकमेन को छोड़ दें तो इब्सन के सभी आदर्शवादी चरित्र पूर्णतया या सीमित रूप में निंदा के पात्र बनते हैं। बदनामी झेलते हैं।

यथार्थवाद : इब्सन के 'प्रतीक' जीवंत होते हैं, जैसे कि 'वाइल्ड डक' (मुर्गाबी) जो वास्तव में एक जानवर है जिससे प्यार या नफ़रत की जा सकती है जबकि 'आकृतियाँ' संकेतार्थक है जैसे कि 'गुड़ियाघर' जो नाटक के अर्थ को सूचित करती है, लेकिन जिसे कार्यव्यापार में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता है। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में आधुनिक रंगमंचीय प्रतीकवाद ने यथार्थवाद को पूरी तरह अंगीकार कर लिया था। यथार्थवादी मंच संरचना को लेकर भी इब्सन ने इसे यथार्थवादी शैली से भी ऊपर उठा दिया। उसके संवादों का तानाबाना सावधानी से बुना गया है जो आम ड्राईंग रूम की बातचीत से एकदम भिन्न है और उसके ड्राईंग रूम का फर्नीचर भी सावधानीपूर्वक चुना गया है। इब्सन के संवाद और मंच-परिकल्पना ऐसी है कि उसके हर लैम्प, हर खिड़की या छज्जे की भी एक भूमिका है। उसके नाटकों की स्थितियों और उसके मंच निर्देशों के बिना कोई बत्ती नहीं बुझाई जा सकती, कोई पर्दा नहीं गिराया जा सकता। ये सब उसके प्रतीक हैं। लेकिन इब्सन और भी कई तरह के प्रतीकों का इस्तेमाल करता है जो यथार्थवादी ढाँचे में पूरी तरह उपयुक्त होते हैं—अपनी यथार्थवादी गरिमा को बनाकर रखते हुए भी। इसलिए हेड्डा गेबलर द्वारा ऐलर्स्ट्स की पांडुलिपि जलाना बाल-हत्या जैसा है न कि साहित्यिक वितंडावाद। इब्सन निर्विवाद रूप से आधुनिक प्रतीकवादी नाटकों के जनक हैं।

जैसा कि गेस्कोग्नि ने पहचाना है कि जब नाटककार समकालीन स्थितियों को गंभीरता से लेने लगते हैं तब स्थिति की जकड़न उनके गहरे अर्थ को ढँक लेती है। इब्सन के नाटक,कुछ अपवादों को छोड़कर, व्यक्ति के आध्यात्मिक जीवन और प्रेम से सरोकार रखते है। दुनिया भर के समीक्षक उनको 'समस्या प्रधान' नाटक कहते हैं, लेकिन उनकी यथार्थवादी परिकल्पना प्रधान हो जाती है। यही ब्रेष्ट का उनके बारे में प्रसिद्ध कथन प्रासंगिक हो उठता है, जो समकालीन अर्थवाले आधुनिक नाटकों के पुरोधा माने जाते हैं, पर इन्होंने भी अपने नाटकों की परिकल्पना (सेटिंग) अपने दर्शकों से भिन्न देश-काल में रखी थीं जैसे कि पूर्व में *द कॉकेसियन चॉक सर्कल* या *द गुड वुमन ऑफ़ सेटजुआ* और पिछली शताब्दियों में *मदर करेज* और *गेलिलियो* को रखा गया है।

नाटकीय परिकल्पना (मेथड) : इब्सन छोटे-छोटे ब्यौरों को इतिहास के टुकड़ों से अपने नाटकों में भरते हैं। उनकी तकनीक यह रहती है कि हर अंक के बाद वो एक छोटा अंतर्द्वन्द्व उजागर करते हैं और सबसे अंत में एक बड़ा संकट या चरम अंतर्द्वन्द्व विस्फोट की तरह दर्शक के सामने फटता है। इससे उनकी त्रासदी अधिक विश्वसनीय और शायद अधिक सहनीय हो जाती है। बाद में आर्थर मिलर ने इस तकनीक का इस्तेमाल अपने नाटकों में किया—धीरे-धीरे संकट को उजागर करना और संकट को बढ़ाते जाना। ज्याँ पाल सार्त्र ने भी अपने नाटकों के



क्रियाकलाप इसी तरह के रखे—कथा व्यक्ति से समाज की ओर बढ़ती है और आख़िर में फिर व्यक्ति पर समाप्त होती है।

संवाद : कोन्सटानटीन स्टानिस्लाव्स्की (1863-1938) ने चेखव के नाटकों के चरित्रों को साकार करने में अभिनेताओं को गहरी प्रेरणा दी है कि वे यथार्थवादी अभिनय के लिए चरित्रों का गहराई से अध्ययन करें, ने कहा है कि एक व्यक्ति के व्यक्तित्व के कई पहलू होते हैं जैसे कि एक हीरे के अनेक कोण होते हैं। यथार्थवादी अभिनय में भी जैसे कि *गुड़ियाघर* में टॉरवाल्ड हेलमर और नोरा के अभिनय में भी कोई यह देख सकता है कि कैसे किसी भी व्यक्तित्व के बहुआयामी पहलू मंच पर कभी-कभार ही उजागर होते हैं। स्टानिस्लाव्स्की की 'मेथड एक्टिंग' के तीन पहलू हैं। पहला, वह कौन है जो बोल रहा है और उसका उसके साथ रिश्ता क्या है? दूसरे शब्दों में, इनके बीच अतीत में कौन-सा सामाजिक संबंध रहा और आजकल क्या रिश्ता है? दूसरे, जब कोई बोलता है तो किस तरह की प्रतिक्रिया होगी? क्या कोई कुछ कहने को बोलता है या केवल झूठे संभाषण से सत्य को छिपाता है और बोलने का कोई उद्देश्य है? तीसरे, जिस व्यक्ति को संबोधित किया जा रहा है वह उस आदमी की संवेदना को किस तरह समझता है?

कोलकाता में *बहुरूपी* के बांग्ला नाटक *पुतुल खेला* के संदर्भ में देखें तो महान निर्देशक शंभू मित्रा ने यथार्थ की खोज की, केवल बाहरी यथार्थ की ही नहीं, बल्कि अधिक चुनौतीपूर्ण तरीक़े से 'भीतरी यथार्थ' की खोज की। स्टानिस्लाव्स्की की मेथड एक्टिंग के अनुसार शंभू मित्रा ने इसे किया जिसमें एक अभिनेता अपनी 'भावात्मक स्मृति' का उपयोग करता है जिसमें वह पिछले अनुभवों और भावनाओं का सहारा लेता है ताकि वह चरित्र की अंदरूनी विशेषताओं को उजागर कर सकें। मित्रा ने इब्सन के बाद टैगोर के *रक्त कर्बी* को चुना क्योंकि वे उस 'सत्य' को उजागर करना चाहते थे जो जीवन में अन्तर्भूत है। इन दोनों नाटकों ने अपार सफलता प्राप्त की।

दिल्ली में इब्सन के नाटक

इब्राहिम अलकाज़ी, रंगमंच के विद्वान और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (एनएसडी) के निर्देशक (1962-1979) :

इन्होंने अकेले अपने बलबूते राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय को वर्तमान ऊँचाईयों पर पहुँचाया, जिनकी कई पीढ़ियाँ आभारी हैं कि इन्होंने रंगमंच की उनके लिए नई ज़मीन तैयार की।

1. इब्सन के नाटकों, चरित्रों और विचारों का विश्लेषण करना काफ़ी विस्तृत होगा, इसलिए मैं उनके उन नाटकों को ही लूँगा जिनको मैंने किया और जिनकी केन्द्रीय चरित्र महिलाएँ थीं जैसे *ए डॉल्स हाऊस* में नोरा है, *घोस्ट्स* में मिसेस एल्विंग है और *हेड्डा गेबलर* में हेड्डा



*रॉबिन दास निर्देशित **गुड़िया घर** रानावि की प्रस्तुति*

गेबलर है।

2. नोरा एक सीधीसादी औरत है, जो टोरवाल्ड हेलमर के साथ सुखी वैवाहिक जीवन जी रही है। सामाजिक दृष्टि से पुरुष स्त्री से श्रेष्ठ है। महिला महज़ एक गुड़िया है। हमारी आर्थिक व्यवस्था ऐसी है कि आदमी कमाता है, जबकि स्त्री उसकी आश्रिता बनकर रहती है। नैतिक संबंध वे हैं जिसे समाज ने बनाया है। सामाजिक, आर्थिक और नैतिक तीनों मोर्चों को मिलाकर नाटक अपनी चरमावस्था पर पहुँचता है।

3. मिसेज एल्विंग को भूत आता है जिसे झाड़फूंक कर भगाने की ज़रूरत है। अपने विश्लेषण में वह स्वयं को कुछ कम पाती है और अपने को पाप की छाया में पाती है। नैतिकता के कारण वह अपने सृजनशील पति से अपने को दूर रखती है। उसका सृजनशील पुत्र एक कलाकार है जिसे अपने माता-पिता से दूर भेज दिया जाता है और उसे बीमारी विरासत में मिली है। सूर्य प्रकाश और बुद्धिमानी का प्रतीक है, जो पृथ्वी को जीवन की किरणें भेजता है। इनके बीच धर्म और समाज के स्तंभ हैं जो चर्च के प्रतीक हैं। ग़रीब लोगों की कमाई मंदिर, मस्ज़िद या गिरजाघर को दे दी जाती है और अनाथालय को आग लगा दी जाती है। मिसेज एल्विंग समाज के साथ ठीक संबंध बनाए हैं लेकिन वह अपने पति के अवैध बच्चे को अपने पास रखती है और उसे नौकरी देकर उसका शोषण करती है। इसके बाद वर्ग संघर्ष दिखाया गया है—वरिष्ठ अल्वी की दो संतानों के बीच। यह अपराध और पाप का जीवन है। इसमें दुख सहने की ताक़त है। उस आदमी के प्रति बदले की भावना है जिसके पास वह लौटी है। पत्नी के रूप में मिसेज एल्विंग ठंडी है और नैतिक रूप से श्रेष्ठ है। कई विडंबनाओं के साथ उसका

साक्षात्कार होता है। पत्नी का जीवन एक झूठ ही रहा—उसने अपने बेटे और नौकरानी के साथ छल किया। नौकरानी बाद में वेश्या का जीवन अपना लेती है।

4. हेड्डा गेबलर प्रभुत्व ज़माने वाली महिला है जो विनाशक क्षमता रखती है। वह अपने पति से नफरत करती है और दूसरे किसी आदमी के प्रति आकर्षित होती है। न्यायाधीश ब्रेक उसको ब्लैकमेल करने की कोशिश करता है। वह अपने पूर्व प्रेमी के लिए बदले की भावना से भर उठती है और आख़िर में अपने को ही ख़त्म कर लेती है।

5. उपर्युक्त तीनों के अलावा, ब्रांड एक धर्मभीरू चरित्र है। फिर आर्थिक, नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ जमीन तैयार करती है और ब्रांड के पास आत्महत्या के अपने तर्क हैं। एक अकेले आदमी के रूप में, उसके पास कोई दिव्यशक्ति नहीं है और निराशा तथा तनाव के बीच वह अपने आपको ही ख़त्म कर लेता है।

6. *घोस्ट्स* और *ब्रांड* दोनों भारी भरकम विचारों वाले नाटक हैं और इनमें उपदेश भरे हैं।

अनुराधा कपूर 'विवादी' की निर्देशक और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में प्राध्यापक

1. नाट्य विद्यालय के अंतिम वर्ष के विद्यार्थियों के लिए *वाइल्ड डक* का निर्देशन करते हुए, मैंने इब्सन का चुना हुआ अपना पाठ तैयार किया—उनके अभिनय के लिए *लिटल इयोल्फ, वाइल्ड डक* और *ए डॉल्स हाऊस* को मैंने लिया।

2. वाइल्ड डक की प्रस्तुति के लिए मैंने वीडियो इंस्टालेशन का प्रयोग किया—सज्जा में, फर्नीचर में कोई बदलाव नहीं किया। मंच पर तिनके, लकड़ी, खसखस आदि का उपयोग कैमरे के माध्यम से किया।

3. मैंने इब्सन को काफ़ी प्रासंगिक पाया जिसमें मनोवैज्ञानिक कोण हैं, उपकथाएँ हैं और नाटकीय विषयवस्तु है। उसे भावात्मक धरातल पर अच्छी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है।

4. अभिनय की कक्षाओं में, विद्यार्थी इब्सन को इच्छी तरह ग्रहण करते हैं। उसका यथार्थवाद ऐतिहासिक नहीं है, बल्कि स्टानिस्लाव्स्की के यथार्थवाद के जैसा है, जिसमें शब्दों का ढाँचा अधिक है। माईकेल चेख़व के अपने पिता के नाटकों के लिए लिखे गए 'एक्शन एंड ड्रामेटिक नोट्स' यहाँ संदर्भ के रूप में काम आ सकते हैं।

बंसी कौल, 'रंग विदूषक' के निर्देशक और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के अतिथि निर्देशक

1. 'पीएर जिन्ट' का रूपांतर *गपन गोपे गप्पनगमदास* मैंने एनएसडी की रेपर्टरी के लिए निर्देशित किया।

2. इब्सन के मध्यवर्गीय चरित्रों वाले नाटकों ने मुझे आकर्षित नहीं किया, लेकिन 'पीर गिन्ट' की कविता ने आकर्षित किया, जिसमें मेरे विचार में उसने पहली बार लोकसंवेदना से प्रेरणा ली। यहाँ एक ग्रामीण शहर में घुस जाता है और लोककथा का रूप ले लेता है।

3. यह विस्थापन का गीत है—हमारी इस 21वीं सदी के जैसा जिसने कितने ही विस्थापन झेले, प्रकृति के, आवाज़ों के, भाषाओं के और भावभंगिमाओं के। हमारा गप्पो इस माहौल में खो-सा

जाता है लेकिन इसके प्रति भावुक नहीं है। वास्तव में, जो भी विस्थापन में तर्क ढूँढ़ता है वह पागल करार दिया जाता है और राजनीतिक दृष्टि से ठीक नहीं कहलाता।

4. मैंने इस नाटक को बहुआयामी रूप दिया है और एकरेखीय नहीं रहने दिया है ताकि मैं इस विचार को रेखांकित कर सकूँ। वास्तव में यह जीवनीपरक नाटक है क्योंकि इब्सन ने भी विस्थापन झेला है। इसकी कथा हम सबको कभी-न-कभी छूती है और मैं भी कश्मीर से विस्थापित हूँ।

5. इब्सन का प्रतीक-मोह काव्यात्मक और 'एब्सट्रैक्ट' है। मैंने इस नाटक में कुछ हमारे अपने प्रतीकों और मिथकों का सहारा लिया है जिससे हमारे कई लोग प्रेरणा ले सकते हैं। उदाहरण के लिए, हिरण की जगह मैंने हमारे बारहसिंगा का इस्तेमाल किया है।

6. गप्पो को चरखा कातने की आदत है और वह अपने बारे में ही गाँव वालों से पहेली बुझाता रहता है। यहाँ ईसाईयत और विश्वास का गहरा प्रभाव है। जब गाँव की लड़की उसके लिए लोरी गाती है तो वह उसकी माँ और प्रेमिका दोनों है। यहाँ शिव-पार्वती है और पंचधाम है और मोक्षयात्रा है। यह नाटक हम सबके लिए है और मैं इसके लिए नाट्यात्मक चुनौती लेने को हमेशा तैयार हूँ।

मोहन महर्षि, जयपुर के *संकेत* के निर्देशक और *नटुआ* दिल्ली के भी।

1. एक बार तो मैं केवल ब्रेष्ट से भरा हुआ था, बर्लिनार एनसेम्बल के साथ एक साल तक काम करने के बाद ऐसा हुआ, लेकिन शंभू मित्रा के *पुतुल खेला* ने सब कुछ बदल दिया। पहली बार 1970 में नेशनल थिएटर द्वारा इंग्लैंड में किया गया *पीर गिन्ट* का प्रदर्शन मैंने देखा जिसमें एल्बर्ट फिली और सर जॉन गिलगुड की दोहरी भूमिका थी। इसके बाद मैं इब्सन के पास आया। इब्सन ने मुझे छुआ।

2. 1962 में अलकाज़ी ने एनएसडी के विद्यार्थियों के साथ *ए डॉल्स हाऊस* किया जिसे कुदसिया ज़ैदी ने अनूदित किया था जिसमें मैं हेल्मर था और तब किशोरी अंजला चिटनीस (जो बाद में मेरी पत्नी बनी) नोरा बनी थी। मुझे याद है शंभू मित्रा और तृप्ति मित्रा (बंगाली की प्रख्यात नोरा) प्रसिद्ध मराठी नाटककार मामा वरेरकर के साथ ठहरे थे, तब तृप्ति ने हँसते हुए अंजला से पूछा था कि उसने *नोरा* करने की हिम्मत कैसे की जिसमें काफ़ी अंदर पैठने की ज़रूरत थी।

3. मैंने जयपुर में 1968 में कुदसिया जैदी द्वारा अनूदित *ए डॉल्स हाऊस* किया और पाँच शो किए। यह नाटक महिला स्वतंत्रता के लिए तो उल्लेखनीय है ही, इसने भीतरी यथार्थ के प्रति भी हमारी आँखें खोलीं। नेमिचन्द्र जैन द्वारा अनूदित *घोस्ट्स* भी मैंने वहाँ निर्देशित किया।

4. वास्तव में 19वीं शती के उत्तरार्द्ध और 20वीं शती के पूर्वार्द्ध का भारतीय रंगमंच इब्सन के प्रभाव में था और उसके द्वारा उठाए गए सामाजिक मुद्दों की गिरफ़्त में था। हमारी पीढ़ी इब्सन के सामाजिक यथार्थ से भरे नाटकों के प्रभाव में थी। ब्रिटेन के उपन्यासकार और नाटककार जॉन गाल्सवर्थी (1867-1933), ब्रेष्ट और अंतोन चेख़व (1860-1904) के प्रभाव में भी भी यह पीढ़ी रही।

जॉय माईकेल—*यात्रिक* के निर्देशक

1. मैंने *वाइल्ड डक* 1950 में निर्देशित किया। यात्रिक की स्थापना से पहले जिसमें कुसुम हैदर जिना बनी थी। यह एक शिक्षाप्रद अनुभव था। यह एक यथार्थवादी नाटक था, जिसे बहुत कम ख़र्चे में बग़ैर किसी सेट के किया गया। दर्शकों की कल्पना के लिए काफ़ी कुछ रखा गया। इसके बाद मैंने *घोस्ट्स* किया, जिसमें मैं माँ मिसेस एल्विंग बनी और मेरा बेटा ओसवाल्ड बना रोशन सेठ। इब्सन का मेरा दूसरा नाटक *हेड्डा गेबलर* था, जिसमें मैंने प्रमुख भूमिका की।

2. मुझे शेक्सपीयर के बाद इब्सन महानतम नाटककार लगते हैं जिसने आधुनिक संसार की जटिलताओं से हमारा साक्षात्कार करया। उसने समकालीन जीवन से कई तरह के विषय उठाए और विविध छवियाँ दिखाई। उसके माध्यम से ही हमने समकालीन समाज की विडंबनाओं को जाना जिसमें व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विसंगतियाँ हैं। हाँ, वह अपने समय के समाज के प्रति तो प्रासंगिक था ही। हमारे समय के लिए भी वह उतना ही प्रासंगिक है।

3. उदाहरण के लिए *ए डॉल्स हाऊस* में एक औरत को दिखाया गया है जो एक पिंजरे में रहती है, शर्म, पराजय और झूठ के बीच। *घोस्ट्स* में घरेलू जीवन की खोखलाहट दिखाई गई है। यहाँ मूल्यों का संघर्ष है। *हेड्डा गेबलर* में प्रमुख चरित्र महिला के निश्चित विचार और क्रियाकलाप। वह अपने को अपने प्रेमी से अलग नहीं करती इसलिए विश्वासघात करती है। वह जीवन के लिए प्यासी है। लेकिन फिर भी वह इससे भयभीत है और आध्यात्मिक चोगा पहनने से इंकार करती है।

रॉबिन दास, *आदिनाट्य दृष्टि* के निर्देशक

1. मैंने अलकाज़ी के निर्देशन में इब्सन को सीखा जो इब्सन की संवेदनाओं के साथ एकाकार थे। बाद में मैंने *पीर गिन्ट* का निर्देशन अंतिम वर्ष के विद्यार्थियों के लिए किया जिसमें मैंने दृश्य कलाओं पर अधिक ज़ोर दिया। मेरे लिए यह एक स्वप्न नाटक था जिसे मैंने बंगाल, बिहार, मिथिला में अतियथार्थवादी रूप के साथ जोड़ा—यथार्थवाद का अति नाटकीयता के साथ मिश्रण करके। पीर की माँ 'आसे गिन्ट' की मृत्यु और 'ट्रोल' साम्राज्य को दिखाते समय मैंने ऐसा किया।

2. 2002 में मैंने *ए डॉल्स हाऊस* यथार्थवादी नाटक के रूप में किया—ग्रीक त्रासदी की तरह—और इसे आंतरिक यथार्थवाद से जोड़कर देखा कि कैसे यह सामाजिक संबंधों की व्याख्या करता है। लेकिन इसके लिए मैंने तीन 'नोरा' दिखाई। इस कारण मुझे इसे ऑपेरा और बैले बनाने में सुविधा हुई। पहली नोरा एक जीवंत महिला थी जैसा कि उसके पति ने उसे जाना—दूसरी नोरा फ्लैशबैक के माध्यम से आती है। वह अपने पति के घर से जाने के एक साल बाद लौटती है और अपने विगत जीवन के बारे में बताती है और तीसरी नोरा एक असली मनुष्य है, नीच, निराश और चुनौतीपूर्ण।

एम.के. रैना, *प्रयोग* के निर्देशक और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के अतिथि निर्देशक

1. मैंने एनएसडी के लिए *घोस्ट्स* का निर्देशन 'प्रेत' के रूप में किया जिसमें नीना गुप्ता, आलोकनाथ और अन्य बड़े-बड़े कलाकारों ने काम किया था। इसके बाद मैंने *एन एनेमी ऑफ़*

द पीपल हिंदी में *जनता का दुश्मन* रूप में किया।

2. *घोस्ट्स* यथार्थवादी नाटक है जिसमें सामाजिक कथा है। पश्चिमी नार्वे में मिसेज एल्विंग का घर है। *एन एनेमी ऑफ़ द पीपल* श्रीराम सेंटर के तलघर में खेला गया था जिसमें दर्शक बीच में बैठे थे और उनके चारों ओर मंच था ताकि स्थान का अच्छा इस्तेमाल किया जा सके।

3. मैंने पाया कि इब्सन की विषयवस्तु भारत से जुड़ी हुई है, जिसे हम पूरी तरह भारतीय चरित्रों में ढाल सकते हैं। वह हमारे समाज के अधिक निकट है क्योंकि हमारे यहाँ भी वर्ग संघर्ष है।

4. *घोस्ट्स* में ग्रीक त्रासदी की छाया है।

तोरित मित्रा, चित्रकार और *संसप्तक* के निर्देशक

1. मैंने 1997 में *द मास्टर बिल्डर* बंगाली में *बाहुब्रही* नाम से निर्देशित और अनूदित किया। मैंने 2002 में *लिटल इयोक* बंगला में *अतीक* नाम से किया।

2. किसी भी विदेशी नाटक में आमतौर पर भारत से भिन्न पृष्ठभूमि होती है। लेकिन इब्सन को करते वक्त मैंने पाया कि उनके यथार्थ को रूपांतरित किया जा सकता है और विषयवस्तु के साथ हमारा लगाव वैसा ही हो सकता है। *लिटल इयोल्फ* लंबा नाटक नहीं है और हमारे लिए इसे करना आसान था।

3. इससे भी ज़्यादा, मैंने पाया कि इन दोनों नाटकों की कथावस्तु बंगाली समाज के अधिक निकट है जिसकी संरचना उत्तर प्रदेश या मध्यप्रदेश के सामंती समाज से भिन्न रही है। बंगाल में अन्य कई राज्यों के विपरीत, नाटक की एक लंबी परंपरा रही है। सामाजिक यथार्थवाद यहाँ बाहर से आयातित करने की ज़रूरत नहीं है जैसे कि हम 'एब्सर्ड' नाटकों को आयात करने की ज़रूरत पाते हैं। सेमुअल बैकेट (1906-89) या ज्याँ अनुयिल्हा (1910-87) के 'एब्सर्ड' नाटकों को हम आयात करते हैं। मोहित चट्टोपाध्याय के *मृत्यु संघबाद (मृत्यु की लहरें), मंच ओ' रावण (रावण और भेड़)* और *चंद्रलोक अग्निकांडो (चन्द्रलोक पर आतिशबाजी)* मुख्यतया एब्सर्ड नाटक है या मनोज मित्र के *सजानो बागान (सजा हुआ बागीचा), राज दर्शन (शाही दर्शक)* और *पाराबास (निर्वासन)* रूपक नाटक हैं।

4. *लिटल इयोल्फ* श्रीराम सेंटर के तलघर में खेला गया था जिसमें साहित्यकार एल्फ्रेड एलमेर्स के लिए एक स्टडीरूम भी था और श्रीमती रीटा एलमेर्स के लिए एक रसोईघर भी था (जो हमेशा काम में लगी रहती थी)। कठपुतली छायाओं के माध्यम से पर्दे पर कार्यकलाप दिखाए जा रहे थे। एक बार जब इयोल्फ मर जाता है तो उसकी प्लास्टिक की तिपहिया पर्दे को फाड़कर बाहर आती है।

5. *द मास्टर बिल्डर* के लिए मैंने एक विस्तृत आफ़िस बनाया। इस कार्यालय में कई कक्ष थे और हालवर्ड सोलनेस के लिए कई ड्राईंग बोर्ड भी थे। सामने एक बड़ा-सा दरवाज़ा था जिसका वास्तुशिल्प प्रमुख था। बड़े-बड़े स्तंभ मंच के चारों कोनों में थे।

6. मैंने एल्मर्स को सामंतवादी चरित्र में ढाला जो बाहर से उपनिवेशवाद का समर्थन करता है। वह शायद बाद के दौर में तकनीक के साथ समझौता करके अपनी अस्मिता बचाने का प्रयत्न करता है।



रॉबिन दास निर्देशित डॉल्स हाउस का एक दृश्य

कोलकाता में इब्सन के नाटक

आधुनिक बंगला रंगमंच की दो महान प्रतिभाओं—उत्पल दत्त और शंभु मित्र ने कोलकाता में इब्सन के नाटकों की रंगमंचीय संभावनाओं को तलाशा। दत्त के निर्देशन में 1950 में लिटल थिएटर ग्रुप ने *घोस्ट्स* किया। इसके बाद *ए डोल्स हाऊस* का अनुवाद *पुतुलेर संसार* नाम से हुआ। संभवतः पहली बार इनके माध्यम से इब्सन के नाट्य साहित्य से संसार के इस कोने का परिचय हुआ। बहुरूपी के लिए किए शंभू मित्र के 'ए डॉल्स हाऊस' और *एन एनेमी ऑफ़ द पीपल* ने ही 1950 में कोलकाता में पढ़े-लिखे मध्यवर्ग के बीच इब्सन को लोकप्रिय बनाया।

कुमार राय, रंगमंच विद्वान और 'बहुरूपी' के निर्देशक

1. जब बहुरूपी ने *ए डाल्स हाऊस* को बांग्ला में *पुतुलखेला* नाम से किया तब इसे केवल स्त्री-स्वातंत्र्य के रूप में ही नहीं देखा गया। यह देखा गया कि हमारे इस गुड़ियों के संसार में पति-पत्नी दोनों केवल खिलौने हैं—महज कठपुतली हैं हमारी जातीय संस्कृति और पारिवारिक इकाई के हाथों नचाते हुए। हमें पता नहीं है कि हम कठपुतली हैं और यही हमारी त्रासदी है।

2. हमने पुरुष को स्त्री का संरक्षक, निर्माता और पालक माना है। एक वटवृक्ष की तरह पुरुष स्त्री को शरण देता है और स्त्री के लिए उसका प्रेम वात्सल्य की तरह का है जैसे किसी शिशु के लिए हो।

3. पुरुष और स्त्री के सहजीवन में यह आशा की जाती हैं कि पुरुष मर्दाना व्यवहार करेगा

जबकि स्त्री कमज़ोर रहेगी। हर परिवार में यह कठपुतली खेल खेला जाता है। हमारी महिलाएँ जानती हैं कि परिवार चलाने के लिए उन्हें पुरुष के अहं को चोट नहीं पहुँचानी है और पुरुष जानते हैं कि महिलाओं को उपहार दे देकर उन्हें खुश रखना है। इस तरह इन दोनों का यह सहजीवन हालाँकि प्रेम से शुरू हुआ था, धीरे-धीरे बाज़ार की ख़रीद एवं बिक्री की वस्तु बन जाता है।

4. हम अपने घर झूठी और प्रेमहीन नींव पर बनाते हैं—बच्चे पैदा करते हैं और उन्हें ईमानदार और अच्छे मनुष्य होने की कामना करते हैं। हम आशा करते हैं कि कठपुतली के खेल में वे कठपुतली नहीं बनेंगे। नोरा का प्रसिद्ध कथन है—"हमारा घर एक रंगमंच रहा है। मैं तुम्हारी गुड़िया-बीवी हूँ यहाँ जैसे अपने बचपन में मैं पापा की गुड़िया थी और बच्चे भी हमारे गुड्डे-गुड़िया हैं।" उसके अंतिम शब्द हैं कि वह संसार में एक औरत की तरह नहीं, बल्कि एक इंसान के रूप में रहना चाहती थी।

5. शंभु दा ने हमें निर्देशक के रूप में जो समझाया—वो मैं याद करता हूँ—"यह सही है कि निश्चित संवादों के माध्यम से चरित्र-चित्रण करना चाहिए लेकिन वास्तव में हमें उन्हें स्थिति के माध्यम से साकार करना चाहिए। संवाद तो केवल बहते हुए हिमखंड के हिलते होंठ हैं।"

6. ख़ालिद चौधरी की मंच परिकल्पना में मध्यवर्गीय घर गृहस्थी दिखाई गई थी। रेखाएँ, रंग और स्तर वैसे ही थे। ईंट के रंग के घर थे। पहले दृश्य में दरवाज़ों के परदो में, खिड़कियों के परदों में और तकिए के लिहाफ़ों में पीले रंग की अधिकता थी जिनसे उत्सवी माहौल में आँखें चौंधिया जाती थीं। चमकते पार्श्व में नोरा का व्यक्तित्व दब-सा जाता था। इसके विपरीत, अंतिम दृश्य में हमारी आँखें बाहरी दरवाज़े की ओर लग जाती हैं और पराजित टॉरबाल्ड जब कुर्सी के हत्थे पर झुकता है तो उसका आकार कुर्सी जैसा हो जाता है। इसके बाद दरवाज़ा बंद होता है। नोरा ने अपने पति का घर छोड़ दिया है।

7. 'बहुरूपी' ने 1952 में *एन एनेमी ऑफ़ द पीपल* बंगला में *दुष्चक्र* नाम से किया। पश्चिम में इब्सन को यथार्थवाद का जनक माना जाता है इसलिए अतियथार्थवाद का सहारा लिया जाता है लेकिन यहाँ हमने देशी तरीक़ा अपनाया—इसके आंतरिक सत्य और नाटकीय घटनाक्रम के साथ न्याय करते हुए।

8. शुरू में, डॉ. थामस स्टॉकमान सामाजिक जीवन में घर कर गई बीमारी का पता लगाते हैं और आशा करते हैं कि इसे दूर करने में हर कोई मदद करेगा। लेकन इसमें सबसे बड़ा अवरोध उच्च वर्ग है, इसलिए वे समाज के प्रगतिशील तबके का आह्वान करते हैं। जब यह तबका भी उनकी मदद नहीं करता तो निराश वैज्ञानिक आम आदमी की शरण में जाता है और उन्हें बताता है कि उनके लिए अच्छा क्या है। लेकिन आधुनिक प्रचारवादी तंत्र उसकी इस अंतिम आशा को भी नाकाम कर देता है।

9. यहाँ कई विचलित करने वाले प्रश्न उठ खड़े होते हैं—न्याय के लिए डॉ. स्टॉकमान कहाँ जाएँ? सच और झूठ तय करने के लिए कौन से पैमाने बचे हैं? क्या व्यक्ति को जनता के साथ हाथ मिलाकर चलाना चाहिए? विशेषकर हमारे देश में जहाँ लोकतंत्र है, क्या अवसरवाद सामाजिक-राजनीतिक विवेक पर हावी हो जाएगा?

10. इतिहास समय-समय पर ऐसे प्रश्न उठाता है जब प्रगति का पहिया सीधी एक दिशा में नहीं

घूमता और व्यक्ति को अकेले दम पर लड़ाई लड़नी पड़ती है—गिरते सच को, मर्यादा को फिर से स्थापित करने के लिए। हमने इस विचार को नाटक में उठाया है।

उषा गांगुली, रंगकर्मी की निर्देशक

1. *ए डॉल्स हाऊस* हमारा दूसरा नाटक था और इसे हिन्दी में *गुड़िया घर* नाम से तृप्ति मित्रा ने निर्देशित किया था।

2. 'बहुरूपी' की विख्यात प्रस्तुति से भिन्न होने के लिए मैंने नोरा को एक नर्तकी बनाया— मूल पाठ में जैसे तारांतुला नृत्य सुझाया गया है वैसे ही। शंभू दा ने इसमें कविताएँ रखी हैं। इसके अलावा खालिद ही हमारे भी मंच सज्जाकार थे—उन्होंने मंच पर एक पिंजरा बनाया—नोरा के घर की चहारदीवारी में उसके चरित्र को उभारने के लिए। *बहुरूपी* के लिए उन्होंने जो मकड़जाल बुना था उसे हमने हटा दिया।

3. नाटक में प्रताप जायसवाल ने टारवाल्ड हेल्मर की भूमिका की। कुल मिलाकर तृप्ति दी ने इसे बहुरूपी की प्रस्तुति से अधिक जीवंत बना दिया।

4. अगला अवसर मिलने पर मैं हेड्डा गेबलर करने को उत्सुक हूँ। मैं इस नाटक को शानदार मानती हूँ और इसका प्रमुख पात्र हमारे समाज में काफ़ी प्रासंगिक है।

रुद्रप्रसाद सेनगुप्ता *नंदिकर* के निर्देशक

1. हमने पहले पहल *घोस्ट्स* अजितेश बनर्जी के निर्देशन में बंगला में *बिदेही* नाम से किया। हमने *ए डाल्स हाऊस, नीला* नाम से किया जिसकी हीरोइन नोरा है। स्वीडन के प्रख्यात फ़िल्मकार इंगमार बर्गमान के अनुवाद और निर्देशन में यह किया।

2. हमने नोरा का चरित्र अलग तरीके से उठाया जैसा कि 1894 में नार्वेजियन महिला परिषद के भोज में इब्सन ने उसे रखा था। उन्होंने कहा था—"मैं वूमेन राइट विंग का सदस्य नहीं हूँ। मैं आपको इस भोज के लिए धन्यवाद देता हूँ, लेकिन महिला अधिकार आंदोलन के लिए लड़ने का सम्मान लेने का मैं अधिकारी नहीं हूँ। मुझे यह भी स्पष्ट नहीं है कि वास्तव में महिला अधिकार आंदोलन है क्या? मेरे लिए तो इसने आमतौर पर मानवता के लिए समस्याएँ ही खड़ी की हैं।"

3. एक अन्य प्रसिद्ध भाषण में उन्होंने कहा—'मेरे क्रांतिकारी दोस्तों के लिए'—उन्होंने नारा दिया—'कमान को तोड़ दो और मैं तुम्हारे साथ हूँ।' नोरा की धुरी का संकेत करते हुए उसने प्रचलित धारा को तोड़ने का संदेश दिया।

4. इब्सन स्ट्रिंगबर्ग की अपेक्षा अधिक विनम्र, संकोची एवं समझदार था, फिर भी उसको सत्य और मानवीय मूल्यों की तलाश थी।

5. *ए डॉल्स हाऊस* की मेरी व्याख्या यह है कि नोरा ने पहले तो आज्ञाकारी जीवन जिया और बाद में विद्रोह किया, इससे उसका जीवन त्रासद हुआ। उसने खुद ही संकट मोल लिया। कोई नहीं जानता कब कहाँ किस संकरी गली में उसका जीवन समाप्त होगा—नार्वे की कड़कड़ाती ठंड में किस बर्फ़ीली घाटी में वह जा टिकेगी!

6. इब्सन को एक नाटककार के रूप में महज स्त्री-पुरुष संबंधों के सांसारिक सुख के व्याख्याता के रूप में देखना उसके कद को कम करके आँकना होगा। उदाहरण के लिए 'ब्रांड' को देखें जहाँ वह अस्तित्व और सत्य के अर्थ की खोज करता है। या *पीर गिन्ट* में वह झूठ और मानवता के छलावे का पर्दाफाश करता है। वह जीवन की हार-जीत का गुणा भाग करने नहीं बैठता है।

अरुण मुखोपाध्याय, *चेतना* के निर्देशक

1. ओसलो में 2004 में इब्सन एवार्ड पाने के बाद मैंने *एन एनेमी ऑफ़ द पीपल* किया था लेकिन मैंने इसका रूपांतर कर दिया था। मैंने मूल पाठ से नगरपालिका के पानी की प्रदूषण की समस्या को बदल दिया था। इसकी बजाय, मैंने सत्यजीत रे की फ़िल्म-पटकथा का इस्तेमाल किया, मोहित चट्टोपाध्याय ने जिसका नाट्य रूपांतर किया जिसमें मंदिर के पूजा के पानी से बीमारी फैलते दिखाई गई है।

2. नार्वे के लोगों को मेरा यह रूपांतर काफ़ी अच्छा लगा और उन्होंने इसकी खुलकर तारीफ़ की।

सांवली मित्रा, *पंचम वैदिक* की निर्देशक

1. मैं इब्सन से प्रेम करती हूँ क्योंकि टैगोर की तरह वह मुझे बेहतर इंसान बनाते हैं। 1952 में मैंने अपने पिता की *एन एनेमी ऑफ़ द पीपल* प्रस्तुति देखी जब मैं 9वीं कक्षा में पढ़ने वाली बच्ची थी, तब मैं इससे इतनी अधिक प्रभावित हुई थी कि तभी मैंने निश्चय कर लिया था कि मैं नाटक में काम करूँगी। मैंने इसके मुख्य चरित्र की प्रतिबद्धता को समझा और महसूस किया कि जो व्यक्ति सच की रक्षा करने से भयभीत नहीं होता, अगर वह अकेला है तो भी, वह मेरा आदर्श होगा। 1952 में आपको पता होगा लोकतंत्र और मतदान शुरू ही हुए थे।

2. 2002 में मैंने *ए डॉल्स हाऊस* का निर्देशन किया। यह नारीवाद और महिला स्वतंत्रता से भी आगे का नाटक है। मेरे विचार में हर परिवार में जो झूठा रिश्ता चलता है, सारा ज़ोर इसमें उस पर दिया गया है। समाज स्त्री-पुरुष की भूमिकाएँ पहले से निर्धारित कर देता है। पुरुष को ज़्यादा शक्तियाँ प्राप्त हैं (नहीं तो उसकी कोई गिनती नहीं होगी)। महिलाएँ पुरुष के अहं को तुष्ट करने के लिए हैं भले ही वे उससे ज़्यादा प्रतिभावान और कामयाब क्यों न हो। समाज यह भी बताता है कि बच्चों को कैसे बड़ा किया जाए ताकि वे समाज को कोई नुकसान न पहुँचाए। टोरवाल्ड हेल्मर सिद्धांतवादी पुरुष दिखता है, लेकिन वह नोरा का उधार लेना और अपने पिता के दस्तखत की नक़ल करना—हेल्मर को बचाने के लिए—स्वीकार नहीं कर पाता। समाज में हेल्मर की प्रतिष्ठा बचाने के लिए वह ऐसा करती है। नोरा के लिए उद्देश्य प्रमुख है, साधन नहीं। उद्देश्य पवित्र है, तो साधन भी पवित्र है क्योंकि ऐसा करके उसने किसी को नुकसान नहीं पहुँचाया है और उसके पिता दस्तख़त करने की स्थिति में नहीं थे। यद्यपि वह उधार चुका नहीं सकी, लेकिन उसे आशा थी कि उसका पति यह सब समझेगा।

3. दस्तावेज़ देखकर हेल्मर अपना रुख़ बदल लेता है क्योंकि अब वह समाज के प्रति दोषी नहीं है। वह फिर नोरा के सामने पुराने दिनों की अपनी नामर्दी दिखाता है जिसके सामने सारा झूठ बेपर्दा हो गया है। उजागर हो गया है। वह महसूस करती है कि सभी बंधन टूट गए हैं और

उसके साथ रहना अब असंभव हो गया है। यह उल्लेखनीय है कि वह डॉ. रैंक के पास नहीं जाती है न ही उसकी दोस्त क्रिस्टीन लिंडे के पास।

4. इब्सन पर नाटक के अंत को बदल देने के दबाव के बारे में कहा जाता है कि श्रीमती इब्सन ने कहा—"या तो नोरा जाएगी या मैं?"

उत्पल के. बैनर्जी : वरिष्ठ रंग समीक्षक। एक अरसे से हिन्दी और देश की रंग गतिविधियों से सतत् संपर्क में हैं। अंग्रेज़ी दैनिक *पायनियर* समेत विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेखन। दिल्ली में रहते हैं।

राजेंद्र उपाध्याय : कवि, कथाकार, समीक्षक, व्यंग्यकार। पाँच कविता संग्रह, एक कथा संग्रह और आलोचना तथा व्यंग्य की एक-एक पुस्तक प्रकाशित। *रंग तेंदुलकर* तथा *कल्पना* के काशी अंक का सह-संपादन। साहित्यिक पत्रकारिता में गहरी रुचि। आकाशवाणी दिल्ली में समाचार संपादक।

हिन्दी की (उपलब्ध) पहली नाट्य पत्रिका (1894)

महेश आनन्द

भारतेंदु के रंगकार्यों से प्रेरित होकर उन्नीसवीं शताब्दी के कई रचनाकारों ने नाटक लिखे, मंडलियाँ बनाईं और नाट्य पत्रिकाओं का प्रकाशन किया अथवा योजनाएँ बनाईं। इस परिवेश को बनाने में *कविवचनसुधा* (1867), *बिहारबंधु* (1873), *हिंदी प्रदीप* (1877), *सारसुधानिधि* (1881), *ब्राह्मण* (1883) में प्रकाशित नाटक और रंगमंच संबंधी लेखों और टिप्पणियों की शुरूआती भूमिका रही है।

सबसे पहले इलाहाबाद के रत्नचंद्र वकील ने मासिक पत्रिका *नाटक प्रकाश* (26 जून 1874) का कई वर्षों तक प्रकाशन किया। (अंबिका प्रसाद वाजपेयी : *समाचार पत्रों का इतिहास*, पृ. 145) एक अन्य पत्रिका *नाटकोपन्यास* की जो सूचना नाटककार राधाकृष्णदास ने समाचार पत्रों को भेजी थी, वह इस प्रकार है :

> *हिन्दी भाषा में नाटक और उपन्यास का संपूर्ण रूप से अभाव है विशेष करके अँगरेजी और बंग-भाषा के अनुसार उत्तम नाटक आज तक बहुत ही कम प्रकाशित हुए हैं और उपन्यासों के तो अभी तादृश स्वाद से भी हमारे देश-बन्धु-गण वंचित हैं इस हेतु ऐसा विचार किया है कि एक पाक्षिक पत्रिका 20 पृष्ठ की हिन्दी भाषा की पूर्वोक्त नाम की प्रचलित हो, और इसमें केवल मनोहर उपन्यास और नाटक रहें। अनेक कृत विद्वानों ने बंगला और अँगरेजी से अच्छे-अच्छे नाटकों और उपन्यासों का अनुवाद करना भी स्वीकार किया है . . . हिन्दी भाषा के उन्नति चाहने वालों को इसमें सहायता देनी चाहिये।* (*बिहारबंधु*, 20 नवंबर 1878, पृ. 1)

इस पाक्षिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ था या नहीं, इसकी कोई सूचना नहीं मिली। लखनऊ से केशवराम पंड्या द्वारा संपादित सोलह पृष्ठों की एक *नाटक पत्रिका* (1880) का भी उल्लेख मिलता है। *बिहारबंधु* के संपादक ने इसका पहला अंक पाने के बाद लिखा :

> *लखनऊ के पंडित केशवराम पंड्या ने किताब की शक्ल में एक फ़र्मे का एक मासिक पत्र ज़ारी किया है। इसमें नाटक और उपन्यास छपा करेंगे।* (*बिहारबंधु*, 5 अगस्त 1880, पृ. 3)

इस सूचना के साथ उन्होंने इस अंक में प्रकाशित बांग्ला नाटक *सरोजिनी* के 'पहले अंक की पहली झांकी' की समीक्षा भी अपनी पत्रिका में लिखी। (देखिए *नाट्यालोचन* अध्याय)

इसी वर्ष इलाहाबाद से एक अन्य पत्रिका *नाटक प्रकाश* (1880) के प्रकाशन का समाचार भी मिलता है, जो इलाहाबाद के रत्नाकर यंत्रालय से छपती थी। इस पत्रिका के पहले छह अंक पाने के बाद *बिहारबंधु* के संपादक केशवराम भट्ट ने इस पत्र की एक टिप्पणी उद्धृत की है:

इसमें कम से कम दो नाटकों से संक्षेप किया जाएगा और कम से कम 16 सफ़े इस विषय के होंगे . . . समय का नियम न होगा। जब लिखानेवालों को अवकाश होगा और मोल लेनेवालों की वांछा प्रकट होगी तब छापा जाएगा। (बिहारबंधु, 28 अक्तूबर 1880, पृ. 3)

नाट्यपत्र

मंगलाचरण।

नाट्य पत्र का अभिप्राय।

संपादक को प्राप्त छह अंकों में एक से पता चलता है कि इसमें शेक्सपीयर के नाटक *कॉमेडी ऑफ़ एरर्स* पर आधारित नाटक *बिल्फेल* छप रहा था। संपादक ने आशा की थी कि पूरा होने पर यह 'एक उम्दा नाटक होगा।'

आज इनमें से कोई पत्रिका उपलब्ध नहीं है। यहाँ तक कि बीसवीं शताब्दी में छपने वाली पं. नारायण प्रसाद 'बेताब' की उर्दू मासिक *शेक्सपियर* (सितंबर 1906), नरोत्तम व्यास की *रंगमंच* (9 मई 1931), तथा सोहनलाल शर्मा की सचित्र पत्रिका *नाट्यदर्पण* (नवंबर 1933) का भी कोई अंक उपलब्ध नहीं हो सका और किसी पुस्तक अथवा पत्र-पत्रिका में इनका उल्लेख भी नहीं मिलता। इस पुस्तक के प्रकाशन के दौरान इलाहाबाद के नाटककार देवकीनंदन त्रिपाठी द्वारा संपादित पत्रिका *नाट्यपत्र* (1 जुलाई, 1894) के बारह अंकों में से दस अंक प्राप्त हुए। यह पत्रिका इलाहाबाद की विद्याधर्मवर्द्धिनी पाठशाला की सहायता से निकलती थी और विद्याधार्मवर्द्धक यंत्र (प्रेस) से छपती थी।

नाट्यपत्र के नियम

ना—हमारी दक्षिणा राजा राव अमीर वगैरा से २) और गरीब गुरबा से १) विद्यार्थीगण चाहें तो अपने अध्यापक की चिट्ठी देकर ।।) पर पाय सक्तै हैं। डाक महसूल सब से माफ़, बिना पेशगी हम नहीं जा सक्ते। चिट्ठी पत्री बेरिं नहीं, नागरी के सिवाय

उत्तर नहीं दाम मनीआर्डर से बिज्ञापन की छपाई प्रति पंक्ति ।।) और हाल लिखने से जाने जावैंगे। जिनको लेना हो पेशगी दाम भेजैं नहीं लेना हो तुरंत वापस कर दें।

इस विज्ञापन में *नाट्यपत्र* सीधे पाठकों से संबोधित होकर उनसे बातचीत करता है, तभी तो पहली पंक्ति से पूर्व नाट्य का संक्षिप्त रूप 'ना' रखा गया है।

नाट्यपत्र के शीर्षक के नीचे लिखा हुआ है—

'नाट्यञ्जगन्नटस्यैव नृत्यन्नवबिनोदिनः दृष्टश्रुतानुमानैर्यन्नाट्यपचम्प्रकाश्ते'

जगत के नट (विधाता) के नाट्य की तरह नृत्य नवविनोद (मनोरंजन) के लिए जो देखा, सुना या अनुमानित है, उस सबके आधार पर यह नाटक हम दिखाते हैं।

और मंगलाचरण के रूप में

प्रदीप्तिं दिव्यकामेषु सद्दीप्तिं जातिधर्मसु, ग्लानिं कुत्सितभावेषु सद्वाची मुन्नतिं भजे

पंक्तियाँ रहती हैं।

हमारी इच्छा है कि आपकी अच्छे काम के प्रति आसक्ति (प्रदीप्ति) हो जाति और धर्म के प्रति सद्दीप्त हो और कुत्सित भावनाओं के प्रति ग्लानि हो—सहवचन बोलने वाले उन्नति को प्राप्त करें।

इसमें नाटक और प्रहसन के चार-चार पृष्ठ प्रकाशित होते थे। इसके बारे में संपादक ने अपने पाठकों को सावधान किया है :

महाशय सज्जन व देश हितैषी ग्राहको! ये आगे जो आप को 4 पेज नाटक और 4 पेज प्रहसन के मिलते हैं इनको सावधानीसे नत्थी करते जावो औ जो एक पुस्तक पूरी हो जावे तो जिल्द बँधवाय लो। खबरदार इन 4 पेज नाटक व प्रहसन को रद्दी में कभी न पटकना। यदि निहायत तुमको न रुचै तो बहुत जल्द वापस कर देना। रुचै तो दाम भी तुरंत भेज देना, या स्वीकार पत्र लिख देना।

(वर्ष 1, संख्या 1, जुलाई 1894, पृ. 4)

आश्चर्य की बात यह है कि इन पंक्तियों के लेखक को जो दस अंक मिले हैं, उनमें से किसी भी अंक में संपादक देवकीनंदन त्रिपाठी के नाटकों और प्रहसनों के पृष्ठ नहीं हैं। शायद, उपलब्ध अंकों के पहले सहृदय पाठक ने इन पृष्ठों को अपने पास रख लिया था। और, आज वे अनुपलब्ध हैं। इसलिए उनके बारे में कुछ भी कहना संभव नहीं है। दुर्भाग्य से उनके अन्य कई नाटक भी अप्रकाशित हैं, जिनके कारण उनके नाटककार का उचित मूल्यांकन नहीं हो सका।

संपादक ने *नाट्यपत्र* के पहले अंक के प्रारंभ में ही दो सशंक पात्रों की बातचीत से पत्रिका का अभिप्राय समझाते हुए कहा है कि इसमें दो पात्रों की बातचीत के द्वारा देश-प्रदेश के समाचार निकला करेंगे। संपादक का मानना था कि अगर ये समाचार रूपक के द्वारा प्रकट हों तो न केवल जल्दी समझ में आते हैं, बल्कि उनका असर भी होता है। यही कारण है कि वार्तालाप शैली में प्रस्तुत समाचारों ने अपनी व्यंग्यपरक भाषा के साथ नुक्कड़ नाटकों जैसा

आकार ग्रहण कर लिया है। उदाहरण के लिए, 'म्युनिसपलेटी की बदइंतिजामी' (अंक 5) तथा 'मार्ग में दो विदेशी और एक प्रयागवासी' (अंक 3) में क्रमशः स्थानीय व्यवस्था की निष्क्रियता तथा हिंदी भाषा के विकास के नाम पर होने वाले आडंबर पर जो व्यंग्य किया है, उसके नाटकीय रूप को आज के नुक्कड़ नाटकों का बीज रूप कहा जा सकता है। उनके प्रकाशित प्रहसनों में से *जय नारसिंह की* (1876), *कलियुगी जनेऊ* (1886) और *भारती हरण* (1898) में सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों पर तीखे और कठोर व्यंग्य का रूपांकन इन्हीं का विस्तार है। वास्तव में, देवकीनंदन त्रिपाठी का *नाट्यपत्र* ऐसा अनूठा प्रयोग था, जिसका परिवर्तित रूप आज के कई समाचार-पत्रों के रविवारीय संस्करणों में मिलता है। दिल्ली से निकलने वाले अंतर्देशीय नाट्यपत्र *अभिनय* (सं. आनंद गुप्त) के कई अंकों में इसी प्रकार के नाट्य-समाचार प्रकाशित होते रहे हैं।

आज से लगभग 112 वर्ष पूर्व प्रकाशित *नाट्यपत्र* (जुलाई 1894) में संपादक ने सामाजिक-राजनैतिक विषयों पर जो भी संकेत दिए हैं, वे चौंकाने, और भड़काने वाली मुद्रा में नहीं वरन् पाठकों-दर्शकों को सचेत करने वाले अंदाज़ में अंकित हैं। इनमें उन्होंने अधिकारों और कर्त्तव्यों के साथ मानवीय आचरण के कई रूपों को नाटकीय संवाद में ढाला है। इस प्रयोग में उन्होंने माना है कि पत्रिका परिवेश के तात्कालिक सवालों से बच नहीं सकती, यही संपादक की समाज के प्रति जवाबदेही है। इतना ही नहीं उन्होंने इलाहाबाद में 'चारों वर्ण के गरीब' विद्यार्थियों के लिए 'खाना कपड़ा पुस्तकादि' देते हुए 'प्रयाग विद्याधर्मवर्दिनी पाठशाला' भी खोली थी। इसके लिए उन्होंने पाठकों से अन्न और धन के लिए एक अपील (अंक 9-10, पृ. 4) भी प्रकाशित की।

छोटे-छोटे प्रहसनों या नुक्कड़ नाटकों में रूपांतरित पुलिस के भ्रष्ट रूप और ईमानदार पुलिस इंस्पेक्टर का हश्र (*नाट्यपत्र* का विशेष पत्र, 23 सितंबर 1894), मजिस्ट्रेट के कर्त्तव्य और हाकिमों के न्याय (अंक 9-10) से लेकर सार्वजनिक नलों पर कपड़े धोने और नहाने से पैदा होने वाली गंदगी (अंक 2, 6) और सड़कों पर पशुओं के घूमने से होने वाली परेशानी एवं जानवरों पर बेरहमी (अंक 1) तक के नाटकीय समाचारों से इलाहाबाद के सभी कोने नज़र नहीं आते, परंतु जो उपस्थित हैं उनसे गहरा रिश्ता बनाते हुए देवकीनंदन त्रिपाठी ने अपने नाटककार का सदुपयोग किया है। इनमें पात्रों की बातचीत अथवा बहस-मुबाहिसों द्वारा, आजकल की शब्दावली में कहें तो अड्डेबाजी, अपने परिवेश की अभिव्यक्ति के लिए नया स्पेस तलाश किया है। सामान्य, प्रचलित शब्दों और वाक्य-विन्यास ने इस स्पेस को सहज बनाया है।

इसकी तुलना में संपादक ने तत्कालीन नाट्य परिवेश के बारे में कुछ विशेष नहीं कहा। एक अंक में विशुद्ध नाट्य मंडली (अंक 4) की अनिवार्यता पर एक संक्षिप्त टिप्पणी अवश्य की है। विशुद्ध नाट्यमंडली से उनका अभिप्राय पारसी कंपनियों से अलग 'अंधपरंपरा' को दूर करने और 'धूर्तों' के प्रति सजग करने वाले नाटकों को खेलने वाली कंपनियों से था। उन्होंने यह भी कहा है कि अधिकांश प्रदेशों के राजा जिस तरह धन उड़ा रहे हैं उससे प्रजा का हित नहीं हो सकता, बल्कि वे 'ऋणी हो के सब राज्य खो बैठेंगे, मजा बिदेशी करैंगे।' (अंक 9, पृ. 3) इसी उद्देश्य को ठोस रूप देने के लिए वे आर्य नाट्यसमाज (1870) की स्थापना करने और उसे सक्रिय बनाने में सहयोग देते रहे।

उन्होंने *नाट्यपत्र* के कई अंकों (4, 5, 6, 9-10) में नाटक के शास्त्रीय लक्षणों को ही दोहराया, किंतु यह अवश्य कहा है कि नाटक समाज के हित के लिए होना चाहिए। साथ ही,

यह भी कहा कि नाटकलेखन के जितने भी विधान हैं, उनका उद्देश्य मुख्य कार्य को विस्तार देने वाला होना चाहिए। *नाट्यपत्र* में नुक्कड़ नाटकों जैसे समाचारों का होना यही दर्शाता है। इन्हीं अर्थों में 1894 में प्रकाशित इस पत्रिका का महत्व है।

(आभार : *'नाट्यपत्र'* के सभी अंक मुझे डॉ. धीरेंद्रनाथ सिंह (बनारस) से प्राप्त हुए हैं)

महेश आनंद : नाट्य समीक्षक। रंगकर्म से जुड़े विविध प्रश्नों पर लेखन। हिन्दी नाटक और रंगमंच में विशेष रुचि। *कहानी का रंगमंच* पुस्तक के संपादक। रानावि से जयशंकर प्रसाद के नाटकों पर दस्तावेज़ी महत्व की सामग्री का संकलन और प्रकाशन—दो खंडों में। इन दिनों हिन्दी नाटक और रंगमंच के सौ वर्षों (1850-1950) की दुर्लभ सामग्री के संकलन-संपादन में संलग्न। दिल्ली में रहते हैं।

अभिनेता रवीन्द्रनाथ

रामशंकर द्विवेदी

[रवीन्द्रनाथ ठाकुर (1861-1941) मंच पर पहली बार कब उतरे और किस नाटक में उन्होंने पहली बार अभिनय किया यह एक प्रश्न है। इसे लेकर अवन्तीकुमार सान्याल ने रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय में 1995 में कानन विहारी भाषणमाला के अन्तर्गत कुछ भाषण दिए थे। उन भाषणों को लेकर 1996 में एक पुस्तक निकली जिसका शीर्षक है ***कविर अभिनय****—कवि (रवीन्द्रनाथ) का अभिनय। (यह पुस्तक मुझे संपादक* ***रंग प्रसंग*** *से इस आशय के साथ प्राप्त हुई कि मैं इस पुस्तक के आधार पर* ***रंग प्रसंग*** *के पाठकों के लिए एक प्रबन्ध की रचना कर दूँ। प्रस्तुत रचना उसी का परिणाम है—लेखक)]*

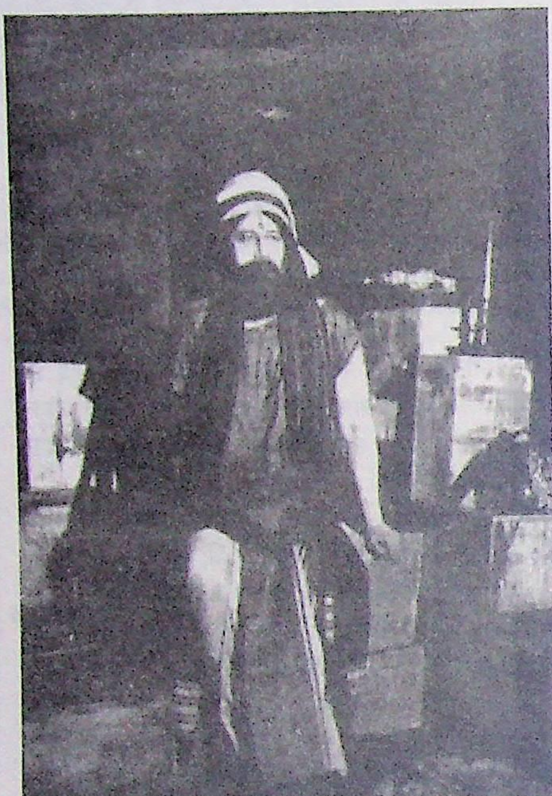
बांग्ला और विश्व की कई भाषाओं में रवीन्द्रनाथ को लेकर असीम जिज्ञासा बनी हुई है। उसी से प्रेरित होकर हर वर्ष उन पर नए-नए शोध-ग्रंथ निकल रहे हैं। उनके जीवन के एक-एक आयाम पर नित नूतन तथ्य आते जा रहे हैं। इस संदर्भ में शंख घोष ने काफ़ी काम किया है। हिन्दी में यह सब अभी तक नहीं आया है।

रवीन्द्रनाथ क्या नहीं थे! वे प्रबन्धकार थे, अच्छे पत्र लेखक थे, बातचीत करने में चतुर थे, उतने ही एकान्तसेवी और मितभाषी भी थे। एक उच्चकोटि के चित्रकार थे, संगीतज्ञ तो थे ही, गायक भी थे। गीतकार, कवि, लेखक, उपन्यासकार प्रमुखतः से थे। वे नाटककार भी थे और स्वयं बहुत बड़े अभिनेता और निर्देशक भी थे। उनकी संचालना में उनके कई नाटक अभिनीत हुए थे। इसलिए एक प्रश्न शुरू में ही मैंने उठाया है कि उन्होंने पहली बार कब किस नाटक में अभिनय किया?

रवीन्द्रनाथ ने पहला अभिनय ज्योतिरिन्द्रनाथ के नाटक *एमोन कर्म ऑर करब ना* में किया था। इस नाटक की प्रकृति प्रहसनधर्मी थी। इस समय उनकी आयु सोलह वर्ष थी और यह अभिनय उन्होंने विलायत जाने से पहले किया था। इस नाटक में उन्होंने अलीक कुमार की भूमिका का निर्वाह किया था। एक सूचना और है कि उन्होंने हरिश्चन्द्र हालदार के नाटक *मुक्तकुन्तला* की नाममात्र की भूमिका में अभिनय किया था। इस अभिनय के समय वे बहुत छोटे थे और स्त्री वेश धारण करने के कारण उन्हें माँग में सिंदूर भरना पड़ा था, जिसे पोंछना वे भूल गए थे और दूसरे दिन जब स्कूल गए तो इसके कारण उन्हें अपने सहपाठियों के सामने लज्जित होना पड़ा था, पर, इस घटना को कोई उल्लेख योग्य नहीं माना जाता है।

एमोन कर्म ऑर करब ना के मंचन का समय 1877 है। इसका मंचन संभवतः एकाधिक बार हुआ था। इसका आयोजन जोड़ासाँको के पारिवारिक ड्रामेटिक क्लब ने किया था। शायद इसका नाम *गार्हस्थ्य नाट्य समिति* था। किन्तु इस ड्रामेटिक के सदस्य परिवार के ही कुछ लोगों के कोपभाजन हो गए थे इसलिए रवीन्द्रनाथ के परामर्श से इसे बंद कर दिया गया था। कोपभाजन बनने का कारण क्या ठाकुरबाड़ी की महिलाओं (शरत कुमारी अथवा कादम्बरी देवी) का नारी की भूमिका में अभिनय करना था?

खुद अपने लिखे नाटकों में रवीन्द्रनाथ ने पहला अभिनय *वाल्मीकि प्रतिभा* में किया था। इसमें वे वाल्मीकि की भूमिका में उतरे थे और उनके भाई की पुत्री प्रतिभा देवी सरस्वती बनी थीं और संभवतः सुशीला देवी लक्ष्मी। इस नाटक में रवीन्द्रनाथ ने 1890 ईस्वी के दिसम्बर मास तक वाल्मीकि की भूमिका में तीन बार अभिनय किया था। तीन बार किए गए अभिनयों में से


*यह तस्वीर 1885 की है जब रवीन्द्रनाथ ने अपने नाटक **वाल्मीकि प्रतिभा** में स्वयं वाल्मीकि की भूमिका निभाई थी।*

पहले अभिनय की प्रशंसा में मुख्य प्रतिक्रिया हमें प्रतिभा देवी की ही मिलती है। उन्हीं के शब्दों में, बंगकुल कुमारी के द्वारा रंगवेदी यह पहली बार उज्ज्वल हो गई। उनके दूसरे अभिनय के संबंध में उन्होंने कहा है—''बालिका का विलाप-संगीत, निविड़ वन की शांति हरने में वनदेवी की वेदना, वाल्मीकि के पश्चात्ताप और विरह-गीत सुनने से दर्शकों का हृदय विचलित हो गया था। एक ओर दस्युगणों का अविराम रंग-भंग और अट्टहास्य, दूसरी ओर वाल्मीकि के प्राणों में नवजीवन का संचार, इन दोनों की तुलनात्मक प्रस्तुति अत्यंत सुंदर हुई थी।'' अवनीन्द्रनाथ के शब्दों में तीसरे अभिनय का प्रत्यक्ष वर्णन हमें हरिचरण बंद्योपाध्याय के स्मृति चारण में मिलता है। उन्होंने लिखा है : ''प्रारम्भ में वनदेवी का नृत्य, उसके बाद दस्युदल का आविर्भाव। वाल्मीकि के वेश में कब कवि को देख सकूँगा, इसकी बड़ी उत्सुकता थी। तभी देखता हूँ दस्युपति वाल्मीकि के वेश में रवीन्द्रनाथ का प्रवेश—लम्बा चोगा पहने हुए हैं, डकैतों को बुलाने के लिए गले में शंख झूल रहा है। एक तो कवि का वैसे ही सहज, मनोहर रूप था, उस पर यौवन की लावण्य छटा, उस पर फबती वेशभूषा, सौष्ठव-सम्पन्नता, तिस पर रंगमंच पर प्रस्फुटित होती आलोक प्रभा की चमक-दमक से वह सौंदर्य और भी मनमोहक हो उठा था। वाल्मीकि के वेश में कवि का वह रूप देखकर दर्शकगण चित्र लिखे से निस्पन्द, निर्वाक होकर उन्हें निर्निमेष देखते रह गए थे। उसी वक़्त सुनायी देने लगा संगीत। कवि रवीन्द्रनाथ गाने लगे—

एक डोरे बाँधा आछि आमरा सकले।
(हम सभी एक डोर से बँधे हुए हैं।)

रवीन्द्रनाथ की अनिन्द्य कान्ति, देव-दुर्लभ कण्ठ संगीत ने दर्शकों का मन हर लिया था। गीति नाट्य में गीत भावाभिव्यक्ति का प्रमुख साधन होता है, भावों के प्रस्फुटन के लिए जितना अभ्यास सिद्ध उतनी ही आनुषंगिक कायिक और सात्विक अभिनय भी रवीन्द्रनाथ को करना पड़ा था, यह अंदाज़ लगाने में कोई अड़चन नहीं है। इसके बाहर रवीन्द्रनाथ के अभिनय का और कोई विवरण नहीं मिलता है। रवीन्द्रनाथ ने स्वयं ही कहा है—''आगे-पीछे तान लगाकर अनेक भावों को गीत के माध्यम से अगर व्यक्त किया जाए तो हमारा काम क्यों नहीं चलेगा? हमारे देश के कथावाचकों को भी यही काम करना पड़ता है। कथावाचकी में वाक्य विन्यास

बीच-बीच में सुर-तान का आश्रय लेता हुआ चलता है, यद्यपि वह तालबद्ध संगीत नहीं होता है।

यद्यपि रवीन्द्रनाथ नाटककार थे, फिर भी *वाल्मीकि प्रतिभा* के मंचन के अवसर पर उन्हें ज्योतिरिन्द्रनाथ द्वारा प्राप्त प्रशिक्षण के अधीन ही काम करना पड़ा था। इसमें कोई दो मत नहीं हैं, उन्हें रंग-सज्जा में वयस्कों की रुचि के अनुसार ही चलना पड़ा था। उनकी रुचि किसी योजनानुसार परिचालित नहीं थी। ठाकुरबाड़ी द्वारा किए जाने वाले नाट्य मंचन में चित्रित दृश्यपट्टों द्वारा की जाने वाली मंच-सज्जा में अत्यंत यथार्थ पद्धति का प्रयोग किया जाता था। बड़े दल के नव-नाटक के मंचन में उस ज़माने के श्रेष्ठ पटुआ चित्रकारों द्वारा दृश्यों का अंकन हुआ था। दृश्यों को यथासंभव वास्तविक बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी गई थी। वन के दृश्यों को अनेक तरह की तरु-लताओं एवं उनमें ज़िन्दा जुगनुओं को लेई से चिपकाकर अत्यंत सुन्दर और सुशोभन बना लिया गया था। इससे देखने में वह सचमुच का वन लगने लगा था। ज्योतिरिन्द्रनाथ ने हर जुगनु के लिए दो आना क़ीमत दी थी।

वाल्मीकि प्रतिभा के पहले मंचन के अवसर पर ज्योतिरिन्द्रनाथ की इच्छा सचमुच के पक्षी को दिखाने की थी। किन्तु दिनभर बन्दूक लेकर फिरने के बाद भी वे किसी पक्षी को नहीं मार सके। बाद में दो बगुले ख़रीदकर, रास्ते में उन्हें मार कर मंच-सज्जा में उनका प्रयोग किया गया था। नौ वर्ष बाद बड़े लाट की पत्नी के आमंत्रण के उपलक्ष्य में बड़े लोगों द्वारा *वाल्मीकि प्रतिभा* के मंचन के अवसर पर मंच-सज्जा में वैसी यथार्थ पद्धति का प्रयोग किया गया था। वरन् कहा जा सकता है कि उस पर यथार्थ का रंग कुछ अधिक ही चढ़ाया गया था। उसका विवरण अवनीन्द्रनाथ ने दिया है—"स्टेज सजाने का भार नितू दा (नीतीन्द्रनाथ) के ऊपर था। मंच सजाने में उन्होंने बड़ी कारीगरी की थी। स्टेज के आधे भाग को मिट्टी से भर दिया था, उसी मिट्टी में उन्होंने जंगल लगा दिया। स्टेज पर सचमुच की वर्षा दिखाने की इच्छा थी। इसलिए दुतल्ले के बरामदे से लोहे के नल सीधे स्टेज के भीतर तक डाले गए थे। अनेक तरह के रस्सा-रस्सी बाँधकर, उनमें पेड़-पौधे लटका दिए गए थे, जैसे ही वह दृश्य आएगा, उन्हें स्टेज पर नीचे उतार दिया जाएगा। पद्मवन, शोला से बने पद्मपुष्प, पद्मपत्र बनाकर नेट जैसे पतले गजी के कई पर्दे एक के बाद एक चार-पाँच तक टाँग दिए गए थे। शुरू में तो वह दृश्य धुँधले कुहरे की तरह दिखेगा, बाद में एक-एक पर्दा उठता जाएगा और भीतर से प्रकाश फूटता आएगा और धीरे-धीरे पद्मवन में सरस्वती दिखने लगेगी। इस यथार्थवादी मंच-निर्देशन में रवीन्द्रनाथ की असहमति तो थी ही नहीं, वरन् इसमें उनका निर्देशन और परामर्श था। यह हमें स्वीकार करना होगा। इस मंचन के कुछ दिनों पहले रवीन्द्रनाथ दूसरी बार विलायत गए थे और वहाँ के लाइसीयम, सेवोय थिएटर आदि को देखकर विस्मित और चमत्कृत हो उठे थे और उन्होंने यथार्थ मंच-सज्जा को ही नाट्य मंचन के लिए स्वाभाविक मान लिया था। (यह अलग बात है कि 1903 में लिखे अपने निबंध *रंगमंच* में, जो *रंग प्रसंग* के 8वें अंक में भी प्रकाशित हुआ है, रवीन्द्रनाथ ने यथार्थवादी मंच की वकालत न करके अभिनय और अभिनेता को ही प्रमुख माना है—संपादक) इस बार बड़े लाट की पत्नी के सामने शिष्टाचारवश डकैतों के नंगे बदनों को काबुली वालों जैसे लम्बे-लम्बे कुर्ते-पाजामों से ढंक दिया गया था।

22 मार्च, 1912 को आशुतोष चौधरी के बालीगंज वाले घर में लेडी हार्डिंग के सम्मान में मंचित *वाल्मीकि प्रतिभा* में रवीन्द्रनाथ ने कोई भूमिका नहीं ली थी, पर, उसके निर्देशन और रिहर्सल में उनका हाथ था। इसकी मंच-सज्जा में भी यथार्थ पद्धति का ही अनुसरण किया गया था।

रवीन्द्रनाथ के नाटक *राजा और रानी* के पहले मंचन की तारीख़ का ठीक-ठीक पता नहीं है, फिर भी उसका मंचन (अक्टूबर-नवम्बर, 1889) सत्येन्द्रनाथ के विर्जितला वाले घर में ही

हुआ था, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसके पहले मंचन में रवीन्द्रनाथ विक्रमदेव की भूमिका में उतरे थे। सुमित्रा की भूमिका ज्ञानदानंदिनी ने की थी एवं नारायणी की भूमिका में पहली और अंतिम बार मृणालिनी देवी मंच पर उतरी थीं। नाटक के प्रमुख निर्देशक और संभवतः संचालक सत्येन्द्रनाथ थे।

अपने द्वारा लिखे गए पारंपरिक और दुःखान्त नाटक में मुख्य भूमिका में रवीन्द्रनाथ का यह पहला अभिनय था। लेकिन यह अभिनय उन्होंने कैसा किया था, इसका कोई विश्वसनीय विवरण प्राप्त नहीं होता है। *राजा और रानी* की मंच-सज्जा के संबंध में कुछ जाना नहीं जा सका है। फिर भी *वसन्तराय* नाटक की तरह उसमें भी कुमारसेन का छिन्नमुण्ड दिखाया गया था और वह भी मोम से तैयार, अभिनेता प्रमथ चौधुरी की मुखाकृति की हूबहू नक़ल। रवीन्द्रनाथ के अभिनय के संबंध में खगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने लिखा था—"इस अभिनय की प्रशंसा में कलकत्ता का शिक्षित समाज मुखर हो उठा था। विदेशी नाटकों के भाव और अनुभूति की तीव्रता ने शिक्षित वर्ग का मन हर लिया था।

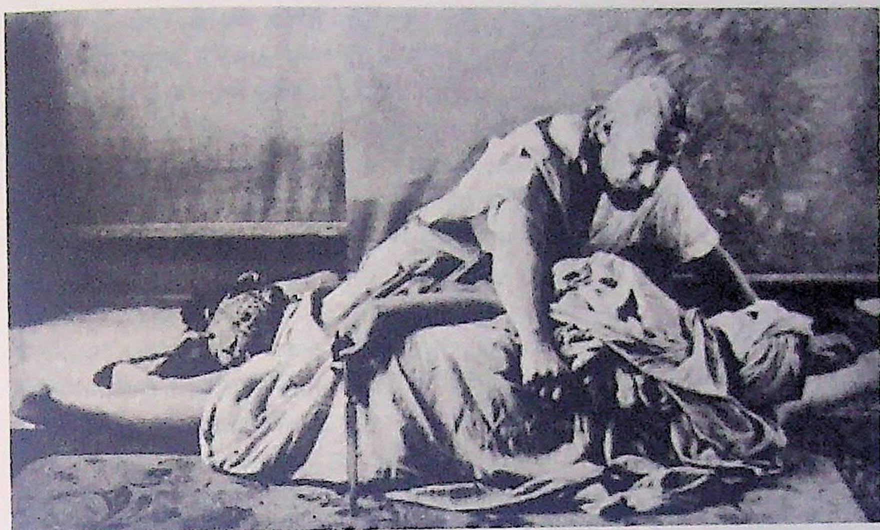
विसर्जन संभवतः पार्क स्ट्रीट और जोड़ासाँको दोनों स्थानों पर अभिनीत हुआ था। *विसर्जन* ही वह प्रथम नाटक है, जिसमें यह माना जा सकता है कि रवीन्द्रनाथ सिर्फ़ प्रमुख अभिनेता ही नहीं थे, निर्देशक, संचालक और मंच-निर्देशक भी थे। दोनों स्थानों पर पूरी तरह परिवार के युवकों द्वारा ही इस नाटक का मंचन कराया गया था। रवीन्द्रनाथ के अभिनय में दो बातें उल्लेखनीय मानी गई हैं—एक संवादों के उच्चारण में उनका स्वाभाविक, अविकृत स्वर तथा विशिष्टता व्यंजक अमित्राक्षर छंद।

पार्क स्ट्रीट वाले मंचन के समय इसके दृश्यों के कई फ़ोटोग्राफ लिए गए थे, उनके आधार पर *विसर्जन* के अभिनय व मंच-सज्जा के वैशिष्ट्य का कुछ अंदाज़ा लगाया जा सकता है। जयसिंह की आत्महत्या वाले दृश्य का जो फ़ोटो लिया गया है, उसमें दो सीन पीछे टँगे हुए हैं, एक सीन में बेल जैसी डिज़ाइन है। फर्श पर गलीचा है, दाहिनी तरफ़ व्याघ्र चर्म सहित रघुपति का आसन है। सम्भवतः दाहिनी ओर ही काली की मूर्ति थी, जो इस फ़ोटो में दिखाई नहीं दे रही है। मंच की यह सजावट निःसंदेह *वाल्मीकि प्रतिभा* नाटक की मंच-सज्जा की अपेक्षा बहुत कम वस्तुओं से की गई है। जयसिंह का वेश धारण किए अरुणेन्द्र का परिधान धोती, चादर और सिर पर पगड़ी है। रवीन्द्रनाथ भी धोती और पट्टवस्त्र, आधी बाँहों का कुर्ता और चादर ओढ़े हुए हैं, पीछे सँवारे हुए केश हैं। भाल पर छोटी और क्रमशः बड़ी तीन रेखाओं से बना त्रिपुण्ड है। मृत जयसिंह की तरफ़ झुके हुए रघुपति की आँखें विस्फारित, आँखों में विस्मय, वेदना और क्रोध की अचरज भरी अभिव्यक्ति है, बायाँ हाथ ज़मीन पर है, जयसिंह को घेरे हुए दाहिने हाथ की मुट्ठी दृढ़ है, जैसे अभी कह उठेंगे—

ए कि सर्वनाश करिलि रे? जयसिंह
अकृतज्ञ, गुरुद्रोही, पितृमर्मघाती,
स्वेच्छाचारी! जयसिंह, कुलिश कठिन!

भावों की यह प्रचंड अभिव्यक्ति अत्यंत रोमांटिक, भावावेशपूर्ण अभिनय का एक स्थिर चित्र है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। फिर भी इस अभिनय ने सीमा का उल्लंघन नहीं किया था, ऐसा माना जा सकता है, कारण रवीन्द्रनाथ इस पर्व में भी पाश्चात्य अनुकरण जात अति यथार्थ को संयत करने में प्रयासरत थे, इसके प्रमाण मिलते हैं। इस संदर्भ में अनिता ठाकुर ने कहा है

जयसिंह बने अरुणेन्द्र ठाकुर रिहर्सल के समय दिल में छुरा घोंप कर ज़मीन में दोनों पैर धीरे-धीरे अकड़ाते हुए हिला रहे थे। यह देखकर रवीन्द्रनाथ ने कहा था—अरे यह



विसर्जन नाटक में रघुपति की भूमिका 1893

> *क्या? तुम इस तरह पैर क्यों हिला रहे हो? जवाब में अरुणेन्द्र ने कहा—दिल में छुरा घोंप कर आत्महत्या करने पर क्या पैरों की हालत ऐसी नहीं होगी? यह सुनकर रवीन्द्रनाथ ने कहा था—नहीं, नहीं, वह सब नहीं चलेगा। इतने यथार्थ अभिनय की कोई ज़रूरत नहीं है। इस सूत्र के अनुसार विशेष लक्षित करने योग्य वस्तु यह है, दर्शकों की तरफ़ पीठ किए हुए, फैले हुए दाहिने हाथ पर, बाएँ हाथ में रक्ताक्त छुरी पकड़े, जयसिंह का सिर रख कर दर्शकों को दिखाना यथार्थ के विरुद्ध है।*

नाटक के रूप में *विसर्जन, राजा और रानी* की अपेक्षा मंच पर अधिक सफल होने पर भी सार्वजनिक मंच पर उसका प्रदर्शन उन दिनों कल्पना के परे था। और पारिवारिक दायरे में भी उसका मंचन बहुत दिनों से बंद था। फिर इसका मंचन संगीत-समाज में 1900 के दिसम्बर मास में किया गया। इस बार अभिनेता परिवार के युवकगण नहीं थे। उनके द्वारा शिक्षित किए गए परिवार के बाहर के अभिनेता थे। संगीत-समाज के पृष्ठपोषकों में नाट्य विधा में पारंगत लोगों की कमी तो थी नहीं, उनमें राधा माधव कर जैसे विख्यात अभिनेता भी थे। किन्तु, नाटक को मंचित करने के काम में प्रशिक्षण और नाट्य-निर्देशन का पूरा दायित्व रवीन्द्रनाथ पर ही पड़ा था। 16 दिसम्बर को मंचस्थ *विसर्जन* में रवीन्द्रनाथ के अभिनय के संबंध में यतीन्द्र मोहन बागची ने लिखा था—

> *वह मेरे जीवन में एक अपूर्व उन्मत्त कर देने वाली अनुभूति थी। कविवर के रघुपति के रूप में किए गए अभिनय को देखकर विस्मय से अभिभूत हो गया था। वही प्रिय दर्शन, सुकुमार देह, रवीन्द्रनाथ रूक्ष और कठोर रघुपति के रूप में बदल गए थे। रक्तवर्ण पटवस्त्र, त्रिपुण्ड और रक्त चंदन का तिलक। उज्ज्वल और आयत दोनों नेत्र, पौरुष व्यंजक, अत्यंत कठोर, दृढ़ संकल्प सिद्धि के तेज़ से उज्ज्वल दिखाई दे रहे थे—वह एक अपूर्व, अलौकिक मूर्ति थी।*

यतीन्द्र मोहन बागची की इस अभिभूत और मुग्ध कर देने वाली प्रशंसापूर्ण उक्ति से यह समझा जा सकता है कि रवीन्द्रनाथ का अभिनय कैसा मोहक प्रभाव डालने में समर्थ हुआ था। उनका

अभिनय होता था तन्मयतापूर्ण, अभिनीत किरदार के साथ वे एकात्म्य हो जाते थे, जो एक खाँटी अभिनेता का स्वधर्म नहीं है, यदि ऐसा कहा जाए तो यह निषेधवाची कथन लगेगा। इस तन्मयता के कारण, *विजर्सन* के मंचन में वे एकाधिक बार यह भूल गए थे कि वे रंगमंच पर महज़ अभिनय कर रहे हैं। इस भूल के कारण रघुपति के रूप में तोड़कर फेंक देने के लिए काली की एक वजनदार मूर्ति उठाने के कारण उन्हें एक मास से अधिक कमर दर्द को झेलना पड़ा था। यह जानकारी हमें अवनीन्द्रनाथ के स्मृतिचारण से मिलती है। और इस प्रसंग को हम हेमेन्द्र प्रसाद घोष के एक लेख से भी जान सकते हैं—"वे *विजर्सन* में रघुपति का अभिनय करते समय इतने तन्मय हो गए थे कि खाँड़ा चलाते समय वे यह भूल ही गए थे कि इसमें सचमुच में तीक्ष्ण धार है, अभिनेताओं में से एक अभिनेता ने उनकी यह दशा देखकर ध्रुव (अश्विनी) को एक ओर खींच लिया था, नहीं तो एक भयंकर दुर्घटना हो जाती।"

लेकिन, संगीत-समाज द्वारा किए गए नाट्य मंचन के दौर में ही रवीन्द्रनाथ के अभिनय और नाट्य संबंधी प्रयोगों का विचित्र ढंग भी नज़र में आ जाता है। *विसर्जन* की प्रस्तुति के कई वर्ष पहले (1897) *बैकुण्ठ का बिल प्रहसन* की रचना कर रवीन्द्रनाथ ने उसमें केदार का किरदार किया था। केदार के वेश और मेकअप में ऐसी एक कपट भरी विनय की अवतारणा की थी, जिससे उस पात्र का आन्तरिक भाव सहज में ही प्रस्फुटित हो गया था। केदार की भूमिका में अपने अभिनय को लेकर रवीन्द्रनाथ को एक तरह का आत्माभिमान था, जिसे उन्होंने आगे चलकर शिशिरकुमार भादुड़ी के अभिनय के प्रसंग में स्वीकार किया था। इसके बाद ही उन्होंने अभिनय किया था ज्योतिरिन्द्र के नाटक *एमोन कर्म ऑर करब ना* के बदले हुए रूप *अलीकबाबू* में। इस अभिनय को देखकर प्रियनाथ सेन ने मत व्यक्त करते हुए कहा था—"ऐसा सुन्दर अभिनय इसके पहले कभी देखा नहीं था। खुद रवि बाबू ने अलीक प्रकाश का अभिनय किया था। जिन्होंने रवि बाबू का अभिनय देखा था, वे जानते हैं कि रवि बाबू सिर्फ़ बंग साहित्य के ही शिरोमणि नहीं हैं, नटचूड़ामणि भी हैं।"

यहाँ पर विशेष लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि रवीन्द्रनाथ ने संगीत-समाज द्वारा किए गए जाने वाले नाट्य मंचन के उद्योग के समय सहज अभिनय पद्धति का विशेष अनुशीलन किया था एवं इसका प्रशिक्षण उन्होंने प्रहसन आदि के माध्यम से दिया था। इस दौरान उन्हें निर्देशन एवं प्रशिक्षण देने में ज़रा भी संकोच का अनुभव नहीं होता था। *पुनवसिन्त* के रिहर्सल के दौरान वे कमर में चादर लपेटकर, हाथों से ताल देते हुए सखियों को नाच सिखाया करते थे। एक नाट्य प्रशिक्षक के रूप में वे एक निरलस और कठोर नियमों का पालन करने वाले थे। संगीत-समाज के प्रयास से *गोड़ाय गलव* प्रहसन रवीन्द्रनाथ के निर्देशन में कई बार मंचित हुआ था। संगीत-समाज में तालीम देने के लिए वे दिन में दो बार भी चले जाते थे। दोपहर में अभिनेताओं के घर जाकर उनके संवादों के उच्चारण, बोलने के लहजे में संशोधन कर दिया करते थे और अपरान्ह् में समाज-भवन में अभिनय सिखाया करते थे। किसी-किसी दिन रिहर्सल ख़त्म होने में रात के एक-डेढ़ तक बज जाते थे। घर लौटने में और भी देर हो जाया करती थी।

संगीत-समाज के दौर में हम रवीन्द्रनाथ को नाट्याभिनय, प्रशिक्षण और नाट्य निर्देशन में ही निवेदित प्राण देखते हैं। इस पर्व से ही नाट्य चर्चा उनकी सत्ता के साथ सिर्फ़ ओतप्रोत रूप से जुड़ ही नहीं जाती थी, बल्कि उनके सहज भाव-परिवर्तन के साथ अपरिहार्य रूप से अनुस्यूत हो उठती है। नाट्य चर्चा रवीन्द्रनाथ के परवर्ती जीवन चर्चा का पर्याय बन जाती है। इसी समय से महान आदर्श की प्रेरणा से, देश संगठन के प्रश्न, स्वदेशी समाज की योजना में वे स्वदेशी पर ही निर्भर रहेंगे इस महत् संकल्प को व्यक्त करते हैं। उनका विचार था कि

भारतीय काव्य, भोग वासना रहित भारतीय जीवनादर्श से अनुप्राणित है, वे मेला-जात्रा-कथा वाचकी-कीर्त्तन आदि साधनों को देश के मन के नज़दीक पहुँचने के उपाय के रूप में मानते हैं। लेकिन वे कभी भी तथाकथित जात्रा अथवा कथावाचिकी का पुनरुद्धार नहीं करना चाहते थे। वे उस माध्यम को चाहते थे जो प्रचलित विलायती नाट्य पद्धति से एकदम अलग होगा।



*कोलकाता में 1923 में मंचित **विसर्जन** में जयसिंह की भूमिका*

आगे चलकर रवीन्द्रनाथ के अभिनय का ढंग एकदम बदल गया था, इसका विवरण हमें सीतादेवी के कथन में प्राप्त होता है। उन्होंने विस्मय-विमुग्ध होकर लिखा है—

''रवीन्द्रनाथ के अभिनय का और मैं क्या ब्यौरा दूँ। एक बात मुझे सदा प्रतीत होती थी, जब भी मैं उनका अभिनय देखती थी--वे फिर चाहे जिस भूमिका में अवतीर्ण हुए हों, वे रवीन्द्रनाथ हैं, इसे मैं कभी नहीं भूल पाती थी। अपने को छिपाना उनके लिए असंभव था, हालाँकि वे अत्यंत उच्च श्रेणी के अभिनेता थे। अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, अपने व्यक्तित्व को छिपाकर नाटकीय पात्र के साथ एकात्म्य के दौर को वे पार कर आए थे।'' सौम्येन्द्रनाथ ठाकुर ने भी यही बात कही है—''चाहे कोई भी किरदार वे क्यों न ग्रहण करें, रवीन्द्रनाथ रवीन्द्रनाथ ही बने रहते थे, रवीन्द्रनाथ की अत्यंत सचेतन सत्ता विलीन नहीं हो पाती थी, जिस चरित्र का वे अभिनय करते थे, उसमें।''

इसके बाद शुरू हो जाता है रवीन्द्रनाथ के गीति नाट्यों का मंचन। विख्यात रंगकर्मी, रंग-निर्देशक अमृतलाल बसु ने रवीन्द्रनाथ के अभिनय के संबंध में एक पत्र में लिखा था—रवीन्द्रनाथ का अभिनय अनुकरणीय होता था। The great poet is a great actor, almost a master of the technique of stage craft. महान कवि, महान अभिनेता भी थे और लगभग मंच कला के भी वे अप्रतिम शिल्पी थे।

रामशंकर द्विवेदी : बांग्ला से हिन्दी के प्रख्यात अनुवादक। भारतीय अनुवाद परिषद का 'द्विवागीश पुरस्कार', साहित्य अकादेमी का अनुवाद पुरस्कार। रवीन्द्रनाथ और निराला के सौंदर्यबोध पर अनुसंधान। कॉलेज में वर्षों अध्यापन के बाद अब उरई (उ.प्र.) में रहकर स्वतंत्र लेखन।

खजुराहो नृत्य समारोह : कुछ छवियाँ

संगम पांडेय

भारत में पुरातात्त्विक महत्व की जगहों में आगरा के बाद सबसे ज़्यादा विदेशी पर्यटक खजुराहो में आते हैं। मध्य प्रदेश के छतरपुर जनपद में स्थित इस क़स्बे में फ़रवरी के अंतिम और मार्च के प्रथम सप्ताह में ये पर्यटक कुछ ज़्यादा तादाद में दिखते हैं तो इसकी वजह है मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद का आयोजन खजुराहो नृत्य समारोह। आज की तारीख़ में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर जो ख्याति खजुराहो की है, अपने ख़ास संदर्भ में लगभग वही ख्याति इस नृत्य समारोह की भी है। वहाँ के कई मंदिर समूहों में से सर्वाधिक महत्वपूर्ण पश्चिमी समूह के एक छोर पर समारोह का स्थायी मंच स्थित है। मंच के पार्श्व में चित्रगुप्त मंदिर की पृष्ठभूमि नृत्यों की शास्त्रीयता में अपने तईं निश्चित ही एक आध्यात्मिक इज़ाफ़ा करती है। वैसे आध्यात्मिकता और शास्त्रीयता खजुराहो का स्थायी भाव है जिसमें इधर के वर्षों में कुछ ज़्यादा ही तेज़ी से फल-फूल रहे पर्यटन उद्योग ने स्वाभाविक ही कई बाज़ारवादी आयाम नत्थी किए हैं। रिक्शेवालों से लेकर टेलीफ़ोन बूथ वालों तक हर कोई वहाँ आपको चौगुना कमाने की जुगत में दिखाई देगा। ग्राहक की अनभिज्ञता के स्तर को ताड़ते हुए उसे अपनी नेकनीयती के प्रति आश्वस्त कराना और फिर उसकी हैसियत के अनुरूप मूँड़ना—यहाँ के व्यवसायियों ने इस सिलसिले को भी छोटी-मोटी कला के स्तर पर पहुँचा दिया है।



सुनयना हजारीलाल (कथक)

एक बड़े लैंडस्केप में देखें तो झाँसी-छतरपुर से आने वाली सड़क, जो डेढ़ दर्ज़न बार उत्तर प्रदेश से मध्य प्रदेश और मध्य प्रदेश से उत्तर प्रदेश के भूगोल में गुज़रती यहाँ आती है, के दोनों ओर खजुराहो का मुख्य क़स्बा क़रीब दो किलोमीटर की दूरी में पसरा हुआ है। बड़े-मंझोले होटलों के बीच से हरियाली की विस्तृत छटाएँ रह-रह कर दिखाई देती रहती हैं। इस बार महाशिवरात्रि नृत्य समारोह के दौरान ही थी, लिहाज़ा आसपास के गाँवों-बस्तियों से आए स्थानीय निवासियों की

भी ख़ासी भीड़ वहाँ थी। महाशिवरात्रि के मेले में एक विशाल हाट बाज़ार लगा हुआ था। साबुन, बिंदी, सुरमे, नेलपालिश से लेकर सूप, कड़ाही, मग्घे तक हर चीज़ इस बाज़ार में उपलब्ध थी। बड़ी कंपनियों के रैपर से मिलते-जुलते ऐसे स्थानीय ब्रांड, जो दिल्ली जैसे महानगर के उपक्षित कोनों की सबसे सस्ती दुकानों में भी शायद ही दिखते हों। मेले की वजह से बाज़ार में भीड़ दिनभर बनी रहती है। सुबह-सुबह मंदिर परिसर की ओर जाते हुए भी काफ़ी स्थानीय लोग सड़क पर दिखाई देते हैं। टेलीविजन की दुकानों में टीवी सेट पर चलती फ़िल्म को देखते छोटे-मोटे हुजूम वहाँ जमा हैं। किनारे पर तरह-तरह की पुस्तिकाएँ फैलाए विक्रेतागण बैठे हैं। कुछ कपड़ों आदि की दुकानें भी सजी हैं।



वीरेन वीरेश्वर गौतम (कथक)

पश्चिमी परिसर की दीवार से सटा एक शिव मंदिर है। कल महाशिवरात्रि के दिन वहाँ काफ़ी भीड़ थी। 25-30 सीढ़ियाँ चढ़कर थोड़ी ऊँचाई पर वह स्थित है। मंदिर के अंदर जगह बहुत अधिक नहीं है। वहाँ स्थित विशाल शिवलिंग की लोग अपनी-अपनी तरह से पूजा-अर्चना, प्रार्थना कर रहे हैं। आवश्यकता भर व्यवस्था आस्थाएँ अपने आप बना लेती हैं।

खजुराहो का सम्मोहन धीरे-धीरे समझ आता है। शास्त्रीयता वहाँ एक परिवेश है। हमारे पहुँचने के पहले दिन राजा-राधा रेड्डी के ग्रुप का नृत्य था। कुचिपुड़ी का वैभव उनकी नृत्य प्रस्तुतियों में मानो अपने मुकाम पर था। सुनते आए थे कि शास्त्रीयता पूर्णता की ओर का रास्ता है, कि वह कुशलता मात्र नहीं है जिसे सिर्फ़ मेहनत के भरोसे हासिल किया जा सके। वह तो आत्मा का ध्येय है, चेतना का सर्जना से एकीकरण। लेकिन इस आत्मा का रूपांतरण भी क्या हमारे अपने चाहने से होता है? राजा रेड्डी के ग्रुप में कुछ रूसी कलाकार भी हैं। मंच पर उनकी त्वचा की रंगत ही नहीं, देहगतियाँ भी कुछ अलग से दिखाई देती हैं। उनकी भंगिमाओं में भी कुछ अधिक चपलता और क्षिप्रता मालूम देती है। राजा रेड्डी के मुताबिक उनके ये रूसी छात्र भारतीय शिष्यों की तुलना में कहीं अधिक मेहनती हैं। पर, वह लय, वह भावमयता उन्हें उस स्तर पर फिर भी हासिल नहीं हो पाती जहाँ कम मेहनती भारतीय छात्र अपेक्षाकृत आसानी से पहुँच जाते हैं। पारंपरिक जीवन हमारे व्यक्तित्व को कब-कब कैसे-कैसे बुनता रहता है इसका पता कभी लगाया जा सकता है क्या?

जिस तरह थिएटर बहुत-सी विधाओं का समुच्चय है वैसा ही कुछ शास्त्रीय नृत्यों के साथ भी है। एक अच्छा नृत्यकार कुशल अभिनेता भी होता है। भंगिमाओं के सूक्ष्म आरोह-अवरोह वहाँ

निरंतर चला करते हैं। कैसे यह होता है कि एक क्षण में मंच पर अपना वक्तव्य दे रहे राजा रेड्डी अगले क्षण में अपने किरदार की भावमयता में पूरी तरह डूब चुके होते हैं। शिव के अर्धनारीश्वर रूप पर केंद्रित उनकी एक नृत्य प्रस्तुति देखने लायक थी। रेड्डी दंपती ने आंध्रप्रदेश की इस प्राचीन नृत्य शैली को उसकी पारंपरिक शुद्धता के साथ लोकप्रियता के आयाम दिए हैं। प्राचीन परंपरा के मुताबिक कुचिपुड़ी गाँव के ब्राह्मण इस नृत्य को प्रस्तुत करते रहे हैं।

अगले दिन प्रातः मंदिर परिसर में एक मंदिर के प्रागंण में युवा कथक नर्तक विरिन वीरेश्वर गौतम दिखाई दिए। एक फ़ोटोग्राफ़र उनकी तस्वीरें उतार रहा था। मुद्राओं की स्वाभाविकता के लिए वे सचमुच पूरी तन्मयता से गायन में डूबे हुए थे। वे खिन्न थे कि उन्हें उनकी नृत्य प्रस्तुति के लिए इतनी देर में बुलाया गया कि दर्शकगण तब तक उठ-उठकर जाने लगे थे। सुना है कि इस तरह की स्थितियाँ समारोह में कई बार पेश आती हैं। यह आयोजकों के हाथ में भी पूरी तरह नहीं होता कि वे हर नृत्य प्रस्तुति को उसके वाजिब समय पर समाप्त करवा सकें। कलाकारगण जब अपनी रौ में आते हैं तो समय की कोई पाबंदी नहीं रहती। इसी तरह 28 मार्च को हुई सुनयना हजारीलाल की कथक-प्रस्तुति से पूर्व नृत्य के सही समय पर शुरू होने को लेकर कई तरह के असमंजस थे। वजह थी कि संगत देने वाली गायकों-वादकों की टीम कई कारणों से काफ़ी प्रतीक्षा के बाद ऐन वक़्त पर कार्यक्रम के लिए पहुँच पाई थी।

द इंटरनेशनल कथकली सेंटर, नई दिल्ली की प्रस्तुति में रावण-रंभा का प्रसंग था। कथकली का शाब्दिक अर्थ 'नाटक-कथा' है। यही कारण है कि नाटकों की दुनिया में भी कथकली विधा कई-कई रूपों में बार-बार दिखाई देती है। रंगभूषा का कथकली में विशेष महत्व है। कथकली-कलाकार का मेकअप होते देखना ही अपने में एक विशिष्ट अनुभव होता है। मोटे तौर पर कहें तो कथकली में सूक्ष्मता का तत्व गति से ज़्यादा होता है। यह एक बहुरंगी और सांगीतिक सूक्ष्मता होती है। उसकी लय मुख्य कलाकार में जितनी होती है उससे ज़्यादा संगतकारों की देहभाषा और वाद्यवादन में दिखाई देती है।





युगल नृत्य

संगीत की लय खजुराहो की हर मूर्ति में भी है। खजुराहो की ख्याति जिन काम विषयक मूर्तियों को लेकर अधिक है, कुल मूर्तियों में उनकी तादाद दस फीसदी से ज़्यादा नहीं होगी। लेकिन जिस वजह से हरिवंश राय बच्चन ने उनके रचयिता को 'निडर कलाधर' कहा है, वह है उनकी रहस्यात्मक उन्मुक्तता। भौतिकता के वे बहुत से रूप जो सामान्यतः चित्रण हेतु वर्जना ही नहीं विकृति का विषय भी समझे जाते हैं, खजुराहो के मंदिरों में जीवन के साधारण भावों की तरह चित्रित हैं। ऐसी ही एक मूर्ति, जिसमें एक पुरुष दो स्त्रियों के साथ संभोग पूर्व की कामक्रीड़ा में व्यस्त है, को एक गाइड जबरन एक दार्शनिक आयाम देते हुए 'एनर्जी का ट्रांसफॉरमेशन' बता रहा था। हर तरह के गूढ़ का सरलार्थ पेश करती इस तरह की व्याख्याएँ वहाँ आम हैं।

जीवन के असाधारण भावों में सहजता का यह समावेश ही खजुराहो की मूर्तियों की विशेषता है। एक भावदशा जो दुनियावी ऊँच-नीच को नहीं जानती। खजुराहो के कामविषयक चित्रणों के बारे में कीर्तिमुख की कहानी का ज़िक्र अक्सर किया जाता है। हमें यह कहानी वी.एस. चंदेल की लिखी गाइड बुक में पढ़ने को मिली। मंदिर की सज्जा में बेनीबंध के ऊपर स्थित सिंह का अर्धमुख कीर्तिमुख काम का प्रतीक पशु है, "जिसके विषय में भगवान श्रीकृष्ण ने भगवद्‌गीता में कहा है कि यह कभी नहीं अघाता। इसकी कहानी यह है कि जब यह पैदा हुआ तब यह बहुत भूखा था, सो इसने खाना शुरू कर दिया। किंतु समस्या यह थी कि जैसे-जैसे यह खाता था वैसे-वैसे इसकी भूख और बढ़ती चली जाती थी, और वह खाता गया, खाता गया और खाता

गया। अंततः सब कुछ समाप्त हो गया और इसके लिए कुछ भी खाने को नहीं बचा, केवल यह ही शेष रह गया। तब जब कुछ भी शेष नहीं रहा और इसकी भूख भी पहले से बहुत अधिक बढ़ गई तब अंततः भूख की व्याकुलता में इसने खुद को खाना शुरू कर दिया और यह अपने मुख के ऊपरी भाग तक खुद को खा गया।"

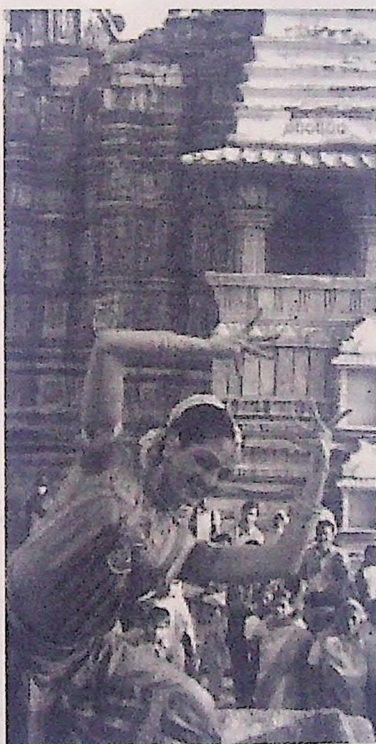
ऐसी ही बहुत सी प्रतीक कथाएँ और दंतकथाएँ खजुराहो के आध्यात्मिक वैभव का हिस्सा हैं। उसका इतिहास भी ऐसी ही किसी दंतकथा की तरह का है। मोटे तौर पर 1000 वर्ष पूर्व चंदेल वंश के राजाओं ने इन मंदिरों का निर्माण करवाया। इतिहासकारों ने अल बरूनी और इब्नबतूता के वर्णनों में इनका उल्लेख पाया है। लेकिन पिछली सदियों में 1818 से पहले तक इनके बारे में कोई नहीं जानता था। 1818 में घने जंगलों के बीच स्थित इन मंदिरों को पहले पहल फ्रैंकलिन नामक एक अंग्रेज़ ने देखा। उसने अपने यात्रावृत्त में इसका उल्लेख किया, जिसके आधार पर 1838 में अंग्रेज़ सरकार ने पी.सी. बर्ट नामक इंजीनियर को खोजबीन के लिए यहाँ भेजा। अब इन मंदिरों की देखरेख भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के अधीन है।

खजुराहो की मूर्तियाँ जीवन की लय का उत्कीर्णन हैं। देहयष्टि से लेकर विभिन्न कार्यकलापों तक इस लय का विस्तार वहाँ दिखाई देता है। खजुराहो नृत्य समारोह इस लय का एक अन्य विस्तार है। सूक्ष्म का ऐसा लयात्मक निबाह भला और कहाँ संभव है! कहीं कुछ अनगढ़ या स्थूल नहीं, सृजन का शास्त्रीय सौंदर्य दो अलग-अलग माध्यमों में उत्सव के दौरान घेरता रहता है। सौंदर्य के ऐसे दुर्लभ संयोग का साहचर्य अन्यत्र कहीं आप शायद ही हासिल कर पाएँ।

संगम पांडेय : युवा पत्रकार और रंग समीक्षक। साहित्य और कलाओं के बहुतेरे वृत्तांत पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। दिल्ली में रहते हैं।

खजुराहो नृत्य समारोह में

राजेन्द्र उपाध्याय



ओ नर्तकी!
पत्थरों के बीच
जब तुम नृत्य कर रही थी
तब तुम्हें नहीं मालूम
तुम्हारे साथ असंख्य तारे
बादल, पत्थर और पेड़
और नन्हें-नन्हें जुगनू भी नृत्य कर रहे थे।

काल थम-सा गया था
चाँद डमरू बजा रहा था
और अपनी दिशाएँ भूल गया था समय का रथ

तुम दिए की बाती-सी
मंच पर झूम-झूमकर
दिग-दिगंत में उजाला कर रही थी।

पत्थरों में तुमने प्राण भरे
उन्हें देवता बना दिया
तुम्हारे तलवों के स्पर्श से
पत्थर भी जी उठे!

पणिक्कर का *विक्रमोर्वशीयम्*

संगीता गुन्देचा

भाग—1

विक्रमोर्वशीयम् के चौथे अंक की शुरूआत में सूर्य की सेवा के लिए आई चित्रलेखा अपनी सखी सहजन्या से कह रही है, 'मैं उर्वशी के लिए व्याकुल हूँ।' सहजन्या के पूछने पर अपनी व्याकुलता का कारण बताते हुए वह कहती है—

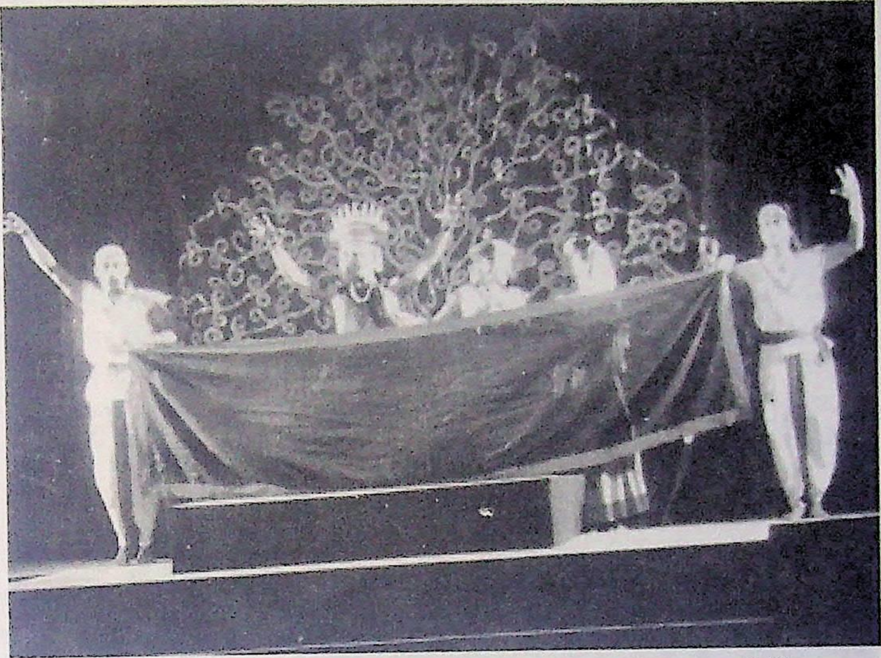
वहाँ (गन्धमादन पर्वत) पर मन्दाकिनी के तट पर बालू के टीले बना-बनाकर खेल रही उदयवती नामकी एक विद्याधर की कन्या को जब राजा (पुरूरवा) देख रहे थे, उर्वशी उनसे रूठ गई।

भाग—2

कावालम नारायण पणिक्कर ने कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् के अपने मंचन में पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम को पुरुष और प्रकृति के संयोग की तरह देखा है। कावालम के लिए पुरूरवा एक ऐसा मनुष्य है, जिसमें मनुष्य होने की सारी संभावनाएँ मौजूद हैं। उर्वशी उनके लिए मनुष्य की बाह्य और अन्तःप्रकृति दोनों है। इसलिए वे अपने प्रदर्शन की शुरूआत में कुण्डलिनी जागरण को अभिनीत करते हुए नाटक में प्रवेश करते हैं, जहाँ केशी नामक राक्षस ने उर्वशी का हरण कर लिया है। इस हरण को पणिक्कर मनुष्य की विचारहीन प्रवृत्तियों द्वारा प्रकृति का दोहन मानते हैं। पुरूरवा यानी अति मानव प्रकृति को उस आसुरी शक्ति से छुड़ाकर उससे गहरा तादात्म्य स्थापित करता है। पुरूरवा के शरीर पर उर्वशी के संयोग रूपी स्पर्श से उत्पन्न प्रेमांकुर प्रकृति और पुरुष का तादात्म्य ही है—

रथ के हिलने से इस बड़ी आँखों वाली सुन्दरी के शरीर से मेरे शरीर के बार-बार स्पर्श होने पर जो रोमांच हुआ उससे लग रहा है, मानो मेरे शरीर में प्रेम के अंकुर फूट आए हों।

इस नाटक की प्रस्तुति में सबसे निर्णायक मोड़ वह है, जब एक युवा विद्याधरी को देखते हुए पुरूरवा के मन में उर्वशी यानी प्रकृति के प्रति यह शंका उत्पन्न होते हुए प्रदर्शित की गई है कि वह नित नूतन न होकर, जैसी कि वह है, वार्धक्य को प्राप्त हो जाएगी। पुरूरवा के मन में जैसे ही यह शंका पैदा होती है कि वह एक दिन बूढ़ी हो जा सकती है, उर्वशी उससे रूठकर खुद में खो जाती है। यह खुद में खो जाना स्त्रियों के लिए वर्ज्य कुमारवन में पुरूरवा के स्पर्श की प्रतीक्षा करती उर्वशी का लता में रूपान्तरित हो जाना है। अब पुरुष पुरूरवा को अपने बाह्य और अन्तःकरण में उर्वशी यानी प्रकृति को खोजना है। यह खोज कालिदास की ही तरह पणिक्कर ने अत्यन्त विस्तार से प्रदर्शित की है। पुरूरवा तमाम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों में उर्वशी की उपस्थिति महसूस करता है। प्रकृति में खो गई उर्वशी को वह उसके हरेक अवयव में महसूस करता है लेकिन प्रकृति का हरेक अवयव उसे उर्वशी के अभाव पर ले जाकर छोड़ता है। वह कहता है—



संस्कृत नाट्य समारोह अक्टूबर 2005 में कावालम नारायण पणिक्कर द्वारा निर्देशित **विक्रमोर्वशीयम्** *का एक दृश्य*

यदि वह सुन्दरी बारिश में भीगी बालू वाली इस ज़मीन पर चलती तो महावर से रंगे हुए उसके सुन्दर पैरों की छापें दूर तक ज़रूर दिखाई देतीं, जो उसके नितम्बों के भारी होने से एड़ी की ओर अधिक गहरी होती। (घूमकर, देखकर, खुशी के साथ) उसके कुछ लक्षण तो मिल गए, जिनसे उस क्रोधी उर्वशी के मार्ग का अनुमान लगाया जा सके क्योंकि—

तोते के पेट की तरह हरी यह उसकी चोली है, जिस पर उसके आँसुओं से धुलकर होठों से गिरी लाल रंग की बुँदनियाँ दिखाई दे रही हैं। कुछ बुँदनियाँ गुस्से की हड़बड़ी में नाभि से नीचे भी गिरी होंगी।

तो इसे उठा लेता हूँ। (घूमकर, पहचानकर, रोता हुआ) अरे! ये तो हरी घास पर फैली वीरबहुटियाँ हैं। इस निर्जन वन में मैं प्रिया के बारे में कहाँ से पता लगाऊँ?

वह बादल को देखकर कहता है—

यह नया घुमड़ता बादल है, गर्वीला (केशी) राक्षस नहीं
यह दूर तक खिंचा इन्द्रधनुष है, उस (राक्षस) का धनुष नहीं
यह भी घनघोर बारिश है, बाणों की झड़ी नहीं
कसौटी पर खिंची सोने की रेखा सी उजली यह विद्युत प्रिया है, मेरी उर्वशी नहीं

वह मोर को देखकर कहता है—

. . .अरे! यह उत्तर दिए बिना ही चला गया। इसकी खुशी का क्या कारण होगा? (सोचकर) हाँ, समझ गया—

मेरी प्रिया के खो जाने से मंद-मंद वायु से बिखरे बादलों के समान इसके सुन्दर पंखों को लज्जित करने वाला आज कोई विपक्षी नहीं बचा। वरना कामक्रीड़ा के अवसर पर खुले हुए और फूलों से सजे उस (उर्वशी) के केशों के रहते यह मोर किसे आकर्षित करता?

वह हंस से कहता है—

अरे हंस! तुम छिपा क्या रहे हो? तुम्हारी चाल से ही मैं सब कुछ समझ गया? . . .यदि तूने मेरी प्रिया को सरोवर के तट पर नहीं देखा। तो बता चोर, तूने मद से इठलाती हुई उसकी मनोहर चाल को कहाँ से सीखा? (हाथ जोड़कर) हे हंस! मेरी प्रिया की जिस चाल को तूने चुराया है, उसे मुझे लौटा दे क्योंकि यदि चोर के पास चोरी का कुछ भी सामान मिल जाए तो उसे वह पूरा लौटाना पड़ता है।

वह नदी को देखकर कहता है—



विक्रमोर्वशीयम् का एक दृश्य

. . .लगता है मेरी बातों को न सह सकने वाली प्रिया नदी बन गई है। अच्छा चलकर इसे मनाता हूँ। . . .अरे यह चुप क्यों है? (सोचकर) यह वास्तव में नदी ही होगी क्योंकि यदि यह उर्वशी होती तो पुरूरवा को छोड़कर समुद्र की ओर क्यों जाती?

जिस कल्पनाशीलता के साथ पणिक्कर ने नदी को दिखाने के लिए एक झीनी-सी चादर का इस्तेमाल किया है, वह देखते ही बनती है। पणिक्कर ने इस अंक को भारतीय शास्त्रीय संगीत के आलाप (चाहें तो इसे प्रदीर्घ विलाप कह लीजिए) की तरह विस्तारित करते हुए पुरूरवा का प्रकृति में प्रकृति को खोजना प्रदर्शित किया है। यही बाह्य प्रकृति संगममणि का वरदान देकर उसे आत्मबोध कराते हुए अपने भीतर



विक्रमोर्वशीयम् चित्रलेखा उर्वशी, एवं पुरूखा, बाएँ

प्रकृति को खोजने की प्रेरणा देती है। संभवतः इसीलिए पणिक्कर के प्रदर्शन में संगममणि कोई भौतिक मणि न होकर पुरूरवा का ध्यानस्थ होकर अपने भीतर प्रकृति को अनुभव कर लेना है। जैसे ही वह ऐसा करता है, उर्वशी से उसका पुर्नमिलन हो जाता है। प्रकृति में उर्वशी के होने के चिन्ह पाकर वह उर्वशी को फिर से पा लेता है। नारद का पुरूरवा को उर्वशी सौंपना नाटक में यही संकेत करता है।

भाग—3

विक्रमोर्वशीयम् को इस रूप में पढ़कर श्री कावालम नारायण पणिक्कर ने एक बार फिर पूरे सौन्दर्य के साथ यह दर्शाया है कि अगर हम पर्याप्त समकालीन चेतना और अन्तर्दृष्टि के साथ अपने आधारभूत ग्रंथों की ओर मुड़ें तो वे आज भी हमें अपने युग को देखने और परखने की पर्याप्त सूक्ष्मदृष्टि प्रदान करने में सहज ही सक्षम हैं।

कहने की नई विधियाँ

संगम पांडेय

रंगमंच की दुनिया में इधर के वर्षों में एक बड़ी तब्दीली आई है। आज के वाचाल युग में रंगमंच कहने की नई-नई विधियाँ तलाश रहा है। मौन और अनकहापन अब बीते ज़माने की चीज़ें होती जा रही हैं। थिएटर को ज़्यादा बोलने की ज़रूरत महसूस हो रही है। हमारा जमाना आभास और सांकेतिकता और प्रभावों में बात करने के सूक्ष्म ढंग के लिए संवेदना का आवश्यक स्पेस मुहैया नहीं करा पा रहा। लिहाजा ज़्यादा बोलने की ज़रूरत ने थिएटर को कुछ ज्यादा शब्दमय बनाया है। यह शब्दमयता स्टोरीटेलिंग वाली शिल्पगत प्रविधि से जुदा किस्म की चीज है। सरलीकरण करते हुए कहें तो आज का नाटक शिल्प की तुलना में विषयवस्तु के प्रति ज़्यादा सचेत दिखाई देता है। इसे रंगमंच में नई प्रवृत्ति भी माना जा सकता है और वक़्त की माँग भी।

पिछले साल नवंबर में इंदौर के रवींद्र नाट्य गृह में हुए मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद के सालाना राष्ट्रीय नाट्य समारोह की प्रस्तुतियों में यह प्रवृत्ति एक प्रतिनिधि थीम की तरह दिखाई दी थी। सात दिन के इस समारोह में कुल आठ प्रस्तुतियाँ शामिल थीं जिनमें से कम से कम पाँच प्रस्तुतियों—*सोमनाथ का नाद, हम दोनों, कविता यात्रा, संक्रमण* और *राग दरबारी*—को उक्त कोटि में रखा जा सकता है। इनके अलावा तीन नाटक *मालविकाग्निमित्रम, इतिहास चक्र* और *एक संसदीय समिति की उठक-बैठक* थे।

आचार्य चतुरसेन के उपन्यास *सोमनाथ* पर आधारित रवींद्र एमेच्योर नाट्य संस्था, भोपाल की राजेश भदौरिया निर्देशित प्रस्तुति *सोमनाथ का नाद* में सोमनाथ मंदिर पर महमूद गजनी के आक्रमण की घटना का वर्णन है। इस ऐतिहासिक तथ्य से निर्देशक ने समकालीन यथार्थ को कहने का जरिया बनाया है। वे कहते भी हैं—इतिहास साक्षी है कि विदेशी आतताइयों ने बार-बार भारतीय संस्कृति को कुचलने का प्रयास किया और आज भी कर रहे हैं, किंतु संभवतः यह हमारी आध्यात्मिक शक्ति ही है जिसने भारतीय संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखा—तब भी, आज भी। इसलिए *सोमनाथ का नाद* का मंचन सामयिक है। प्रखर राष्ट्रवाद ही इस नाटक का उद्देश्य है। राजेश भदौरिया जिस दो टूक ढंग से अपना निर्देशकीय वक्तव्य देते हैं उसी दो टूक ढंग से उनका नाटक इतिहास में वर्तमान को प्रक्षेपित करता है। वे एक सीधा साहित्यिक सवाल पूछते हैं—"क्या भारत की वर्तमान परिस्थितियाँ तब की स्थितियों से भिन्न हैं? क्या सत्ता में बने रहने की ललक ने आज फिर राष्ट्रवाद को पीछे नहीं धकेल दिया? क्या आज भी कंधारी दस्यु हमारे विमान का अपहरण कर संसद पर हमला कर, कारगिल में घुसपैठ कर, और कश्मीर में खूनी होली खेलकर हमारे आत्मसम्मान को चुनौती नहीं दे रहे हैं? ..."

उनके सवाल के विचारधारात्मक पक्ष को किनारे रखकर अगर विचार किया जाए तो क्या वे दरअसल अपने विचार को एक कथात्मक ढाँचे में तनिक स्थूल प्रतीकात्मक ढंग से ही बयान करते नज़र नहीं आते? और उनका यह ढंग क्या उपरोक्त थीम के क्रम में ही नज़र नहीं आता।

दिनेश ठाकुर लिखित और निर्देशित *अंक,* मुंबई की प्रस्तुति *हम दोनों* को भी इसी सिलसिले में देखा जा सकता है। यह दो बुज़ुर्ग हो चुके अकेलों की कहानी है। एक अकेला

पुरुष और एक अकेली स्त्री। नाटक देखते हुए लगातार ऐसा लगता रहता है कि हम किसी कहानी का एक बढ़िया मंचन देख रहे हैं। लगातार लगता है कि दोनों पात्रों का यथार्थ नाटकीय स्थितियों के जरिए खुद-ब-खुद बयान नहीं हो रहा, बल्कि उनके लगातार संवादों में बताया जा रहा है। थिएटर के नजरिए से इस बताए जाने में बहुत-सी अनावश्यक विवरणात्मकता चिह्नित की जा सकती है। पर दूसरी ओर जैसा कि कहा गया कि वह विवरणात्मकता हमारे जमाने की एक जानी-बूझी और ज़रूरी वक्ती शै के रूप में भी देखी जा सकती है।

श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास *राग दरबारी* पर विजय कुमार निर्देशित मंच, पटना की प्रस्तुति इस क्रम में स्पष्ट ही एक साहित्यिक उपक्रम है। विजय कुमार इसे कुछ अधिक रंगमंचीय बनाने के लिए उसमें आंचलिक भदेस और सांगीतिकता को शामिल करते हैं, पर इससे आलेख का मूल मिजाज आखिर कितना बदला जा सकता है। लेकिन यही बात देवेंद्र राज अंकुर निर्देशित बहुचर्चित कथा-प्रस्तुति *संक्रमण* के बारे में नहीं कही जा सकती। *संक्रमण* इस अर्थ में एक विशिष्ट प्रयोग है कि उसमें लिखित भाषा के ब्योरों का बारीकपन तीन बयानों की शक्ल में अनायास एक रंगमंचीय पाठ भी बन जाता है। अंकुर अपनी खास तामझामविहीन निर्देशन शैली में पाठ की साहित्यिकता का रंगमंचीय उपयोग करते हैं। माँ, पिता, बेटे के इन बयानों में एक ही मध्यवर्गीय यथार्थ अकीरा कुरोसावा की फ़िल्म *राशोमन* की तरह तीन अलग-अलग निगाहों से देखे गए तीन सचों के रूप में सामने आता है।

विषय के लिहाज से इस सिलसिले की सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रस्तुति मनोज नायर निर्देशित *कविता यात्रा* थी। भोपाल के ग्रुप सूत्रधार की इस प्रस्तुति में 16 हिंदी कवियों की प्रतिनिधि कविताओं को प्रस्तुति की शक्ल दी गई थी। थिएटर के कुछ ज़्यादा ही बोलने का यह प्रस्तुति एक नायाब उदाहरण थी। हर कविता के पहले एक परिचयात्मक वक्तव्य प्रस्तुति में नत्थी था। गोया संयोजक को दर्शक-श्रोता की समझ, जानकारी, संवेदना और कविता की अपनी संप्रेषण क्षमता पर कोई भरोसा ही न हो। धुनों और संगीत के स्तर पर भी एक सपाटपन प्रस्तुति में था और दृश्य के स्तर पर भी। एक तरह के सजावटीपन की शिकार प्रस्तुति के मंचीय ढाँचे में रंगमंचीय अवयवों की तुलना में सायास दृश्यात्मकता की भरमार थी। ये कविता के सरलार्थ के दृश्य थे, न कि उसका कोई कल्पनाशील रूपक।

संगम पाण्डेय : युवा पत्रकार और रंगसमीक्षक। साहित्य और कलाओं के बहुतेरे वृत्तांत पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। दिल्ली में रहते हैं।

रंग कार्यशाला वाराणसी की

व्योमेश शुक्ल

छोटे से आँगन में/माँ ने लगाए हैं/तुलसी के बिरवे दो
पिता ने उगाया है/बरगद छतनार
मैं अपना नन्हा गुलाब/कहाँ रोप दूँ

—केदारनाथ सिंह

कला की ज़मीन पर नएपन का 'नन्हा गुलाब' रोपे जाने की ज़रूरत एक शाश्वत ज़रूरत है। फ़िलहाल के संदर्भ में बनारस की सुदीर्घ रंगपरंपरा 'छतनार बरगद' है और रंगकर्म का नवाचार 'नन्हा गुलाब'। इस तरह एक कविता का सत्य बनारस के रंग वर्तमान पर घटित हो रहा है, और भविष्य पर भी होगा, इसके पुष्ट सूत्र इस बीच दिखे हैं। भारतेन्दु, आग़ा हश्र और प्रसाद के कृतित्व से समुन्नत यहाँ का रंगअतीत अपने बड़प्पन में समकालीन बनारस पर छतरी की तरह छाया रहता है। इतने विराट, विस्तृत और समुज्ज्वल अतीत को चुनौती की तरह लेने की बजाय यहाँ के रंगकर्मियों ने उस अतीत को पूजने और उसका अनुकरण करने का अपेक्षाकृत आसान रास्ता चुना। और परंपरा से प्रस्थान के प्रयत्न भी कभी-कभी, अपवाद की तरह हुए।

ऐसे में, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय नवंबर, 2005 के मध्य में साठ दिनी सघन रंग कार्यशाला की योजना के साथ बनारस में उपस्थित हुआ तो रंगकर्म के नवाचार को लेकर सुखद संभावनाओं और 'देखें, एनएसडी वाले क्या करते हैं' सरीखी उत्सुकताओं का माहौल तभी से बन गया।

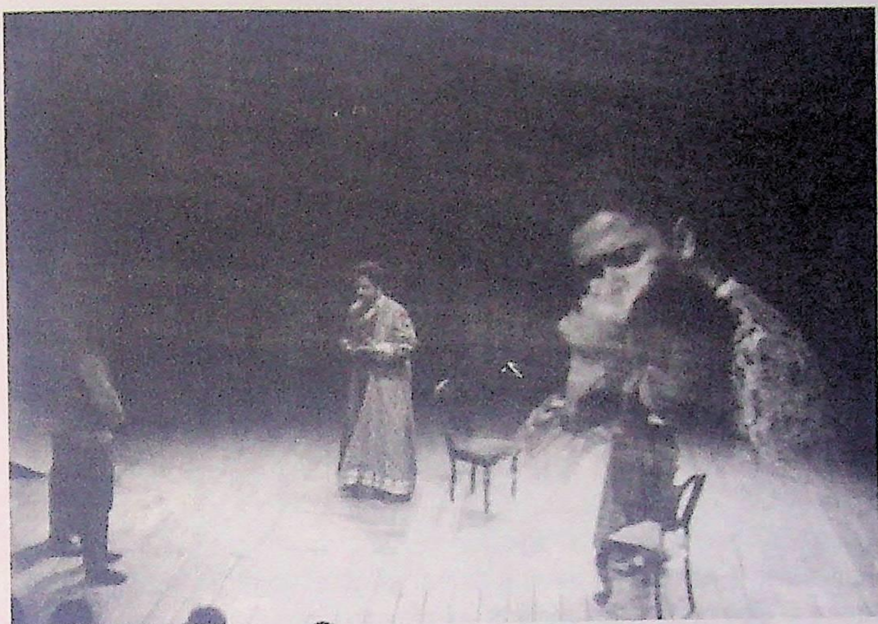
हिंदी पट्टी में लगने वाली इस पहली सघन रंग कार्यशाला के लिए उचित ही नगर की सर्वोपरि, एक सदी पुरानी रंग संस्था *श्री नागरी नाटक मंडली* सहकार के लिए आगे आई और हिंदी के अमर बागी कवि कबीरदास के कर्मस्थल कबीरचौरा स्थित, हिंदी-संसार के प्राचीनतम मंचों में से एक *नागरी नाटक मण्डली* पर देश का प्रासंगिकतम् रंग-प्रशिक्षण दिया जाने लगा।

कभी-कभी परंपरा और नव्यता के बीच ऐसे भी संवाद या अंतःक्रिया होती है।

लेकिन संवाद के पहले!

पूर्वरंग

पूर्वरंग यानी कार्यशाला की चौतीस सीटों पर चुने जाने के लिए बुलाए गए इंटरव्यू में देशभर से इकट्ठा दो सौ युवतम अभ्यर्थी। पूर्वरंग यानी गेंद की मानिन्द उछलते-चहलक़दमी करते हुए कुछ युवाओं की 'कार्यशाला में चुन लिए जाएँगे' की बेफ़िक्री। पूर्वरंग यानी शेष अभ्यर्थियों में 'कहीं नहीं चुने गए तो' वाला संकोच और भय। पूर्वरंग यानी अभ्यर्थियों के फॉर्म और बायोडाटा लेकर तेज़ी से इधर-उधर करते चुस्त-बुज़ुर्ग स्वदेश बंधु। पूर्वरंग यानी स्थानीय संयोजक रतिशंकर त्रिपाठी की देहभाषा से झलकता कुछ नया कर डालने का उत्साह। पूर्वरंग यानी राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से आए किंतु अभ्यर्थियों के भीतर किसी दूसरे ग्रह के प्राणियों को देख



*दिनेश खन्ना निर्देशित **हैमलेट** का एक दृश्य*

लेने पर होने वाला भय और अचरज पैदा करते सुधीर कुलकर्णी और दिनेश खन्ना। पूर्वरंग यानी कार्यशाला का उद्घाटन विद्यालय के निदेशक प्रोफ़ेसर देवेंद्र राज अंकुर करेंगे, लेकिन नहीं आ पाए। पूर्वरंग यानी प्रसिद्ध कथाकार काशीनाथ सिंह ने कार्यशाला का उद्घाटन किया और बोले कि ''कितना दुखद है कि बनारस का समकालीन सांस्कृतिक व्यक्तित्व उस भूत की तरह है जिसके पाँव पीछे यानी अतीत की ओर हैं, आगे की ओर नहीं'', और ''यह कार्यशाला कम से कम स्थानीय नाट्यकर्म को उसके भव्य अतीत से बाहर निकालने का एक अवसर बनेगी।'' पूर्वरंग यानी विस्तार का कार्यक्रम समिति के दिनेश खन्ना की सख्ती कि 'कोई मिनट भर भी लेट नहीं होगा, नहीं तो निकाल दिया जाएगा,' कि 'कोई अपने घर नहीं जाएगा', कि 'लेस डिस्कशन मोर वर्क', कि 'सेल्फ फाइट करनी है'। उद्घाटन के बाद बातचीत करने की गरज से मैंने उनसे कहा कि अपने लेखन में सेल्फ फाइट की लगातार अनथक बात करने वाले हिंदी कवि मुक्तिबोध हैं। वे इसे 'आत्मसंघर्ष' कहते हैं। इस पर खन्ना जी बोले : 'हाँ! लेकिन सेल्फ फाईट करनी है, ख़ूब करनी है।' मैंने हाँ-हाँ में सिर हिलाया।

इसी बिंदु पर मुझे यह समझ लेना चाहिए था कि आगामी साठ दिनों में सेल्फ फाइट के कितने कैसे आयामों से हमारा परिचय होने वाला है, और यह भी कि मेरा, या किसी का भी, सादा अर्जित पूर्वज्ञान और खुद को लेकर बनाई गई धारणाएँ किस तरह रंगमंच पर उतरने से पहले एक बड़ा-सा शून्य बन जाती हैं।

अब कक्षाएँ

सह्य जाड़े में सुबह साढ़े सात से नौ तक रवि उपाध्याय की योग कक्षा के बाद नौ से दस का

ब्रेक यानी थिएटर के बाहर चायपान की दुकानों पर चौंतीस युवाओं की इधर-उधर और बहसबाज़ी। दस से साढ़े ग्यारह तक नूतन सूर्य माथुर की वायस एंड स्पीच की क्लास। एक से दो लंच ब्रेक। कहने को स्पीच की क्लास लेकिन योग-कक्षा से कम शारीरिक मेहनत नहीं कराती मैडम। बनारस के मस्तमौला युवक विशेष रूप से दिक़्क़त में। कहाँ शाम के दो-तीन घंटों के मनबहलाव को नाटक की तैयारी मानने का चिरस्थापित परसेप्शन और कहाँ दिनभर की रगड़ाई। साढ़े ग्यारह से एक तक हरीश खन्ना की एक्टिंग की क्लास। एक से दो लंच ब्रेक। फिर दो से साढ़े पाँच तक दिनेश खन्ना की एक क्लास जिसमें भयंकर शारीरिक-मानसिक श्रम। बीच-बीच में स्क्रिप्ट-विश्लेषण की कक्षा के लिए कैम्प डायरेक्टर सुमन कुमार कभी भी आ सकते हैं। एक बेहद व्यस्त शेड्यूल में हमें लगातार सर्जनात्मक अनुभव दिए जा रहे हैं। ये अनुभव इतने ज़्यादा और अपनी प्रकृति में इतने भिन्न-भिन्न हैं कि प्रतिभागी इन्हें अपने भीतर अर्थ का कोई निश्चित पैटर्न नहीं दे पा रहे हैं। लेकिन अभी पैटर्न देना भी कहाँ हैं? 'समय बर्बाद मत करो और दौड़ते हुए एक क्लास से दूसरी क्लास में जाओ। भागो-भागो।' मतलब ये कि जैसा दिनेश खन्ना कहते हैं, 'फ़िलहाल सिर्फ़ सीखो।'

रंगमंच-संबंधी आधुनिक चिंतन अभी देश में कतई प्रसरित नहीं हो सका है। यह भी एक कारण है कि जनपदीय रंगमंच की अधिकांश गतिविधियाँ पारसी थिएटर से प्राप्त रूढ़ रंग आदतों से ग्रस्त हैं, और विडंबना यह भी है कि ऐसी गतिविधियाँ अपनी यथास्थितिवादिता और प्रतिगमन में संतुष्ट लगती हैं। कार्यशाला के कई प्रतिभागी लगभग वैसी ही आदतों के शिकार थे जिन्हें प्रकारांतर से दुरुस्त किया गया। लेकिन इस संघर्ष में कार्यशाला का काफ़ी समय और प्रतिभागियों-प्रशिक्षकों की काफ़ी ऊर्जा ख़र्च हुई।

इस बीच मशहूर प्रयोगधर्मा युवा निर्देशक अभिलाष पिल्लई हमारे बीच आए। उन्होंने कल्पना, संवेदना और पारस्परिकता की भावना को सान्द्र और सकर्मक बनाने वाले कई रंग अभ्यास हम से करवाए। उन्होंने रंगक्षेत्र में मौजूद सूक्ष्मतम और स्थूलतम वस्तुओं का संज्ञान लेने और उनसे संवेदित होने का ख़ूब रियाज़ हमसे करवाया। वे हमें बार-बार थिएटर से भिन्नतर स्पेसों में ले गए और रूढ़ियों की जगह आन्तरिक सत्य से संचालित होकर अभिनय करने की सलाह दी। वे हमारे बीच एक चुप, सादा वैज्ञानिक और मननशील उपस्थिति थे जो अहर्निश रंगमंच के परंपरित और पाण्डित्यधर्मी होने के विरुद्ध कुछ सोचती-करती रहती थी। उन्होंने चौतीस लोगों में से तीन-तीन लोगों के दस-ग्यारह दल बना दिए और प्रत्येक दल से *आषाढ़ का एक दिन* के छोटे-मनपसंद हिस्से को भिन्न-भिन्न स्पेसों पर मंचित कराया। यह एक अपूर्व अवसर बना। अभिलाष पिल्लई अपने साथ प्रतिभागियों को गंगातट और सारनाथ ले गए और अन्यथा इतिहासगत कारणों से मशहूर इन जगहों के विभिन्न हिस्सों में *आषाढ़ का एक दिन* के चरित्रों को जीवंत करना, ऐसे पर्यावरण में उन पात्रों को अवस्थित करना और उन परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करना सिखाया। यह अति रोमांचक अनुभव था और अभिलाष पिल्लई प्रतिभागियों के साथ काम करके बेहद ख़ुश।

और बाक़ी कक्षाएँ भी ज़ारी हैं। कक्षाओं की बारीक जानकारी, किस दिन कौन आ, कौन जा रहा है, किसकी क्लास कितने बजे से है, स्थानीय विशेषज्ञ कौन-कौन से, कब-कब आएँगे जैसी सूचनाओं के लिए कृपया स्वदेश बंधु से सम्पर्क कीजिए। बंधु जी वरिष्ठ और चर्चित नाट्यकर्मी हैं। वत्सल और दोस्ताना हैं। देर से आने पर नाराज़ होते हैं, सिगरेट पीते देख लेने पर डाँटते हैं, चोट लगने पर डाक्टर के यहाँ ले जाते हैं, दवाई दिलाते हैं और फुर्सत मिलने पर, जो कि



प्रतिभागियों के साथ संगीत विशेषज्ञ भास्कर चंदावरकर

प्रायः नहीं ही मिलती, अपनी जवानी के क़िस्से सुनाते हैं। सुरेश शेट्टी के साथ भारतीय और पाश्चात्य नृत्यों के कुछ स्टेप्स सीखना, अनिल रंजन भौमिक के साथ मनोशारीरिक रंगकर्म का बुनियादी प्रशिक्षण, अतुल तिवारी के साथ भिन्न-भिन्न क़िस्म के थिएटर गेम्स खेलना, श्रीश डोभाल के साथ विभिन्न महत्वपूर्ण नाट्यकृतियों के विशेष हिस्सों को मंचित करना, के. मोहन के साथ मेकअप और प्रशान्त गौतम के साथ स्टेज प्रापर्टी निर्माण सीखना जैसे अनुभव बिलकुल अलहदा अनुभव रहे। इस दौरान स्थानीय संयोजक द्वय रतिशंकर त्रिपाठी और सुमन पाठक कभी सख्त तो कभी तरल होकर एक अभिभावक की तरह प्रशिक्षणार्थियों पर लगातार निगाह रखते रहे। इस तरह क्या हर कार्यशाला में एक विरल पारिवारिकता संभव होती है? और यदि होती है तो क्या यह एक ऐसी उपलब्धि है जिसे कला-इतर उपलब्धि माना जाए?

चितरंजन गिरि के साथ ज्ञान चतुर्वेदी कृत *बारामासी* और हरिशंकर परसाई कृत *भोलाराम का जीव* की प्रस्तुति अत्यन्त कम समय में नए ढंग से तैयार करने के अनुभव ने प्रतिभागियों को पर्याप्त ऊर्जस्वित किया। यह निर्णायक मंचन की तैयारी शुरू होने के ठीक पहले का वक़्त था। उन्होंने अनुशासन पर बेहद ज़ोर दिया, जैसे क्लास में जम्हाई लेने पर घंटों दौड़ाते थे। उन्होंने 'एक नाट्यकर्मी को जीवन में कैसा होना चाहिए' जैसे प्रश्नों से छात्रों को मुख़ातिब कराया। उन्होंने स्वच्छता और सुव्यवस्था जैसे विषयों के बुनियादी पाठ पढ़ाए जो जीवन व्यवहार के क्रम में हम लोग भूलते जाते हैं, हालाँकि एक रंगकर्मी होने के नाते उन्हें बराबर याद रखना चाहिए। विख्यात संगीतविद् भास्कर चंदावरकर की कक्षाओं में एक स्वप्निल वातावरण होता था। उनके व्यक्तित्व की उदात्तता, चिंतनशीलता और अदम्य शान्ति जैसे वातावरण को संक्रमित कर रही हो। अपने ज्ञान में उन्होंने कई अनुशासनों का विरल सामंजस्य संभव किया

है। वे संगीत के तार की लंबाई और उससे उत्सर्जित होने वाली ध्वनि के अनुपात के संदर्भ में आइंसटीन के किसी सूत्र की व्याख्या करते हुए अचानक पोस्टमार्डनिज़्म का ज़िक्र करते हुए मिशेल फूको की सबसे नई किताब का हवाला देने लग सकते हैं। इसी कोटि का मौन और गांभीर्य लिए प्रोफेसर देवेंद्र राज अंकुर बीच-बीच में हमारे पास आए। पढ़ाने की जगह हमसे बातें कीं, हमारा हाल-चाल लिया और प्रेरित करते रहे।

विशेषज्ञों में प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी, प्रतिभा अग्रवाल, डॉ. भानुशंकर मेहता, प्रो. रेवा प्रसाद द्विवेदी, डॉ. राजेन्द्र उपाध्याय, अमिताभ भट्टाचार्य, राजेश्वर आचार्य और रामकृष्ण समय-समय पर विभिन्न विषयों पर वक्तव्य देने आए। चित्रकार सत्येंद्र बावने कैनवस पर प्रतिभागियों को दी गई किसी कृति-विशेष के विभिन्न चरित्रों को किसी विशिष्ट परिस्थिति में 'विजुअलाइज' करना सिखाते थे। हिंदी कवि और नाटककार उर्मिलकुमार थपलियाल ने एक संक्षिप्त कक्षा में हमें नौटंकी विधा के विभिन्न आयामों से परिचित कराया।

इसके बाद निर्णायक प्रस्तुति की तैयारियों की शुरूआत होती है। दिनेश खन्ना दुबारा हाज़िर। वही निर्देशक होंगे। *हैमलेट* का मंचन होगा। प्रतिभागियों के बीच कर्फ़्यू की स्थिति। दिनेश खन्ना लगातार डाँट रहे और चुनौती दे रहे हैं। चौबीस घंटे में पच्चीस घंटे काम करना होगा। बिलावजह की बहसबाज़ी, हँसी-ठठ्ठे से बचना होगा। विषय पर यानी नाटक के टेक्स्ट पर एकाग्र होना होगा। डेढ़ महीने तक बहुत मज़ा कर लिया तुम लोगों ने, डेढ़ महीने में बहुत खा-पी लिया, घूम लिए। अब काम होगा।

और फ़िर सचमुच काम हुआ।

दिनेश खन्ना के ही मुहावरे में कहें तो 'चौबीस घंटे में पच्चीस घंटे।'

विश्वास न हो तो सासाराम निवासी रवि सचदेवा से पूछें जो *हैमलेट* में 'पोलोनियस' का



छऊ नृत्य की एक भंगिमा



शारीरिक प्रशिक्षण

रोल कर रहे थे और जिन्होंने तीस दिनों के रिहर्सल में कम-से-कम दर्जन भर गालियाँ सुनी और अनगिनत बार पिटे।

स्थानीय लोग दंग थे। भला ऐसे भी नाटक होता है? क्रूर जाड़े की रात में एक लगभग खुले हुए स्पेस में रात दो-तीन बजे तक रिहर्सल प्रायः रोज़ का नियम था। ऐसे अनेक अभ्यास दिन में कई बार हो रहे थे, जो परंपराजन्य नाटक से प्राप्त एक पुरानी, पिटी हुई और नितान्त अरचनात्मक देहभाषा के विरुद्ध एक सार्थक, संभावनाशील और अभिनव कला और कलाकार रचते हैं। समय कम था इसलिए अभ्यास सघनतर होता जाता था। शरीर पस्त और उत्साह शिखर पर। मिनट भर का अवकाश नहीं। खुद खन्ना जी एकाधिक बार बीमार पड़े लेकिन इससे रिहर्सल के स्वास्थ्य या गति पर किसी क़िस्म का कोई अंतर नहीं पड़ा था। इस बीच नाटक की सेट डिज़ाइनिंग के लिए सत्यव्रत राउत, प्रकाश के लिए गौतम मजूमदार, वस्त्र-परिकल्पना के लिए अंबा सान्याल और संगीत के लिए अनिल मिश्र और सैण्डी आ गए थे। इन विद्वानों की भी अलग-अलग कक्षाएँ चलती थीं। लेकिन दिनेश खन्ना इतने आक्रामक कि इन लोगों की कक्षाओं के समय में भी चले आते। अधिक से अधिक रिहर्सल कराने के फ़ेर में रहते। ख़फ़ा होते, डाँटते-डपटते, ज़ोरों से चिल्लाते। प्रतिभागियों का खाना ले आने वाले व्यक्ति पर बरसते : 'जब भी मैं किसी प्वाइंट पर पहुँचता हूँ, खाना आ जाता है। ऐसे तो कोई काम नहीं हो सकता।'

रिहर्सल की गहमागहमी के बीच ही नाटक की डिज़ाईनिंग को लेकर, चरित्रों की वेशभूषा के बारे में, निमंत्रण पत्र और ब्रोशर की डिज़ाइन के संबंध में बातचीत, बहसें और तूँ-तकरार होती रहती थी। बनारस में प्रोसेनियम पद्धति का मंच ही एकमात्र प्रचलित रंग विकल्प है और प्रेक्षागृह इतना बड़ा, फैला हुआ है कि मंच और दर्शकों के बीच एक निर्विघ्न निरंतर सघन

संवाद संभव नहीं हो पाता। और उत्कृष्टतम प्रस्तुतियाँ भी इसी कारण से अन्ततः हल्की पड़ जाती हैं। दूसरी प्रस्तुतियों को देखने के क्रम में इस दिक़्क़त का पता चल गया था। इसलिए मंच को 'एरिना' पद्धति के मंच में बदला गया। ये भारी मशक़्क़त का काम था। कारीगर रात-दिन काम कर रहे थे और उनकी कटु ठोंकपीट के बीच पात्र चीख-चीख कर रिहर्सल ज़ारी रखते थे। सारी रंग हरकतें सामान्यतया और पागलपन की विभाजक रेखा पर पहुँची हुई थीं और व्यस्तता और जोश चरम पर। अन्ततः दो दिनों में चार शो हुए। एक शो तीन घंटे से ज़्यादा का। एक बार में तक़रीबन चार सौ लोग देखते थे। लेकिन यह देखना बनारस में प्रचलित आदत के विरुद्ध एक विशुद्ध सांस्कृतिक देखना था। मंचन के दौरान एक भी दर्शक एक बार भी अपनी जगह से नहीं हिला और लगातार पिन ड्रॉप साइलेंस और फिर नगर में बवाल।

बवाल का मतलब *हैमलेट* हिट। आलम ये कि एक शो ख़त्म होने के पहले ही दूसरे शो के दर्शक लाइन लगा लेते थे। यह कहना उचित होगा कि बनारस की जनता ने अपनी ही रंगरुचि में परिवर्तन के इस नए प्रस्ताव का, जो कि *हैमलेट* की शक्ल में सामने आया था, स्वागत किया।

ये प्रस्तुति के बाद वाला सुस्त दिन है। प्रतिभागी अंकुरजी के इर्द-गिर्द खड़े थे। किसी ने कहा : "सर! इतनी मेहनत हम लोगों ने ज़िंदगी में कभी नहीं की थी।" इस पर अंकुरजी ने जो कुछ कहा उसी से इस सत्तर दिवसीय सघन और सफल कार्यशाला का वास्तविक पटाक्षेप होता है।

"हाँ! लेकिन देखो, अब सब कुछ ख़त्म हो चुका है। निर्माण और विनाश, ये रंगमंच के अनिवार्य तत्व हैं। . . . अब आगे की ओर देखना होगा।"

व्योमेश शुक्ल : कलाओं में गहरी रुचि। आलोचनात्मक लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित-प्रशंसित हुए हैं। काशी के कला जीवन पर लिखा है। फ़िलहाल काशी हिंदू विश्वविद्यालय में मुक्तिबोध की आलोचना-दृष्टि पर शोधरत। वाराणसी में रहते हैं।

चलो फिर चलें लोक की ओर

अजित राय

रंगमंच के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों से धन लेना अपनी प्रतिबद्धताओं के साथ धोखा होगा और पाखंड भी क्योंकि हम संस्कृतिकर्मी सेमिनारों और नाटकों में भूमंडलीकरण का विरोध करते रहे हैं। यदि हम उनसे पैसा लेंगे तो वे अपनी शर्तें भी लादेंगे—और सारी कलाओं का इस्तेमाल अपने उत्पाद बेचने से करेंगे। फिर हमारी सांस्कृतिक स्वायत्तता का क्या होगा? हमारे पास दूसरा रास्ता है। हम जनता के बीच जाएँगे।

अड्डेरी गोबिंदप्पा चिदम्बरा राव जाम्बे, निदेशक, ***रंगायन****, मैसूर।*

देश के जाने-माने संस्कृति केंद्र मैसूर स्थित 'रंगायन' ने संस्कृति को समाज से जोड़ने की नई पहल की है। ज्ञातव्य है कि कर्नाटक में जनता पार्टी सरकार के मुख्यमंत्री रामकृष्ण हेगड़े के विशेष अनुरोध पर प्रख्यात रंगकर्मी ब.व. कारंत ने एक खास योजना के तहत 1989 में 'रंगायन' की स्थापना की थी। कारंतजी की अपनी मान्यता भी यही थी कि हर सांस्कृतिक कार्रवाई लोगों के बीच होनी चाहिए। अब 'रंगायन' के वर्तमान निदेशक ए.जी.सी.आर. जाम्बे ने अपने वार्षिक समारोह 'बहुरूपी' के दौरान दर्जन लोक कलाकारों और नाट्य दलों को आसपास की ग्राम पंचायतों में प्रदर्शन करने भेजकर एक नई पहल की है।

प्रदर्शनकारी कलाओं को गाँव-गाँव जनता के बीच ले जाने की 'रंगायन' की यह पहल इसीलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि कर्नाटक की राजधानी बंगलूर में कई बहुराष्ट्रीय निजी व्यावसायिक कंपनियों के भारी अनुदान से अंग्रेज़ी रंगमंच का परचम लहरा रहा है। जाम्बे सवाल करते हैं—"इससे तो थिएटर जनता की पहुँच से ही बाहर हो जाएगा। दूसरे हमारा मध्यवर्ग कन्नड़ नाटकों और लोककलाओं से विमुख हो रहा है। कारपोरेट पूँजी हमारी स्थानीय संस्कृति को तबाह कर अपना ग्लोबल बाज़ार बना रही है।" प्रो. जाम्बे की बात को इस संदर्भ में भी देखा जाना चाहिए कि कर्नाटक देश का अकेला ऐसा राज्य है जहाँ साहित्य, संस्कृति और पारंपरिक कलाओं की जड़ें आम जन-जीवन में बहुत गहरी हैं। सौ साल पहले गुब्बी वीरन्ना ने जिस यायावर 'कंपनी थिएटर' को अभूतपूर्व लोकप्रियता दिलाई थी, वह आज मुश्किल में है। हाल तक 'यक्षगान' की दर्जनों कंपनियाँ थीं, उनमें से अब केवल गिनी-चुनी ही बची हैं। शेष पारंपरिक लोककलाओं में आजीविका कमाना मुश्किल हो रहा है। कारण यह कि नए उभरते शिक्षित मध्यवर्ग की रुचि अब कन्नड़ संस्कृति की बजाय कारपोरेट संस्कृति में बढ़ रही है। ये कलाकार अंग्रेज़ी रंगमंच से पिछड़ रहे हैं। प्रो. जाम्बे के सामने असली चुनौती यही है। इसलिए रंगमंच और लोककलाओं को गाँव-गाँव जनता के बीच ले जाने की पहल 'रंगायन' ने अपने वार्षिक उत्सव 'बहुरूपी-2005' में की है। प्रो. जाम्बे पूरे राज्य में उस थिएटर आंदोलन को फिर से ऊँचाई पर ले जाना चाहते हैं जिसने कन्नड़ रंगमंच में हज़ारों रंगकर्मियों को पैदा किया था।

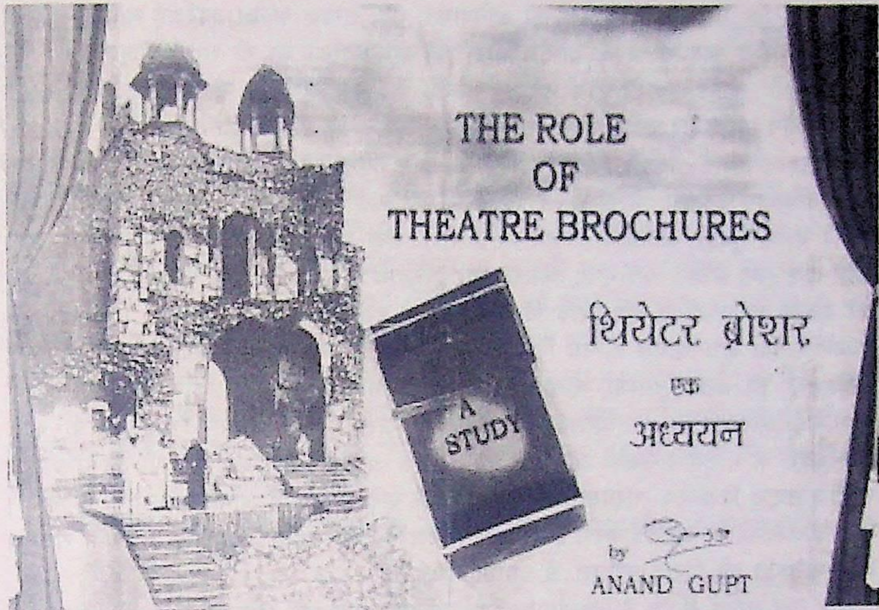
रंगायन में 'बहुरूपी' समारोह की परिकल्पना अब से पाँच वर्ष पूर्व तत्कालीन निदेशक प्रसन्ना ने की थी। उन्होंने प्रख्यात कन्नड़ कवयित्री अक्का महादेवी के नाम पर स्त्री सशक्तीकरण के विषय पर केंद्रित 'अक्का महोत्सव (नवंबर 2001)' आयोजित किया था। दूसरे

वर्ष उन्होंने 'सामाजिक न्याय' विषय पर 'बहुरूपी-एक' का आयोजन किया। इसी तरह यह आयोजन चल निकला। अब प्रो. जाम्बे ने इसे पूरी तरह एक समग्र लोक आयोजन में बदल दिया है। पूरे परिसर में विभिन्न स्थापत्य वाले थिएटरों एवं मंचों पर एक साथ कई नाटकों के साथ-साथ लोक कलाकारों का प्रदर्शन, चित्र प्रदर्शनी, विश्व की क्लासिक फ़िल्मों का प्रदर्शन, सेमिनार, 'निर्देशक से भेंट, कलामंडप के चारों ओर विशाल गलियारे बनाकर पुस्तकों, हस्तशिल्प एवं कुटीर उद्योग से निर्मित उत्पादों और औषध वनस्पतियों की प्रदर्शनी-बिक्री आदि कई गतिविधियाँ एक साथ चलती हैं। यह एक तरह से संस्कृति को पर्यावरण एवं आर्थिक विकास से जोड़ने की पहल है।

वरिष्ठ रंग समीक्षक और नाटकों के समर्पित प्रेमी आनंद गुप्त अब हमारे बीच नहीं रहे। उन्होंने काफी मेहनत और तैयारी करके पिछले दिनों भारतीय नाटकों के ब्रोश्योर को आधार बनाकर लगभग आधे घंटे का एक स्लाइड शो तैयार किया था। इसके लिए उन्हें ख़ासतौर से *रंगायन* में बहुरूपी महोत्सव के दौरान सहायक के तौर पर उनकी बेटी सहित बुलाया गया था। यह उनका अंतिम प्रदर्शन साबित हुआ। इसे उन्होंने इब्राहिम अलकाज़ी को समर्पित किया था। हम सबने मैसूर में उनके आग्रह पर यह शो देखा। उनके पास नए पुराने नाटकों के तरह-तरह के ब्रोश्योर्स का अपूर्व संग्रह है जिसके आधार पर उन्होंने अपना मल्टीमीडिया प्रदर्शन तैयार किया था। *तुग़लक, अंधा युग, आधे-अधूरे, आषाढ़ का एक दिन* सहित कई दर्ज़न नाटकों के कई-कई प्रस्तुतियों के ब्रोश्योर इसमें शामिल हैं।

हालाँकि 'बहुरूपी' के हर आयोजन के साथ कोई न कोई महत्वपूर्ण सेमीनार ज़रूर होता है, परंतु इस बार यह ख़ास था। विषय था 'देशज संस्कृति : उत्तर आधुनिक संदर्भ।' और इसमें बोलने वाले विद्वानों में काफ़ी महत्वपूर्ण नाम थे जो अपने समय और समाज के प्रति गंभीर चिंतन के लिए जाने जाते हैं। प्रख्यात समाजशास्त्री रामचंद्र गुहा, चर्चित वैज्ञानिक शिव विश्वनाथन एवं सव्यसाची चटर्जी, चर्चित रंगकर्मी प्रसन्ना, एम.के. रैना, कीर्ति जैन, फ़िल्म पटकथा लेखक अतुल तिवारी, लेखक असग़र वज़ाहत के साथ कई दर्जन स्थानीय विद्वानों ने अपने विचार रखे। सबकी चिंता थी कि इस भूमंडलीकृत उत्तर आधुनिक युग में देशज संस्कृति का क्या रूप होगा। अक्सर इस विषय पर होने वाले सेमिनारों में विलाप होता है, किंतु यहाँ कई वक्ताओं ने सकारात्मक पक्षों पर भी विचार किया। समकालीन समय में नाट्य प्रशिक्षण, देशज संस्कृति के संदर्भ में थिएटर में संक्रमण काल की प्रवृत्तियाँ, विज्ञान और प्रौद्योगिकी की संस्कृति, संस्कृति बहुलतावाद और लोकतंत्र, नई सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में सम्प्रेषण के शास्त्र में बदलाव, सामाजिक हिंसा और नई चुनौतियों के बारे में कलाकारों का पक्ष, रंगमंच और आर्थिक हित जैसे कई गंभीर और ज्वलंत विषयों पर विभिन्न सत्रों में चर्चा हुई। कन्नड़ समाज में सेमिनारों की एक विशेष संस्कृति है। लोगों के सुनने का अंदाज और भागीदारी की शैली में यह दिखाई देता है। नोट करने की बात यह है कि चाहे कितना ही भव्य सेमिनार हो उसमें उनकी मातृभाषा कन्नड़ का काफ़ी सम्मान देखा गया है। विचार की भाषा के रूप में भी कन्नड़ का काफ़ी विकास हुआ है।

रंगायन ने अपने वार्षिक राष्ट्रीय नाट्य समारोह (8-13 दिसंबर, 2005) में रंगमंच और कलाओं से जुड़े कई ज्वलंत मुद्दों पर गंभीर विचार-विमर्श की बौद्धिक पहल भी की है। मुझे याद नहीं आता कि पिछले कुछ वर्षों में हिंदी क्षेत्र में इस तरह की सुव्यवस्थित पहल की गई हो। हाँ, अकादेमिक सेमिनार तो बहुत सारे होते रहते हैं। गंभीर बौद्धिक विषयों पर राष्ट्रीय-परिसंवाद



में किसी रंगकर्मी का अपनी मातृभाषा कन्नड़ में सवाल पूछना और वक्ता का उसी भाषा में जवाब देना सुखद आश्चर्य पैदा करता है। इस संगोष्ठी में एक बड़ा मुद्दा यह था कि इस उत्तर आधुनिक समय में अभिनेता को कैसे प्रशिक्षित किया जाए कि वह एक साथ पारंपरिक आधुनिक पश्चिमी और लोक रंगमंच की माँग को पूरा कर सके। भारत में रंगमंच प्रशिक्षण के विभिन्न संस्थानों के बीच संवाद से एक 'सम्पूर्ण भारतीय प्रशिक्षण पद्धति' विकसित की जा सकती है। अब तक प्रचलित 'मेथाडॉलाजिकल एक्टिंग' में बदलाव लाया जा सकता है। मानवीय गतियों और प्रतिरूपों की नई वैज्ञानिक व्याख्याओं के सामने आने के बाद और 'एथनिक' प्रभावों के परिप्रेक्ष्य में रंग-प्रशिक्षण में बदलाव एक बड़ी परियोजना है। एक सामाजिक संस्था के रूप में थिएटर रंगमंचीय सम्प्रेषण के सार्वजनिक चरित्र को निर्मित करता है। शुरू-शुरू में थिएटर किसी समुदाय धार्मिक रीति-रिवाजों को प्रोजेक्ट करने का माध्यम था, बाद में नैतिक और आचार संबंधी नीतियों को फैलाने में इसका उपयोग हुआ, फिर इसे प्रतिरोध का हथियार बनाया गया। अब यह एक सेक्युलर संस्था बन चुका है।

थिएटर से जुड़ा एक प्रमुख मुद्दा है कि इसके लिए धन कहाँ से आएगा। ऐतिहासिक रूप से रंगमंच को सरकारी (राज्य से) और निजी आर्थिक संरक्षण मिलता रहा है। यह मान लिया गया है कि राष्ट्रीय स्तर पर थिएटर भारत में अंततः एक ग़ैर व्यावसायिक उपक्रम है। तब इस उत्तर आधुनिक समय में जबकि हमारी अर्थव्यवस्था बाज़ार की शक्तियों के नियंत्रण में है, कैसे थिएटर जीवित बचेगा। यह एक गंभीर प्रश्न है कि बाज़ार से पैसा लेने के बाद थिएटर की भूमिका क्या वहीं रह जाएगी जो अब तक रही है या जो होनी चाहिए। इसीलिए *रंगायन* ने गाँव-गाँव जाने की पहल की है। इसका दूसरा उत्तर भी हो सकता है कि बाज़ार के साथ क़दम मिलाते हुए थिएटर को आर्थिक स्वावलंबन की ओर बढ़ना चाहिए। सामाजिक हिंसा और रंगमंच के मुद्दे पर भी नई-नई विचारधाराएँ सामने आ रही हैं। यह सारा विमर्श एक उम्मीद

जगाता है कि 'रंगायन' ने रंगमंच को अनिवार्यतः एक समाज सापेक्ष कार्रवाई माना है जिसमें न सिर्फ शहरी मध्यवर्ग बल्कि ग्रामीण और कृषि अर्थव्यवस्था का भी संदर्भ मौजूद है।

'बहुरूपी' मूलतः एक राष्ट्रीय नाट्य समारोह है। इसलिए कुछ नाटकों की चर्चा करना उचित जान पड़ता है। चर्चित युवा रंगकर्मी अजय कुमार का *बड़ा भांड तो बड़ा भांड, डार्क हॉर्स* (गौरी रामनारायण, चेन्नई), *उसके हिस्से का प्रेम* (विभा मिश्र, भोपाल), *यहूदी की लड़की* (अहमद अंजुम देहलवी, दिल्ली), *जो, जैसी आपकी मर्जी* और *आपरेशन क्लाउडबर्स्ट* (नादिरा जहीर बब्बर, मुंबई), *अभिज्ञान शाकुंतलम्* (केरल), *चेक प्वाइंट* (श्रीलंका), *खुमा* (नेपाल), *पाता झोरे जाए* (रुद्र प्रसाद सेन गुप्ता, कोलकाता), *सिद्धार्थ* (एम.जी. ज्योतिष, केरल) आदि नाटकों को दर्शकों समीक्षकों ने खूब पसंद किया। इनमें से हर नाटक की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। इनके अलावा कुछ चर्चित कन्नड़ निर्देशकों की प्रस्तुतियाँ भी महत्त्वपूर्ण थीं। मसलन गडिगेरी बसवाराजू, सी. बसवालिंगय्या, सौम्या वर्मा, प्रमोद सिग्गाँव आदि। इस प्रकार यह समारोह एक बहुभाषाई अंतरराष्ट्रीय नाट्योत्सव बन चुका है जिसमें प्रतिवर्ष नाट्य मंडलियों के साथ देश-विदेश से नाट्य समीक्षक और नाट्यप्रेमी दर्शक आते हैं। इस बार बहुरूपी का उद्घाटन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय सोसायटी की अध्यक्ष और वरिष्ठ रंगकर्मी आमाल अल्लाना ने किया। उन्होंने कलाओं के जनतंत्रीकरण और विकेंद्रीकरण पर जोर दिया। 'बहुरूपी' में आना सचमुच कला-संस्कृति की विराट परम्परा से जुड़ना भी है।

यह एक सुखद संयोग है कि 'रंगायन' का 'बहुरूपी' एक ओर संस्कृति (रंगमंच, संगीत-नृत्य, चित्रकला-फोटोग्राफ़ी, लोककलाएँ, सिनेमा आदि) के लोक संवाद की पहल कर रहा है और प्रोसीनीयम थिएटर से निकलकर इसे गाँवों की चौपालों में ले जा रहा है तो दूसरी ओर बड़े सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में इसके विविध आयामी रिश्तों पर गंभीर विचार-विमर्श की पहल कर रहा है। इस आयोजन में केवल यह संस्था नहीं बल्कि मैसूर की आम जनता शामिल है। सभी सरकारी प्रतिष्ठान शामिल हैं। निजी उद्यमी कारोबारी शामिल हैं। बेंगलूर से मैसूर तक हर कहीं इसकी चर्चा होती है। आज के संस्थानीकरण और ग़ैर-सामुदायिक दौर में 'रंगायन' का 'बहुरूपी' 'मैं' से 'समाज' की ओर, प्रतियोगिता से सहयोग की ओर और अलगाव से समन्वय की ओर जाने की सांस्कृतिक पहलक़दमी है।

कालबैशाखी रामकिंकर

रणजीत साहा

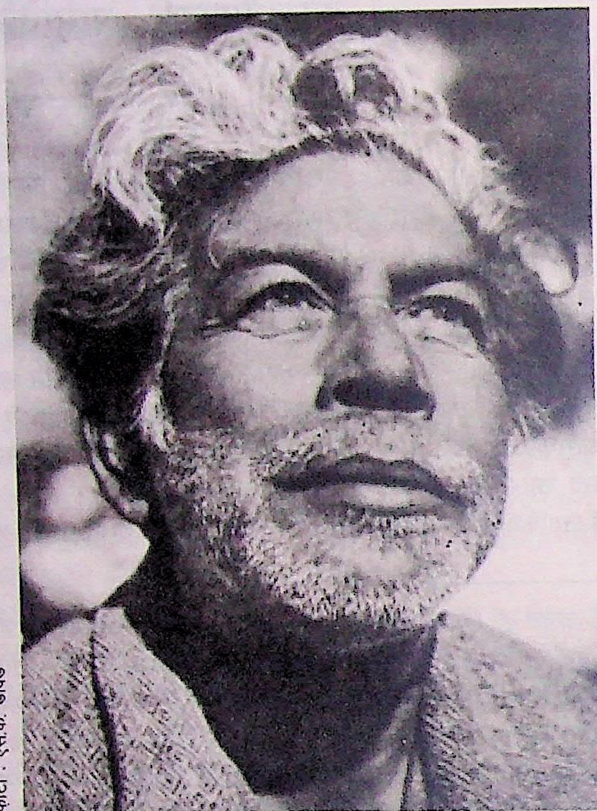
रामकिंकर प्रामाणिक या रामकिंकर बैज का पहला चित्र (*भारतवर्ष*, 1925 में प्रकाशित) रामप्रसाद दास नाम से छपा था--तब बहुत कम लोगों का ध्यान इस नामालूम कलाकार की ओर गया था। लेकिन धीरे-धीरे कला जगत के आकाश पर इस विशिष्ट नक्षत्र के उदय ने सबका ध्यान खींच लिया जिसके बिना बीसवीं सदी की कला का इतिहास पूरा हो ही नहीं सकता। उनकी समकालीन एवं परवर्ती पीढ़ियाँ उनसे सबसे अधिक प्रभावित या अनुप्राणित रही हैं तो यह उनका बड़प्पन या समग्र योगदान मात्र ही नहीं—कहीं-न-कहीं नवीनता के प्रति आग्रह के साथ भारतीय कला शैलियों की स्वीकार्यता और मौलिक कला-सर्जना की संस्तुति भी है। यह सुखद ही है कि कलाकारों की नई पीढ़ी भी उनकी कृतियों एवं निर्मितियों की ओर निरंतर कुछ पाने की आशा से देखती रही है।

भारतीय कला परिदृश्य में रामकिंकर को 'कालबैशाखी' की संज्ञा ठीक ही दी जाती है। यहाँ

ऐसा बहुत कम लोग जानते हैं कि रामकिंकर बैज बाँकुड़ा में, किशोरावस्था से ही स्थानीय नाट्य मंडलियों एवं जात्रा दलों के लिए पर्दे पर चित्र बनाया करते थे। लोक गायकों, विशेषकर बाउलों और उनमें भी लालन फकीर के गान में ऊँचे स्वर में तन्मय होकर गाया करते थे। शान्तिनिकेतन आने पर नाटकों के मंचन की ओर सहज ही उनकी रुचि बढ़ी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटक तो विभिन्न अवसरों पर आश्रम परिसर में, आमकुंज में और सिंह सदन में अभिनीत होते रहते थे। इनमें मंच-सज्जा ही नहीं, अभिनय और कभी-कभी निर्देशन का भार भी रामकिंकर बैज ने उठया था। बंसरी, रक्तकरबी और मुक्तधारा रवीन्द्रनाथ के नाटकों का मंचन एवं निर्देशन उन्होंने ही किया था। भुशुण्डिर पाठ (परशुराम-राजशेखर बसु) ह-य-ब-र-ल और आबोल ताबोल (सुकुमार राय) के अलावा रक्तकरबी और मुक्तधारा की मंच सज्जा और लीक से हटकर निर्देशन के लिए उनकी भरपूर सराहना हुई थी।

तक कि शान्तिनिकेतन--जैसे कला संस्थान (कलाभवन) में भी उनका आगमन अयाचित, अप्रत्याशित एवं अनौपचारिक ढंग से हुआ था। बंगाल के दक्षिण में स्थित बाँकुड़ा-सा जैसा पिछड़ा जनपद--जो बाद में अपनी टेराकोटा मूर्तियों, मंदिरों एवं विशिष्ट कलाशैली के नाते प्रख्यात हुआ तथा पर्यटकों के साथ कला-प्रेमियों के आकर्षण का केन्द्र बना—उसके एक गाँव जुगीपाड़ा में रामकिंकर का जन्म 1906 में हुआ था। वे पिता चण्डीचरण बैज और माता सम्पूर्णा देवी की दूसरी सन्तान थे।

रामकिंकर की आरंभिक शिक्षा गाँव में ही, सुरेश पंडित की पाठशाला में हुई। चूँकि यह स्वदेशी आन्दोलन का दौर भी था इसलिए उनकी पढ़ाई बाद में बाँकुड़ा स्थित बंग विद्यालय



रामकिंकर (1906-1980)

और फिर 'नेशनल काउंसिल ऑफ़ एजुकेशन ऑफ़ स्वदेशी' द्वारा संचालित एक मिडल अंग्रेज़ी स्कूल में हुई। लेकिन वे मैट्रिक तक की पढ़ाई पूरी नहीं कर पाए। बाँकुड़ा जनपद में, तब कांग्रेसी नेताओं द्वारा चलाई जाने वाली गतिविधियों में रामकिंकर युवकोचित उत्साह से भाग लेते थे। हालाँकि उनमें किशोरावस्था से ही कलात्मक अभिरुचि बनी हुई थी—विशेषकर मूर्तिकला और चित्रकला की ओर। कुम्हारों द्वारा निर्मित अलंकृत बर्तनों, पात्रों, खिलौनों एवं परम्परागत कलाकारों एवं मूर्तिकारों द्वारा बनाई गई मूर्तियों एवं उत्सव विशेष पर तैयार की जाने वाली प्रतिमाओं के प्रति उनका आकर्षण आरंभ से रहा था। क़स्बे के शिल्पियों, विशषकर मूर्तिकारों तथा पटुआ चित्र और नाटक के पर्दे बनाने वालों की संगति में चित्र एवं मूर्ति के रेखांकन एवं निर्माण का विशेष अभ्यास रहने के कारण उनकी गिनती, स्थानीय स्तर पर वहाँ के नवोदित एवं प्रतिभासंपन्न कलाकारों में होने लगी थी। छोटी-मोटी कृतियों के निर्माण तथा चित्रांकन द्वारा वे थोड़ा-बहुत उपार्जन भी कर लिया करते थे।

1921 में महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन के समय, ज़िला स्तर पर अंग्रेज़ सरकार के विरुद्ध जो देशव्यापी अभियान छेड़ा गया, युवा रामकिंकर ने भी अपनी पढ़ाई छोड़ दी। स्थानीय कांग्रेसी नेता अनिल वरण राय के अनुदेशानुसार वे ऐसे अवसरों के लिए राष्ट्रीय नेताओं के बड़े-बड़े चित्र बनाते रहे, तैल रंग से उनकी अनुकृतियाँ तैयार कर उन पर सन्देश एवं नारे लिखते रहे। बैनर आदि बनाने में जहाँ वे अपनी मौलिकता प्रदर्शित करते रहे वहाँ प्रचलित रंगों के साथ देशी शैली का भी प्रयोग किया करते थे। श्री राय महाशय ने यह भी बता दिया था कि चरखा चलाना तुम्हारा माध्यम नहीं, तुम्हें रूप और रंग से इस जंग को जीतना है। कोई चार वर्ष बाद, रामकिंकर इन्हीं की सहायता से सुप्रसिद्ध चिन्तक, 'प्रवासी' एवं *मॉडर्न रिव्यू* के संस्थापक- सम्पादक रामानन्द चट्टोपाध्याय (1866-1945) से मिले, जो इस युवा कलाकार के बारे में पहले से ही बहुत कुछ जान चुके थे, विशेषकर उसकी मौलिकता के बारे में।

हुआ यह था कि बाँकुड़ा के एक प्रतिष्ठित धनी-मानी सज्जन (मित्र महाशय) ने रामकिंकर को सुप्रसिद्ध यथार्थवादी चित्रकार रैफल कृत 'मैडोना' की अनुकृति का आदेश दिया था। चूँकि उन दिनों पाश्चात्य शैली के प्रसिद्ध कलाकारों के चित्रों का अनुकरण आम बात थी और अभिजात घरानों या परिवारों में ऐसे चित्रों की अनुकृतियाँ टाँगने का फ़ैशन रंग ला चुका था। उक्त चित्र का अनुकरण मित्र महाशय की सामाजिक प्रतिष्ठा को अवश्य ही कुछ और बढ़ा जाता। रामकिंकर ने अपने एक मित्र और प्रशंसक के कहने पर इस कार्य को करना स्वीकार कर लिया था। लेकिन उन दिनों रामकिंकर की मानसिकता कुछ दूसरी ही थी। वह शाम ढलने के बाद घरवालों को *कृतिवासी रामायण* पढ़कर सुनाया करते थे। सीता वनवास का मार्मिक और करुण प्रसंग चल रहा था। इसलिए 'मैडोना' (जिसकी गोद में युवा-शिशु ईसा मसीह की मृत काया पड़ी है) की अनुकृति न बनाकर उन्होंने निर्वासिता सीता की गोद में खेल रहे लव और कुश को चित्रित कर उन्हें (मित्र महाशय को) सौंप देना चाहा। गेरुआ साड़ी में अज्ञात वनवासिनी सीता और पौराणिक आख्यान से सम्बन्धित यह चित्र देख मित्र महाशय बौखला उठे। उन्हें 'मैडोना' के मुक़ाबले भला यह चित्र प्रीतिकर क्यों लगता? उन्होंने चित्र लौटा दिया। लेकिन अपने अन्य मित्रों के कहने पर रामकिंकर उसे तत्कालीन बांग्ला पत्र *भारतवर्ष* में इसे प्रकाशनार्थ भिजवा दिया, जो बैशाख 1332 बंगाब्द अर्थात् अप्रैल 1925 के अंक में *निर्वासिता सीता* शीर्षक से प्रकाशित हो गया। हालाँकि वह मूल चित्र कभी वापस नहीं मिला लेकिन पारिश्रमिक के नाते इस दिशा में उनका उत्साह और भी तीव्र हुआ और वे तेज़ी से कुछ और चित्र बनाने लगे।

ऐसे ही कुछेक चित्रों की थाती और मित्रों की शुभकामनाओं एवं रामानन्द चट्टोपाध्याय के संस्तुति-पत्र के साथ, रामकिंकर सोत्साह शांतिनिकेतन पहुँचे। सारा काम देख-सुनकर कलागुरु नन्दलाल बसु (मास्टर मोशाय) ने कहा, "तुम तो पहले से ही काफ़ी कुछ जानते हो। ठीक है, दो-तीन साल यहाँ भी रहकर काम करते रहो।"

1925 में, नए सत्रारंभ के साथ ही, कला भवन में अपने अन्य साथियों—सुधीर खास्तगीर, प्रभात मोहन बन्द्योपाध्याय, सुधाकान्त रायचौधुरी, रुद्रप्पा हाँजी, रमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती, विनोद बिहारी मुखोपाध्याय, विनायक मासोजी और युवा अध्यापक धीरेन्द्रकृष्ण देव बर्मन के साथ, शांतिनिकेतन का निर्बन्ध परिवेश जहाँ रोचक और मोहक था वहाँ नित्य नया कुछ करने का उत्साह रामकिंकर के लिए सर्वथा नया अनुभव था। लेकिन धीरे-धीरे थोड़ी-बहुत रक़म भी समाप्त हो चुकी थी और आगे यहाँ रह पाना दूभर लगने लगा तो इस आर्थिक विपन्नता को दूर करने का प्रयास भी आचार्य नन्दलाल बसु द्वारा ही किया गया। पिछले कुछ वर्षों में अपनी सक्रियता और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सतेज उपस्थिति के कारण शान्तिनिकेतन 1921 में विश्वभारती विश्वविद्यालय के रूप में स्वीकृति पा चुका था। यहाँ के एक अध्यापक जगदानन्द राय विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें तैयार किया करते थे और इनके चित्रांकन का भार मणिभूषण गुप्त पर रहता था। रामकिंकर ने इस कार्य में उनका हाथ बँटाया। इन्हीं दिनों शिल्पाचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर (1871-1951) ने कोलकाता में ओरियंटल आर्ट सोसाइटी के अंतर्गत एक फ़ाइन आर्ट कॉलेज की स्थापना की थी। इस संस्था की अनन्यता इस बात में थी कि इसमें विलायती फ़ैशन की पाश्चात्य कला शिक्षा नहीं बल्कि भारतीय कला पद्धतियों के अनुरूप कार्य करने तथा भारतीय कलाओं के पुनरुद्धार के साथ प्राच्य मनीषा को समझने और रूपायित करने पर विशेष बल था। संभवतः भारत की तत्कालीन राजनीति को जैसा नेतृत्व महात्मा गाँधी दे

रहे थे वैसा ही नेतृत्व, भारतीय कला के पुनर्जागरण के साथ कला भवन, शांतिनिकेतन में तथा ओरियंटल आर्ट सोसाइटी, कोलकाता में कार्यरत थी। ये दोनों संस्थान क्रमशः रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके भतीजे अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के पौरोहित्य में निरंतर सक्रिय थे। सोसाइटी समय-समय पर भारतीय कलाकारों द्वारा चित्रित कृतियों की प्रदर्शनी भी आयोजित किया करती थी। कहना न होगा, इनमें प्रदर्शित चित्रों में रामकिंकर के चित्र भी हुआ करते थे, जो कभी-कभार बिक भी जाते थे। इस प्रकार थोड़ी-बहुत आर्थिक सहायता हो ही जाती थी। और कभी स्थिति विषम हो जाए तो गुरु नन्दलाल सदैव उपस्थित थे—केवल रामकिंकर के लिए ही नहीं, अपने सभी छात्रों के लिए।

कला भवन में तब जलरंगों का ही व्यवहार चित्र निर्माण के लिए किया जाता था। देशी रंगों को भी पीस-कूट-छानकर व्यवहार में लाया जाता था। रामकिंकर ने भी इसी पद्धति से कई चित्र बनाए। अपने पौरुषपूर्ण तूलिकाघातों के लिए वे धीरे-धीरे अपनी उपस्थिति दर्ज कराने लगे। आख्यानमूलक एवं पौराणिक विषयों के मुक़ाबले अब वे प्राकृतिक और तात्कालिक विषयों पर अपना ध्यान केंद्रित करने लगे थे। तैलरंगों का प्रयोग छूटा नहीं था—जिसे वे बहुत पहले से करते आए थे। बाँकुड़ा में, किशोरावस्था में ही उन्होंने तैल रंगों से लघु चित्रनुमा कई विषयों पर पेंटिंग्स बनाई थीं। इस बारे में उन्होंने एक रोचक प्रसंग भी बताया था कि मैं एक बार कोलकाता गया था। रंगों की एक दुकान पर मैंने एक औरत को सामान बेचते देखा। मैंने उससे 'ऑयल कलर' के बारे में पूछा। उसने 'हाँ' कहकर मेरे सामने कुछ ट्यूब फैला दिए। यह पूछने पर कि इनका इस्तेमाल कैसे करते हैं, उसने बताया, 'बहुत आसान है, ट्यूब दबाकर रंग निकालो, तेल मिलाओ और लगाते जाओ . . . पेंटिंग तैयार . . . बस!' रामकिंकर उसे ऑयल पेंटिंग की अपनी पहली गुरु मानते थे।

मूर्तिकला रामकिंकर के लिए कहीं बड़ी चुनौती थी हालाँकि तब के आरंभिक वर्षों में कार्य सीखते रहने के सिवा और कुछ करने को था भी नहीं। बाहर खुले में भी मूर्तियाँ रखी जा सकती हैं—ऐसा सोच पाना सर्वथा असंभव था। कला भवन के विभिन्न क्लास रूम तब अलग-अलग स्थानों पर होते थे और किसी नई विधा या पाठ-चर्या के लिए बाहर से आए विशेषज्ञों और अध्यापकों का सहयोग लिया जाता था। इनमें मूर्तिकार लिज़ा वॉन फिलपॉट (ऑस्ट्रिया से), मैडम मिलवार्ड (इंग्लैंड से) और चित्रकार कारयेलेस (इंग्लैंड) से भी छात्रों एवं अध्यापकों को सम्बन्धित कलाओं की बारीकियों, अधुनातन तकनीकों तथा उनकी परिदृष्टि को समझने और अपने दृष्टिकोण को समझाने का अवसर मिलता था। मैडम मिलवार्ड जगतप्रसिद्ध फ़्रांसीसी मूर्तिकार रोदां के बेल्जियन शिष्य बुर्देल की छात्रा थीं। उनके आगमन से इनका (रामकिंकर, प्रभातमोहन और सुधीर खास्तगीर) कार्य अधिक गंभीरता से और त्वरा से आरंभ हुआ। इस विभाग में कोई सहयोगी या कर्मचारी (परिचर) न होने के कारण मिट्टी जुटाने से लेकर विभिन्न स्तरों पर इसे मूर्ति के योग्य बनाने तक की सारी जुगत और मेहनत उन्हें ही करनी पड़ती थी। तब काफ़ी दूर से संथालों के गाँव को पारकर, एक ताल वृक्ष के नीचे वाली ज़मीन खोद, कच्ची मिट्टी को बड़ी टोकरी में रखकर ख़ुद ढोते हुए पुराने पुस्तकालय भवन (आजकल पाठ भवन जहाँ स्थित है) के ऊपर वाले तल तक लाकर, आगे के बाक़ी काम भी निपटाने पड़ते थे। माटी सूख न पाए, इसलिए कई-कई हौज़ों और गमलों का इंतज़ाम, पानी का प्रबन्ध और गीले बोरे की सहायता ली जाती थी। इसके पहले कलाभवन में आवक्ष मूर्तियाँ ही बनाई जाती थीं। मिलवार्ड के आने पर घूमने वाली ऊँची मेज़ बनाई गई और 'राउण्ड' (चारों

ओर से खुली) मूर्तियाँ बनाने की पद्धति की शुरूआत हुई। इसी तरह शरीर की संरचना (अनाटॉमी) सम्बन्धी कोई किताब या सामग्री कलाभवन में नहीं थी। 'गेजअना टॉमी' वाली किताब की नक़ल कर मांस-पेशियों की बनावट सीखने की कोशिश के साथ श्मशान से नरमुंड और हड्डियों तक का जुगाड़ करने का दायित्व भी छात्रों को ही वहन करना पड़ता था। बाद में मास्टर मोशाय ने उन सबके अनुरोध पर कोलकाता से, तार से बिंधा एक नरकंकाल मँगवा दिया था। इसी तरह धीरे-धीरे जल-पात्र, स्पांज, रबर क्लॉथ, प्लास्टर आव पेरिस के डिब्बे, माटी कुरेदने, काटने और उकेरने के विभिन्न उपस्कर और औज़ार बनवाए और मँगवाए जाते रहे। शांतिनिकेतन से सात किमी. दूर श्रीनिकेतन में, मुख्य सड़क पर एक लोहार के यहाँ जाकर अपनी ज़रूरत के मुताबिक औज़ार (चाकू, कतरनी और दस्ती वग़ैरह) बनवाकर लाना पड़ता था—जिसमें घंटों समय की बर्बादी होती थी।

कला भवन में, आरंभिक कला-छात्रों में रुद्रप्पा हाँजी अपने कार्यों से जाने जाते थे। मास्टर मोशाय की प्रेरणा से उन्हीं दिनों कालो बाड़ि (पुराना कला भवन, अब वरिष्ठ छात्रों का आवास) की दीवारों पर गोबर, माटी, तूस, फूस, इमली-पानी और अलकतरा का लेप चढ़ाकर कई तरह की 'रिलीफ़' निर्मितियों का कार्य हाथ में लिया गया। कई आख्यानों और सभ्यताओं से जुड़े विषयों को आधार बनाकर वृहदाकार आकृतियाँ बनाई गईं। हाँजी ने भी इसी माध्यम से एक बुद्ध-मूर्ति तैयार की। रामकिंकर को लगा कि इस खुली और धुपैली जगह पर बारिश-खारिश, हवा-पानी में भला यह कब तक टिकी रहेगी! यही सोचकर उन्होंने सुर्खी, मोरम, कंक्रीट और सीमेंट से मूर्ति बनाने का निर्णय लिया। इसके लिए आवश्यक ख़र्च और जगह का भी सवाल था। आरंभ में, नन्दलाल बसु राजी नहीं हुए लेकिन बाद में कुछ सोचकर वह न केवल यह अनुरोध मान गए बल्कि सारी सम्बन्धित व्यवस्था भी स्वयं जुटा दी। सौभाग्य और संयोग से रामकिंकर को जया नाम की सुन्दर, लंबी और इकहरी छात्रा के रूप में एक मॉडल भी मिल गई। रामकिंकर ने नौ फुट ऊँची कंक्रीट की एक मूर्ति बनाई। आचार्य बसु इस सफल उपक्रम से बेहद खुश हुए। उन्होंने उस मूर्ति के सिर पर एक कटोरा रखवाया और इसका नाम संस्कार भी संपन्न किया—यानी सुजाता। रुद्रप्पा के बोधिसत्त्व बुद्ध और रामकिंकर की ग्रामबधु सुजाता—जिसका पायस (खीर) खाकर महात्मा बने युवा बुद्ध ने अपना लम्बा उपवास तोड़ा था। इस रोचक और वांछित परिणति से सारा परिवेश जीवंत और गाथा-सरस हो उठा। यहीं से रामकिंकर के मूर्तिकार या भास्कर्य व्यक्तित्व की अतुल्य और ऐतिहासिक शुरूआत हुई, जिसने उक्त 'मीडियम' को अप्रतिम कला-संकल्प के साथ चरम उत्कर्ष तक पहुँचा दिया। एक बात और, जया नाम की वही छात्रा बाद में, जया अप्पासामी के नाम से सुप्रसिद्ध कला-समीक्षक एवं लेखिका बनीं। स्वयं रामकिंकर को भी इसके बाद कभी पीछे मुड़कर देखना न पड़ा।

आरंभिक सफलताओं, देश-देशांतर की यात्राओं, कई विफलताओं और सम्पर्कों के बावजूद रामकिंकर की आर्थिक अवस्था अब भी बदहाल थी। तीन-चार साल पलक झपकते बीत गए। हालाँकि अवैतनिक शिक्षकों के लिए आश्रम की ओर से सौ रुपए मासिक मानदेय की व्यवस्था भी थी। लेकिन रामकिंकर की हथेली पर या फटी फतुही की जेब में फूटी कौड़ी तक नहीं बचपाती थी। तभी दिल्ली से बन्धुवर विनोद बिहारी मुखोपाध्याय ने सूचित किया कि मॉडर्न स्कूल, बाराखंभा रोड, नई दिल्ली में एक कला शिक्षक की अस्थायी जगह है। रामकिंकर को शांतिनिकेतन में अवसर मिलने पर अस्थायी कला शिक्षक के नाते पचास रुपए ही मिल पाते थे। डेढ़ सौ रुपए मासिक की नौकरी पाकर भला कौन दिल्ली नहीं जाता लेकिन दिल्ली आकर

और कुछ दिनों तक काम करने के बावजूद वे शांतिनिकेतन लौट गए। अपने कार्यकाल में समय का सदुपयोग करने के लिए उन्होंने सरस्वती की प्रतिमा का निर्माण किया, कुछ प्रतिकृतियाँ (शबीह) भी बनाईं लेकिन शांतिनिकेतन का परिवेश, भले ही तब आर्थिक दृष्टि से प्रतिकूल और विषम हो—उन्हें बार-बार पुकार रहा था, जिसकी अनसुनी करना इस संवेदनशील और धरापुत्र कलाकार के लिए बहुत कठिन था। यह वापसी बाद में इस सुखद संभावना से जुड़ गई कि श्रीनिकेतन स्थित शिल्प प्रतिष्ठान में कला शिक्षक पद पर कार्यरत विनायक मासोजी को एक अनुबंध पर अहमदाबाद जाना पड़ा। उनके इस्तीफ़े से उत्पन्न रिक्ति और बची राशि का सार्थक उपयोग तो यही होता कि रामकिंकर को स्थायी रूप से शिक्षक नियुक्त कर लिया जाए। स्थितियाँ धीरे-धीरे और देर-सवेर अनुकूल हुईं और छोटी-मोटी औपचारिकताओं के बाद, रामकिंकर कला भवन, विश्वभारती के स्थायी कला अध्यापक नियुक्त हो गए। और यहाँ से रामकिंकर के जीवन में एक नए कला-प्रस्थान की शुरूआत हुई।

शांतिनिकेतन के लगभग पचास सालों के सक्रिय जीवन में, रामकिंकर ने जितने कार्य किए, उन्हें अभी तक व्यवस्थित ढंग से वर्गीकृत या सूचीबद्ध नहीं किया जा सका है। कारण रहा उनका अव्यवस्थित कार्य-व्यवहार, अपनी कृतियों के प्रति लापरवाही, किसी को भी प्रसन्न होकर अपनी निर्मिति सौंप देना आदि-आदि। लेकिन उनकी हर छोटी-बड़ी कृतियों को भरपूर सराहना और साथ ही नई संभावना के साथ जोड़ कर देखा जाता रहा।

तोरण (गौरप्रांगण स्थित भवन) में कार्य करते हुए रामकिंकर ने लगभग दो फ़ीट ऊँची एक मूर्ति बनाई थी—संताल परिवार। अवकाश और दिल्ली आने-जाने की आपाधापी के साथ, अभावग्रस्त दिनों के ताप-तनाव उनके मंसूबों के ने सारे ताने-बाने बिखेर दिए थे। यह तो रामकिंकर ही हो सकते थे, जो उमसभरी गर्मी और तपती धूप में अपनी कृति के साथ निरंतर संवाद करते और गुनगुनाते देखे जा सकते थे। अपने मित्रों एवं छात्रों से ठठाकर हँसते हुए मिलते थे और अपनी जीवंतता से आश्रम को छंद-मुखर बनाए रखते थे। लेकिन उनका 'संताल परिवार' उनकी भागदौड़ से टूट-फूट रहा था। इस छोटी, लेकिन सुगठित शिल्प-संरचना और सौंदर्य-मार्दव से प्रभावित आचार्य बसु ने भग्नप्राय मृण्मय मूर्ति को धागों से बाँध-बाँधकर, गीले कपड़े की पट्टियों से सींचकर, टूटने-बिखरने से बचा लिया था। रामकिंकर की प्रसन्नता और गुरु के प्रति उनकी कृतज्ञता का ठिकाना न रहा, जब वे इसे सही-सलामत पाकर हैरान रह गए। गुरु की चुप्पीभरी सदाशयता से प्रेरित होकर रामकिंकर के मन में इसे पन्द्रह फ़ुट ऊँची मूर्ति में परिणत करने का संकल्प जगा। आचार्यवर ने एक बार फिर सारी व्यवस्था जुटा दी। कलाभवन के परिसर में ही तंबू डालकर यह विराट कला पर्व 1938 में आरंभ हुआ था। रामकिंकर के सहयोगी काशीनाथ और बागाल सारी सामग्री जुटाने और मसाला तैयार करने में जुटे रहते। ऐसे ही कार्यों के साथ इस कलाशिल्पी की छेनी, करछनी, हथौड़ा, फट्टा, चाकू, पेंसिल, छुरी, तूली, रंग और कैनवस का संसार आदिगंत फैलता गया। विभिन्न माध्यमों के साथ जो अन्तहीन सिलसिला शुरू हुआ वह अविराम और आजीवन उनकी कलकृतियों में ढलता रहा। इस 'संताल परिवार' के साथ एक रोचक प्रसंग का उल्लेख अक्सर होता रहा है। दरअसल रामकिंकर की हर कृति के साथ एकाधिक क़िस्से या 'गप' (गल्प) जुड़े ही रहे हैं। कृति भले ही लोगों ने अपनी आँखों न देखी हो—कहानी उनके कानों तक ज़रूर पहुँची है। वे जब अपनी यह प्रख्यात और भारी भरकम कृति बना रहे थे तब बहुत से लोगों के साथ स्थानीय संताली लोग भी इसे घूर-घूर कर देखा करते। उनके यह पूछने पर कि 'यह क्या कर रहे हो

बाबू?' तो किंकर दा उलट कर पूछते, 'तुम्हीं बताओ?' तो एक ने छूटते ही कहा, 'अरे बाबू, यह क्या बना डाला! इतना बड़ा आदमी और इतनी छोटी तालाइ (चटाई)? वह भला सोएगा कहाँ?' तब रामकिंकर को लगा, अरे यह तो ठीक ही बता रहा है। और इस तरह उन्हें बड़ी चटाई बनानी पड़ी।

ऐसे कुछ अवसरों पर रामकिंकर को लगता था कि आम और अनपढ़ लोगों में भी कला की समझ होती है। वस्तुतः रामकिंकर की कला-यात्रा अभिजात जनों की अभिरुचियों एवं प्रतिमानों के एकदम विरुद्ध तो नहीं—लेकिन वह एक समानान्तर तथा प्रतिबद्ध कलाधारा अवश्य थी जिसने अपने समय के उन सभी कलाकारों को प्रेरित एवं आन्दोलित किया, जो पाश्चात्य एवं अभिजात कला-वृत्तियों या पद्धतियों को ही वरीयता देते थे।

रामकिंकर इस बात को स्वीकारते थे कि उनकी आरंभिक कृतियों पर 'क्यूबिज़्म' का आंशिक प्रभाव अवश्य था। इस नए बदलाव से आचार्य बसु बहुत प्रसन्न नहीं दीखते थे—हालाँकि बाद में उन्होंने इस बारे में कोई टीका-टिप्पणी नहीं की लेकिन रामकिंकर की हर कृति के लिए उनका आग्रह निरंतर बढ़ता चला गया। वे रामकिंकर के आलोचकों को भी अपने तर्क से ख़ामोश कर दिया करते थे। शांतिनिकेतन (मुख्य भवन) के सम्मुख बना 'दीपस्तंभ' (1940) देख कर रामकिंकर के कार्यों के प्रति उनमें एक नई आस्था जगी थी। अब उन्हें लगने लगा था कि भारतीय मूर्तिकला में एक नया युग आने ही वाला है। . . . और आने वाले वर्षों में उनके दर्शकों, प्रशंसकों एवं कला समीक्षकों ने पाया कि रवीन्द्रनाथ की प्रतिकृति (1941) से लेकर यक्षयक्षिणी (रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया के द्वार पर लगी युगल मूर्ति, नई दिल्ली) तक मूर्तिकला के क्षेत्र में अपनी संरचना, कल्पना, अकृत्रिम ऊर्जा और पौरुषपूर्ण कार्यक्षमता के नाते वे न केवल भारत में बल्कि पूरे विश्व में चर्चित एवं सम्मानित होते चले गए।

रामकिंकर बैज द्वारा रचित सभी कृतियों को यथाक्रम अभी तक वर्गीकृत नहीं किया जा सका है। विभिन्न संस्थाओं, व्यक्तिगत संग्राहकों, संग्रहालयों में सुरक्षित उनकी कृति को सूचीबद्ध करना बेहद आवश्यक है। यह ठीक है कि रामकिंकर में प्रदर्शन प्रस्तुति एवं संस्तुति की चाह नहीं थी और उनके पूरे जीवनकाल में उनकी कृतियों की गिनी-चुनी कला-प्रदर्शनियाँ ही हुईं। चित्रों या मूर्तियों के निर्माण के क्षणों में अत्यन्त व्यग्र दीखने वाले रामकिंकर इन्हें पूरा कर लेने के बाद उतने ही लापरवाह हो जाते थे। किसी के आग्रह करने पर बड़ी उदारता से उसे सौंप भी देते थे। कई बार मैंने पाया है कि घर पर किसी आगंतुक या प्रशंसक (उदाहरण के लिए अमृत राय, बलराज साहनी) के आने पर चौकी पर जैसे-तैसे तहाकर और बेतरतीबी से रखे गए चित्रों को, बिछावन के नीचे से निकालकर दिखाते थे। हाँ, अपने हाथों बनाई गई चाय पिलाना कभी नहीं भूलते थे।

उनके कार्यों में परम्परागत और देसी पद्धति के साथ समय-समय पर ऐसी युक्तियों और संभावनापूर्ण उपायों का समावेश होता था, जो उनके साथ काम कर रहे सहयोगियों और छात्रों को हैरानी में डाल देता था। मूर्तिकला, चित्रकला या फिर छापाकला में अनावश्यक तामझाम जुटाने के लिए या फिर घंटों धैर्य रखकर किसी काम को पूरा करने का अवकाश उनके पास नहीं था। किसी काम से विरक्त हो जाने पर पलक झपकते उसे ध्वस्त भी कर देते थे और किसी कृति के मनोनुकूल होने की स्थिति में घंटों उस कार्य को पूरा होने तक छोड़ते नहीं थे। और तब खाना-पीना, नहाना-धोना सब कुछ मानो पीछे छूट जाता था।

विषय वैविध्य की दृष्टि से रामकिंकर की रचना यात्रा के कई प्रस्थान हैं। इनमें भूदृश्य एवं

प्रकृति-चित्रण (शांतिनिकेतन के कई चित्र एवं रेखांकन, शिलांग, नेपाल, कुल्लू, भाखरा नांगल), देवी-देवता (दुर्गा, काली, कृष्ण, सूर्य, सीता), प्रतिकृतियाँ या शबीह (गाँधी, सुभाषचंद्र, रवीन्द्रनाथ, प्रीति पाण्डे, मारूति सिंह, जया अप्पासामी, ऋत्विक घटक, विनोदिनी, सोमा जोशी) के अलावा निर्वसन स्त्री आकृतियाँ, पेड़-पहाड़, वन वीथी, मिथुन, पशु-पक्षी, पथ-प्रान्तर, ग्रामदृश्य, खेतिहर मज़दूर, मेहनतकश लोग (पत्थर तोड़ने वाले, बोझ ढोने वाले) ग्रामीणों तथा संताल परिवारों का चित्रण, हाट आदि के दृश्य सम्मिलित हैं। इनके अलावा विभिन्न ऋतुओं और यात्रा-क्रम में रोचक दृश्यों का अंकन, किसी भी उपलब्ध माध्यम में, करना नहीं भूलते थे। इसलिए वाश और टेम्परा (कपड़े पर टेम्परा) जल रंग, पेंसिल से कागज़ पर रेखांकन, स्याही और तूलि से रेखाचित्र, क्रेयान, पेस्टल और कोयले (चारकोल) या मिले-जुले माध्यम से, जब जैसा जी में आया, कर डालते थे। मूर्तिकला में प्लास्टर ऑफ़ पेरिस, सीमेंट, पत्थर, धातु (ब्रोंज) के साथ कच्ची और पकी मिट्टी (टेराकोटा विधि से) और छापाकला में लिथोग्राफ़ी, लिनोग्राफ़ी, बुड प्रिंट, ड्राइपाइंट और मोटे कामों के लिए सीमेंट एवं काष्ठ के ब्लॉक तक का इस्तेमाल—सबमें समान क्षमता और कौशल के साथ वे काम कर लेते थे।

दो-तीन रोचक प्रसंगों के बिना रामकिंकर के स्वभाव को निकट से पहचान पाना संभव न होगा। उस्ताद अल्लाउद्दीन ख़ां साहब एक बार शांतिनिकेतन में अपने बेटे अली अकबर के साथ आए थे। अली अकबर तब बालक ही थे। सरोद वादन के संग उनका गायन सुनने आश्रमवासी भी पहुँच जाते थे। किंकर दा गाना सुनने के आग्रही तो थे ही उन्होंने उनकी प्रतिकृति (शबीह) तैयार करने का मन बनाया। पहले पेस्टल से उनका रेखांकन तैयार किया और फिर मिट्टी से आकृति तैयार की। लोगों ने पूछा, "आप उन्हें सामने बिठाकर प्रतिकृति क्यों नहीं बनाते? वे बड़ी खुशी से सामने बैठेंगे।" किंकर दा का उत्तर था कि जब सरोद के साथ भावविभोर होकर वे गाना गाते हैं तो उनकी मुखमुद्रा कुछ और ही प्रभावी हो जाती है। मैं वही लक्ष्य करता रहता हूँ। वे अकेले और सुस्त बैठे रहेंगे तो वह बात कहाँ से पैदा होगी? उनके इस उत्तर में एक सर्जक की प्रश्नाकुलता सहज ही देखी जा सकती है।

इसी तरह संताल स्त्री-पुरुष, मज़दूरों आदि की मुखाकृति अंकित करते हुए या उन्हें प्रतीकित करते हुए, वे उन लोगों से हर तरह की बातें किया करते थे—ताकि विभिन्न मुख-मुद्राओं एवं अभिव्यक्तियों के साथ उनके चेहरे के वैशिष्ट्य को पूरी जीवन्तता से उकेरने या उतारने में सहायता मिले। इन्हें निर्मित करते हुए वे कभी-कभी बड़ी त्वरा से आकारों को तेज़ चाकू से काटा या गोदा भी करते थे। यही नहीं, मिट्टी की लोई बनाकर, फिर उसे पराठे की तरह बेलकर, उसके टुकड़ों या मोटी-मोटी तहों को जमाकर या मोड़-तोड़कर—मुखाकृति के अनुरूप—थोड़े अतिरेक के साथ, संयोजित कर विलक्षण प्रभाव पैदा कर दिया करते थे। इसे वे 'कैरेक्टर' (चेहरे के) साथ जोड़ना (योग देना) कहा करते थे।

शांतिनिकेतन में अपने लंबे प्रवास काल (1968-1977) के दौरान मैंने रामकिंकर को अनेक रंगों एवं भंगिमाओं में देखा-पाया था। वह मैं अन्यत्र भी लिखता-बताता रहा हूँ। हिन्दी भवन से सम्बद्ध रहने के बावजूद कला भवन से मेरा गहरा जुड़ाव था—इसलिए 1968 में ही रामकिंकर दा के 'प्रोट्रेचर ग्रुप' के सीनियर छात्रों के साथ, कुछ विलंब से मैं भी काम कर रहा था। कुछ

1. "Ram Kinkar is a fearless critic of art and quite early in life made daring innovation to storm the citadel of convention-ridden artists. He is equally ruthless in dealing with Western naturalists who prefer the safe path of polurality in versimilitude."

ही दिनों में पूजावकाश के पहले हमें यह सत्र समाप्त करना था। सागाई नाम की एक संताली युवती (मॉडेल) की प्रतिकृति पूरी करने में मैं भी जुटा था। एक दिन अचानक सूरज ढलने के बाद किंकर दा स्टूडियो आ धमके। सारा परिवेश गुंजान हो उठा। उनकी नज़र पहले मुझ पर पड़ी और फिर मेरी लगभग तैयार प्रतिकृति पर। उन्हें देखकर सागाई की सफ़ेद मुस्कान पहले ही खिल उठी थी। किंकर दा ने उसकी ओर देखे बिना मुझसे पूछा, "नाइफ़ कहाँ है?"

और फिर मेरे हाथ से नाइफ़ लेकर उस प्रतिकृति को बुरी तरह काटते-छीलते रहे। मैं हत्प्रभ खड़ा था और सागाई खिलखिलाती रही। किंकर दा अब भी इतने चुस्त और चौकस हैं, यह मैंने एक बार फिर से महसूस किया। आसपास और भी सीनियर छात्र वहाँ खड़े हो गए। किंकर दा थोड़ी-थोड़ी देर के बाद कुछ उग्र और उत्तेजित से दीख पड़ते थे और अंत में मुझे हल्के से झिड़कते हुए कहा, "इतनी सुन्दर लड़की! और तुमने यह क्या बनाकर रख दिया! कभी किसी संताली लड़की को ठीक से देखा है?"

मैं सहम गया . . . यह क्या कहते जा रहे हैं!

"केवल चेहरा मिला देने से काम पूरा नहीं होता भाई। फ़ेसियल लैकनेस से भी बड़ी चीज़ होती है रेसियल क्वालिटी . . . कैरेक्टर . . . पहले उसे लाउड करना पड़ता है तभी कोई चीज़ साउण्ड होती है . . . समझे . . . !"

इतना कहकर वह मेरे हाथ में नाइफ़ थमाकर, पलक झपकते निकल गए। मुझे पहली बार लगा कि मैं पिछले चार-पाँच दिनों से जो कुछ बना रहा था—वह अधूरी प्रतिकृति, इन आठ-दस मिनटों में पूर्ण कलाकृति बन चुकी थी . . . अब वह मेरी नहीं, उनकी कलाकृति थी।

19 फ़रवरी, 1977 में वार्षिक दीक्षान्त समारोह के अवसर पर शांतिनिकेतन में, विश्वभारती की ओर से रामकिंकर दा को 'देशिकोत्तम' की मानद उपाधि दी जा रही थी तो मैं भी आम्रकुंज स्थित इस प्रसन्न-मुखर उत्सव में उपस्थित था। विश्वभारती की तत्कालीन आचार्य इन्दिरा गाँधी के सम्मुख उपाचार्य सुरजित सिन्हा ने रामकिंकर बैज की संस्तुति में जो वाक्य कहे, वे उनके कलासाधक व्यक्तित्व को इस प्रकार रेखांकित करते हैं—

> *. . . रामकिंकर कला के निर्भीक समीक्षक हैं और अपनी युवावस्था में ही उन्होंने रूढ़िग्रस्त कलाकारों की वेदी पर, अपने दुर्दम्य नवाचारों के साथ आँधी की तरह हमला किया था। इसके साथ ही वे उन पश्चिमी प्रकृतिवादियों (नेचुरलिस्ट्स) के प्रति भी निर्मम बने रहे जो सादृश्यपरकता के सरल पथ को ही वरीयता देते रहे।*

इस संवर्धना में उनके 'दीपस्तंभ' एवं 'संताल' परिवारों से जुड़ी उनकी दो विशाल और विशिष्ट मूर्तियों का उल्लेख भी किया गया था, जिनके द्वारा भारतीय मूर्तिकला में एक नए युग का प्रवर्तन हो सका।

एक तरह से यह आयोजन ही उनसे मिलने का मेरे लिए अंतिम अवसर था। मुझे कुछ अप्रिय स्थितियों के कारण कुछ महीनों के बाद शांतिनिकेतन छोड़ कर दिल्ली विश्वविद्यालय आ जाना पड़ा। ख़ैर।

ऐसा लगता है कि रामकिंकर दा का स्वास्थ्य भी 1978 से लगातार गिरता चला गया। मृत्यु के अंतिम कुछ माह पूर्व शांतिनिकेतन स्थित पीयर्सन मेमोरियल हॉस्पिटल में और तबीयत बिगड़ने पर कोलकाता के सेठ सुखलाल करनानी मैमोरियल अस्पताल में मार्च 1980 में उन्हें भर्ती कराया गया। वहाँ भी उनका स्वास्थ्य जितना सुधरता नहीं था, उससे कहीं ज़्यादा

बिगड़ता चला गया। अंतिम दिनों में विक्षिप्त हो गए रामकिंकर के कलकतिया सर्जनों को ज़बरदस्ती अस्त्रोपचार करने के लिए, पत्रकारों की और उनके प्रशंसकों की भरपूर झिड़की सुननी पड़ी, क्योंकि सामान्य 'केस हिस्ट्री' बताकर उन पर कई प्रयोग किए गए, ऐसा भी लिखा जाता रहा। 2 अगस्त, 1980 को उनकी मृत्यु हुई और 3 अगस्त को उनका शव शांतिनिकेतन लाया गया। बड़ी संख्या में उपस्थित आश्रमिकों, अध्यापकों, मित्रों, छात्रों, प्रशंसकों के बीच उनके शिष्य सत्यजित राय, लेडी रानु मुखर्जी ही नहीं प. बंगाल के राज्यपाल त्रिभुवन नारायण सिंह और तत्कालीन शिक्षामंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य भी उनकी शवयात्रा में शामिल थे। 'तोमार असीमें प्रागमन लये' गान के साथ आश्रम परिक्रमा के बाद उन्हें श्यामबाटी स्थित श्मशान में, उनके भतीजे दिवाकर बैज ने उन्हें मुखाग्नि दी।

यह तो सबको मालूम है कि जीवन चाहे कितना ही सक्रिय और मूल्यवान हो, मृत्यु को अपनी निर्मम भूमिका में उतरना ही पड़ता है। रामकिंकर जब अस्पताल में रोग शय्या पर आँखें बंद कर पड़े रहने को बाध्य थे तब भी वे इस कालपाश को तोड़ देने को छटपटाते रहते थे— और जिसे विक्षिप्पता की संज्ञा देना एक आसान मुक्ति थी। यह पूछे जाने पर कि आप क्या सोचते रहते हैं, तो रामकिंकर अक्सर यह कहा करते थे, ''सोच नहीं रहा, मन-ही-मन चित्र आँक रहा हूँ, मूर्ति गढ़ रहा हूँ। शरीर जितना निष्क्रिय है, मन उतना ही सक्रिय। काश, थोड़ा समय मिले तो और कुछ नई कृतियाँ बना पाऊँ।''

रणजीत साहा : वर्षों तक साहित्य अकादेमी में उपसचिव रहने के बाद आजकल जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के भारतीय भाषा केन्द्र में प्राध्यापक। बांगला से हिन्दी में कई कृतियों के उत्कृष्ट अनुवाद। रवीन्द्रनाथ की *गीतांजलि* का अनुवाद हाल में आया है।

के.जी. सुब्रमण्यन की कला

प्रयाग शुक्ल

मणि दा, 'के.जी.', 'सुब्रमण्यन', 'के.जी. सुब्रमण्यन' (जन्म : 1925) जैसे कई संबोधनों से अभिहित के.जी. सुब्रमण्यन देश के उन अग्रणी चित्रकारों में से हैं, जो परंपरा और एक बड़ी कला धरोहर के व्याख्याकार भी हैं, और स्वयं एक 'आधुनिक' परंपरा के सर्जक भी। इस हद तक उसके सर्जक कि वह स्वयं एक धरोहर में बदल चुकी है। वे सिर्फ़ चित्रकार नहीं हैं, अध्यापक भी हैं। 'गुरु' भी। लेखक-चिंतक भी। और कला की कोई ऐसी विधा नहीं है, जिसे उन्होंने आजमाया न हो। सो, उन्होंने मूर्तिशिल्प भी गढ़े हैं, म्यूरल-रचना भी की है। मिट्टी में भी काम किया है। हुनर और हस्तशिल्प वाली चीज़ों में भी पर्याप्त रुचि ली है। ग्राफ़िक माध्यमों में भी उनका बहुतेरा काम है। बच्चों के लिए पुस्तकें भी लिखी हैं। उनका चित्रांकन किया है। कुल मिला कर यह कि कला से जुड़ी हुई किसी भी चीज़ की आप कल्पना करें, आप पाएँगे कि मणि दा ने किसी न किसी रूप में उसमें अपना योग दिया है। अब देखिए, ग्लास (काँच) पर उन्होंने चित्रकारी की है। और टेराकोटा में कृतियाँ बनाई हैं, जिनमें चित्र, मूर्तिशिल्प, म्यूरल आदि के गुण एक साथ पिरो दिए हैं। रचना-सामग्री—हर तरह की रचना-सामग्री—को बरतने में भी उन्हें आनंद आता है। रेखांकन भी उन्होंने ढेरों की संख्या में किए हैं, और रेखा हो, रंग हो, कला-भाषा हो, पूर्व हो, पश्चिम हो, सब पर ख़ूब विचार (और विमर्श) भी किया है।

वे आज भी बेहद सक्रिय हैं। दिल्ली में उनकी एक बड़ी प्रदर्शनी—'रिवर्स पेंटिंग्स' की प्रदर्शनी, इन दिनों 'आर्ट हेरिटेज' गैलरी में लगी हुई है। स्वयं मणि दा इस अवसर पर दिल्ली आए, और यहाँ के कला-जगत में, हर बार की तरह, दो-तीन दिनों तक रमे रहे। कलाकारों, लेखकों-कवियों, रंगकर्मियों आदि से मिलते-जुलते रहे या कहें हर माध्यम के लोग उनसे मिलने को उत्सुक रहे, और वह जहाँ भी जाते एक छोटा-मोटा जमघट लग ही जाता था। यह देख कर कुछ सुखद अचरज ही होता है कि वह कलाकारों की कई पीढ़ियों के आत्मीय तो हैं ही, स्वयं कलाकारों के परिवारजनों तक के आत्मीय और आदर-मान के पात्र हैं। यह उनकी स्वभावगत खूबी ही है और उनकी बहुत अच्छी स्मृति का प्रमाण भी कि न जाने वह कितनी सारी चीज़ों को एक साथ संभाल लेते हैं, और अपने काम के साथ ही सभी के लिए कुछ न कुछ समय निकाल लेते हैं। चीज़ें उन्हें सप्रसंग याद रहती हैं, भले वे बरसों पहले घटित हुई हों।

'आर्ट हेरिटेज' गैलरी में 10 मार्च को उनकी प्रदर्शनी के उदघाटन वाली शाम को, दिल्ली के अधिसंख्य कलाकार तो मौजूद थे ही, फ़िल्मकार श्याम बेनेगल थे और फ़िल्मकार के. बिक्रम सिंह भी जो मणि दा पर एक फ़िल्म बना चुके हैं। 'आर्ट हेरिटेज' गैलरी इब्राहिम अलकाज़ी की ही परिकल्पित की हुई है, और वह इसके संचालन में आज भी सक्रिय हैं। सो, वह तो मौजूद थे ही। ऐसी ही किसी शाम को, एक आत्मीय माहौल में, हमारी कला-सर्जनात्मकता का एक वैभव कुछ साक्षात होकर सामने आता है, और आप सहज ही इस बात के आभारी होते हैं कि

आधुनिक काल में आधुनिक बोध के साथ सिरजा हुआ बहुत कुछ हमारे देखने-समझने-जानने के लिए मौजूद है।

इस बार की प्रदर्शनी में मणि दा के काम पॉलिएस्टर शीट पर गुआश और तैलरंगों से हैं। रचना-सामग्री के साथ प्रयोग करने से लेकर 'छवि' (इमेज) को आड़ा-तिरछा, इधर-उधर, आगे-पीछे, करने में भी उन्हें एक सर्जनात्मक संतोष मिलता है, जो कुछ न कुछ नया खोजने-पाने से जुड़ा होता है। उनके चित्रों की अपनी चुंबकीय शक्ति होती है, जो आँखों को अपने भीतर एकाग्र किए रहती है। और चित्रों में हम देखते हैं प्रायः खिड़की-दरवाज़े, मेज़-कुर्सियाँ, परदे, फूल, स्त्री-पुरुष आकृतियाँ, बिल्लियाँ, मछलियाँ आदि। घरों के भीतरी हिस्से मणि दा के चित्रों में एक अनोखा स्पेस रचते हैं, और हर चित्र में जैसे कई नाटकीय स्थितियाँ ज़ारी रहती हैं। वे उन कलाकारों में से भी हैं जो गांभीर्य को एक कौतुक प्रदान करते हैं, और कौतुक को गांभीर्य। कभी-कभी उनके चित्रों में पहाड़, बादल, खिड़की पर धरे होने का रूप रचते हैं, और कभी कमरे की निकट की कोई चीज़ दूर खड़े होने का आभास देती है। जितनी देर हम उनके किसी चित्र के सामने होते हैं, उतनी देर तक वह हमें अपने में बुझाए रखता है और हम चित्र की घटनात्मकता को 'बूझने' का यत्न करते रहते हैं। 'बूझने' का यह क्रम अंततः चित्र में गहरे और गहरे उतरने का भरण बन जाता है। और हम इस अहसास के साथ वापस लौटते हैं कि बूझना उतना ज़रूरी नहीं है जितना कि उन चित्रों को देख कर मिलने वाले आनंद को ग्रहण करना।

एक बार आप उनकी कुछ शैलीबद्ध आकृतियों की भंगिमाओं, हरकतों और संकेतों (जेस्चर्स) आदि को सराहने लगते हैं तो फिर उनकी गतिविधियों को किसी अर्थ-क्रम में रखने की विवशता महसूस नहीं करते हैं। उल्लेखनीय यह भी है कि 'गतिविधियों' को देखने का आप कोई भी कोण चुन सकते हैं—उन्हें ऊपर से नीचे की ओर देखना शुरू कर सकते हैं, या फिर दाएँ से बाएँ की ओर या बाएँ से दाएँ की ओर। चित्रों का चूँकि हर हिस्सा किसी न किसी विवरण से लैस है, इसलिए कुल चित्र ही दर्शक के लिए एक ऐसी भूमि बन जाता है, जहाँ वह मनचाहे खेल 'खेल' सकता है या कहें कई तरह के 'खेल' देख सकता है। दर्शक की आँखों से मानव-आकृतियों की आँखें कहीं औचक टकरा सकती हैं तो बिल्लियों की किसी हरकत में उलझ कर रह जा सकती हैं। रोज़मर्रा के दृश्य मणि दा के चित्रों में एक पैनी धार पा लेते हैं, और उनके कई मर्म और आशय नई तरह से उदघटित होने लगते हैं।

यों तो हर चित्र कुछ हिस्सों में विभाजित होता है, पर, यह विभाजन कुछ ऐसा होता है कि उसे 'खुला' विभाजन कह सकते हैं। किसी घर या फ्लैट के कमरे या उन कमरों के कुछ हिस्से एक धरातल पर, एक फलक पर, आ रहते हैं, और अलग-अलग हिस्सों की गतिविधियाँ एक कौतुक की भी सृष्टि करती हैं, और कुल छवि(यों) के लिए हमें उत्सुक भी बनाती हैं। देखिए, और देखते रहिए। अनुमान लगाइए, और लगाते रहिए। दरअसल, इनमें अनुमान का ही आनंद है। वही हमें उठाना है। और रंगों का भी तो आनंद उठाना है, जो वस्त्रों में, खंभों में, गमलों, फूलदानों, फूलों, पेड़-पौधों, चेहरों और हाथ-पैरों में कहीं नीले, कहीं सफ़ेद, कहीं हरे, कहीं भूरे या लाल के रूप में विन्यस्त है। रेखाएँ भी हैं ही, कहीं रंगों में दबी हुई, कहीं किसी किनारी के रूप में उभरी, कहीं किसी पट्टी के रूप में! कभी-कभी घरों-कमरों में बाहर का दृश्य आकर शामिल हो जाता है, और कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे कोई घर-कमरा बाहर के दृश्य में शामिल होने के लिए 'निकल' पड़ा हो। अपनी एक अचूक पहचान वाली चित्र-भाषा मणि दा ने





के.जी. सुब्रमण्यन : दो कृतियाँ





के.जी. सुब्रमण्यन : अंतरंग संवाद

निर्मित की है; पर, वे ठीक ही बहुत ज़्यादा देर तक उसे 'विश्राम' नहीं करने देते हैं—किसी एक जगह।

मणि दा अब बड़ोदरा में रहते हैं, जहाँ एक लंबे अरसे तक उन्होंने अध्यापन किया था। और फिर शांतिनिकेतन चले गए थे—पढ़ाने के लिए, उस शांतिनिकेतन में जहाँ वह स्वयं पढ़े थे। दिल्ली में उद्घाटन वाली शाम को कई पीढ़ियों के उनके 'छात्र-छात्राएँ' उनसे आकर मिल रहे थे। सप्रेम, सादर। अपने हाल-चाल बता रहे थे। यह देखना सुखकारी था कि यह सब मणि दा के चित्रों के बीच घटित हो रहा था। ऐसे ही क्षणों में आधुनिक भारतीय कला के वे पचास बरस सहसा आँखों के सामने आ जाते हैं, जिनकी सर्जना में मणि दा जैसे कलाकारों और कला-चिंतकों का विशेष योगदान रहा है, और जिसका उल्लेख हम ऊपर भी कर आए हैं। पर, उन क्षणों में दिखाई मुझे यह भी पड़ा कि मणि दा जीवन-प्रवाह को एक साथ कितनी धीर और कितनी प्रवाही दृष्टि से ग्रहण करते हैं। रोज़मर्रा जीवन में भी प्रेम, वासना, क्षोभ, राग-विराग, ताक़त का खेल, करुणा, रौद्र, हास्य आदि के जो रूप देखने को मिलते हैं, वे ही मानो मणि दा के 'विषय' हैं, पर, उनके हाथों से गुज़र कर वे रूप हमें एक नए जीवनानुभव से भर देते हैं। एक नए चित्र-अनुभव से तो भरते ही हैं।

पिया मोर मति जाहो पुरुबवा

ओमप्रकाश भारती

पिया मोर मति जाहो पुरुबवा
पुरब देस में टोना बेसी बा, पानी बहुत कमजोर। पिया मोर . . .
सुनत बानी आँख पानी देत बा, सारी भइल सरबोर। पिया मोर . . .
एक नाथ बिनु मन अनाथ रही, घुसी महल में चोर
पिया मोर मति जाहो . . . डिक डिक डिक।

आरा रेलवे टिसन पर, हावड़ा की ओर जानेवाली ट्रेन के रुकते ही, सूरदास ऊँची आलाप में गाता है। ट्रेन के डिब्बे की खिड़कियों को टटोलते हुए, धक्का खाते आगे बढ़ता है। घुसा महल में चोर . . . से आगे गाने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। क्योंकि, तब तक ट्रेन सिसकती हुई रेंगने लगती है। सूरदास के भिक्षा-पात्र में सिक्के खनकते हैं। हाथ से टटोलकर गिनता है। मुख पर तनिक आशा का भाव — शायद दोपहर के लिट्टी चोखा का जुगाड़ हो गया! लगभग बीस वर्षों से आरा रेलवे टिसन ही सूरदास का घर है। रेलवे स्टेशन है। यह किसी का घर कैसे हो सकता है? यहाँ तो आने-जाने वालों की भीड़ होती है। फिर यह सूरदास का घर कैसे हो गया? कौन सुनता है सूरदास को— *मति जाहो पुरुबवा!* . . . उसे कहीं यह भ्रम तो नहीं है कि बिदेसिया उसके स्वर से प्रभावित होकर बिदेस नहीं जाएगा? . . . एक भोला-भाला अनजान ग्रामीण युवक पूरब जाने के मर्म को क्या समझे!

बिदेसिया पूरब क्यों गया? पूरब कलकत्ता है, कलकत्ते में रोज़गार है, रूपवती बंगालिन है, लेकिन पानी बहुत कमज़ोर, फिर भी हम कलकत्ते जा रहे हैं—

प्यारी देस तनी देखेद' हम के
जात आबत मे देरी न लागी
कहना मान, करब न देरी
जल्दी से भेजब सनेसा
बल बुद्धि से रोजे कमाइब, नगद माल हरमेस . . .

*(भिखारी रचित **बिदेसिया** के **सुंदरी-बिदेसी** संवाद से)*

यही *नगद माल हरमेस* (हरहमेशा) ही पूरब का आकर्षण था। घर में थोड़ी 'बतकही' हुई कि धरे टिसन की बाट। तूफ़ान मेल से सीधे हावड़ा जंक्शन, कुलीगिरी और हाथ रिक्शा खींचकर जो कुछ कमाया, उसे समेट जनता मेल में बैठकर फिर वापस गाँव।

ज्यों ही आरा टिसन उतरकर पैर में काला चमकौआ जूता, लाल मौजा, सिर में महकौआ तेल, ऊपर से टिनहा 'बाक्स', गले में लाल गमछी, सफ़ेद कुर्ता के नीचे झकझक सफ़ेद धोती पहिरे, गाँव की एकबटिया पकड़े, कि खेतों में काम कर रहे लोगों की टकटकी! . . . गाँव पहुँचते ही लोग लपक पड़े—"ललबा त, अब लाल बाबू बन गए।" भौजी के लिए स्नो-पाउडर, बिंदी-टिकुली, बाबूजी के लिए सेनगुप्ता की धोती, माँ के लिए ताँत साड़ी, भैया के लिए पानामा

सिगरेट के पैकिट के साथ कुछ नगदी, जो हाथ में पहुँचने से पहले ही महाजन झटक लिए, गाँव भर में सनसनी—"अरे उपकारी के ललबा त, बाजी मार लीहलस, हई देखऽ, एतना देखऽ . . .!" ऊपर से झिरकी—"साढ़ नियरे घरही में बड़ले रहबऽ . . . देखऽ ललबा के!" . . . विवश नौजवानों की टोली कलकत्ते की राह पकड़ते हैं। इसके साथ शुरू होती है वह दारुण कथा, जिसने बिदेसिया संस्कृति को जन्म दिया।

बिदेसिया, बटोही, गिरमिटिया, रखेलिन आदि शब्दों का प्रचलन औपनिवेशिक काल में अप्रवासियों एवं विस्थापित भोजपुरी भाषियों की भावनात्मक क्षति का परिणाम था। मातृभूमि से बिछुड़ने की पीड़ा से ही बिदेसिया, बटोहिया जैसे नाट्य, गीत लोक हृदय से प्रस्फुटित हुए। यह सर्जन क्रिया-प्रक्रिया जितनी रोमांचक है, उतनी ही दारुण।

1857 के गदर के बाद ब्रितानी सरकार द्वारा, जो भू-व्यवस्था पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के लोगों पर थोपी गई, उनका परिणाम इतना भयावह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक इस अंचल के पच्चीस-तीस प्रतिशत लोगों को रोज़ी-रोटी की तलाश में घर-परिवार, गाँव, संस्कृति को छोड़कर पलायन के लिए मजबूर होना पड़ा। यह वही प्रदेश है, जहाँ 1857 के गदर के समय ब्रितानी कम्पनी सरकार का सबसे अधिक विरोध हुआ। 1857 के गदर में वे इस अंचल के जनसमूह की ताक़त से, भयभीत थे। प्रतिक्रियास्वरूप उन्होंने यहाँ के समाज को राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से तोड़ने की योजना बनाई। उन्हें सफलता भी मिली। पूरे क्षेत्र पर औपनिवेशिक दण्डविधान लगाए गए। शोषण की नीति को कानूनी ज़ामा पहनाया गया। सामन्तवादी व्यवस्था का पुरज़ोर सम्पोषण आरंभ हुआ। सामन्तवादी व्यवस्था में आदमी तिनके की तरह उड़ जाता है। उसका परिवार, उसका समाज, उसकी अस्मिता, उसकी जड़ें सब खोखली हो जाती हैं। तिस पर प्राकृतिक प्रकोप, बाढ़ और सूखे के दंश ने लोगों को पलायन के लिए मजबूर किया।

'इन्डेचर्ड लेबर' व्यवस्था के तहत गिरमिटिया मज़दूर बनाकर लाखों लोग मारिशस, नीदरलैण्ड्स, ब्रिटिश गुयाना, जामासिया तथा त्रिनिडाड, नटजल (दक्षिण अफ़्रीका), सूरीनाम तथा फिज़ी आदि द्वीपों में बहला-फुसलाकर या जबरन ले जाए गए। रामायण, महाभारत, गीता, कबीर के दोहे के संबल के साथ कमरतोड़ मेहनत के बल पर इन लोगों ने बंजर पहाड़ और जंगलों को हरे-भरे खेतों में बदल दिया। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो गए। राजनैतिक पहचान भी बनी। लेकिन जो क्षतिपूर्ति नहीं हो पाई, वह है—भावनात्मक क्षति। आज डेढ़ सौ वर्ष बाद भी उनके मन से अपना गाँव, समाज और संस्कृति विस्मृत नहीं हुआ है। इसकी अभिव्यक्ति वहाँ के गीत, कविता, कहानी, नाट्य आदि विधाओं में मिलती है। संस्कृति और मातृभूमि से बिछुड़ने की पीड़ा ने ही बिदेसिया संस्कृति को जन्म दिया। समुद्र पार जाने वाले *बिदेसी* हो गए। लेकिन अपने ही देश में, घर से मात्र चार-पाँच सौ किलोमीटर की दूरी पर रहने वालों को जब *बिदेसी* कहा गया, तो इससे गहरी पीड़ा किसी भी समुदाय या जाति के लिए क्या हो सकती है। इसी पीड़ा से आरंभ हुआ सृजन पीड़ा जब असहनीय हो जाती है, तब वह रागात्मक हो उठती है। इन्हीं रागों से गीत, नृत्य, नाट्य आदि विधाएँ निःसृत होती हैं।

विस्थापन और आप्रवासन ने ही बिदेसिया-बटोहिया संस्कृति को जन्म दिया। मारिशस, नीदरलैण्ड्स, ब्रिटिश गुयाना, जामासिया तथा त्रिनिडाड, नटजल (दक्षिण अफ़्रीका), सूरीनाम तथा फ़िजी आदि देशों में बिदेसिया और बटोहिया के कई गीत लोक कंठों से आज भी सुने जा सकते हैं। बिछुड़ने की पीड़ा सिर्फ उन्हें नहीं थी, जो मुलूक छोड़ चले गए, उन्हें भी थी

जिसे छोड़ गए। यह जो बचे हुए लोग थे, उनकी आशा और आकांक्षाओं के अनुरूप ही बाबू रघुबीर नारायण, ने 1910 के आसपास बटोहिया गीत रचा। इस गीत के माध्यम से 'बिदेसी' को देस वापसी का आव्हान किया गया है। यह गीत उन सभी देशों में आज भी लोकप्रिय है, जहाँ भोजपुरिया रहते हैं—

बिपिन अगम घन सघन बगन बीच, चम्पक कुसुम रंग देवे रे बटोहिया
द्रुम बट पीपल कदम्ब आस वृक्ष कैतकी, गुलाब फूल फूले रे बटोहिया
तोता तूती बोले राम बोले भेंगरजवा से, पपिहा के पी पी जिया साले रे बटोहिया
सुन्दर सुभूमि भैया भारत के देसवा से, मोरे प्रान बसे गंगा धार रे बटोहिया
गंगा रे जमुनवाँ के झगमग पनियाँ से, सरजू झमकि लहरावे रे बटोहिया
ब्रह्मपुत्र, पंचनद घहरत निसि दिन, सोनभद्र मीठे स्वर गावे रे बटोहिया
अपर अनेक नदी उमड़ि उमड़ि नाचे, जुगन के जदुआ लगावे रे बटोहिया
आगरा, प्रयाग, काशी, दिल्ली, कलकाता से, मोरे प्रान बसे सरजू तीर रे बटोहिया
जाउ जाउ भैया रे बटोही, हिन्द देखि जाऊ, जहाँ ऋषि चारों वेद गावे रे बटोहिया
सीता के बिमल जस, राम जस, कृष्ण जस मोरे बाप दादा के कहानी रे बटोहिया
ब्यास बाल्मीकि ऋषि गौतम कपिल देव, सूतल अमर के जगावे रे बटोहिया
रामानुज रामानन्द न्यारि प्यारी रूपकला, ब्रह्म सुखबन के भँवर रे बटोहिया
नानक कबीर गौर संकर श्री राम कृष्ण, अलख के गतिया बतावे रे बटोहिया
विद्यापति कालीदास सूर जयदेव कवि, तुलसी के सरल कहाने रे बटोहिया
जाउ-जाउ भैया रे बटोही हिन्द देखि आउ, जहाँ सुख झूले धान खेत रे बटोहिया
बुद्धदेव पृथु विक्रमार्जुन सिवाली के फिरि फिरि हिय सुध आधे रे बटोहिया
अपर प्रदेस देख सुभग सुघर बेस, मोहे हिन्द जग के निचोड़ रे बटोहिया
सुन्दर सुभूमि भैया भारत के भूमि, जेहि जन रघुबीर सिर नावे रे बटोहिया।

बिदेसिया परम्परा में भिखारी ठाकुर ने 1917 में *बिदेसिया* लोकनाट्य की रचना की। रंगमंच पर *बिदेसिया* पहली बार था। बिदेसिया की समस्या को लेकर नाट्य आविष्करण भिखारी का अपना प्रयोग था तथा कला जगत के लिए नव अन्वेषण। लेकिन अन्य लोकविधाओं में बिदेसिया पहले से उपस्थित था। सबसे पहले (उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर) 1850 के आसपास बिहार के चंपारण जिले के पंडितपुर गाँव (अब मोतिहारी जिला) के कबीर पंथी साधू केसोदास एक के निर्गुण में बिदेश शब्द का उल्लेख हुआ है—

भावे नही मोर भवनवाँ
हो राम, बिदेश गवनवाँ।

भोजपुरी के एक अन्य कवि रामसकल द्विज 'राम' का *सुन्दरी विलाप* 1896 के आसपास प्रकाशित हुआ। इसमें बिदेसिया को संबोधित गीत रचनाएँ हैं, जो सुरीनाम, मारिशस, फिज़ी, आदि देशों में गए लोगों को संबोधित है। 1912 में कसौधन पुस्तकालय नरवास चौक, गोरखपुर से एक पुस्तक *प्यारी सुंदरी वियोग* नाम से छपी, जिसमें बिदेसिया के कुछ गीत संकलित हैं। 1887 के आसपास मुज़फ़्फ़रपुर के गुदर राय लिखित *सुन्दरी विलाप* में बिदेसिया के गीत मिलते हैं। भ्रमवश कुछ विद्वानों ने गुदर राय को *बिदेसिया* का प्रवर्तक मान लिया है। *सुंदरी*

विलाप नाटक नहीं होकर गीतमाला है, जिसमें परदेस गए पति की ब्याहता की विरह वेदना चित्रित है। भिखारी ठाकुर का बिदेसिया, लोक नाट्य के शिल्प में विरचित है। निश्चित रूप से भिखारी ठाकुर का *बिदेसिया* नाट्य मौलिक और उनका अपना अन्वेषण है। भले ही कुछ गीत उन्होंने पहले से प्रचलित लिखित या मौखिक परम्परा से लिए हों।



भिखारी ठाकुर

भारतीय लोकनाट्य परम्परा में भिखारी ठाकुर महान प्रयोक्ता हुए। भिखारी कवि, अभिनेता, गायक, नाटककार और नाट्यशिल्पी थे। उनका रंग प्रयोग भारतीय पारम्परिक रंगमंच के क्षेत्र में अनोखा है। कबीर के बाद, हिन्दी प्रदेश में वे एक ऐसे चिंतक हुए, जिन्होंने वहाँ की सामाजिक समस्याओं को अपनी रचनाओं में प्रखरता से उद्घाटित किया। यह सब कुछ उनकी विलक्षण प्रतिभा और जीवन शैली की देन थी।

भिखारी ठाकुर का जन्म 18 दिसंबर, 1887 की, पौष शुक्ल पंचमी, सोमवार को छपरा जिले के कतुबपुर गाँव में हुआ। पिता का नाम दलसिंगार ठाकुर था। वे जाति के नाई थे। पुस्तैनी पेशा ही भरण पोषण का आधार था। गाँव के स्कूल से उन्होंने चौथी-पाँचवीं तक शिक्षा हासिल की। अपने जन्म के बारे में भिखारी ठाकुर ने एक जगह पर कहा है—

बारह सौ पंचानवबे जहिया
सुदी पूस पंचिमी हरे तहिया।
रोज सोमार ठीक दुपहरिया,
जन्म भइल ओही घरिया।।

बचपन के दिनों में भिखारी ठाकुर स्कूल के अलावा गाय, भैंस, बकरी चराने में समय व्यतीत करते थे। रात के समय गाँव के चौपाल में भजन-कीर्तन गाना और सुनना उन्हें अच्छा लगता था। किशोरावस्था आने पर घर की ज़िम्मेदारी उन पर आ गई। भूमिहीन भिखारी के पास अर्थ उपार्जन हेतु परदेस जाने के अलावा दूसरा कोई चारा भी नहीं था। रोज़गार की खोज में खड़गपुर पहुँचे वहाँ उन्होंने हज़ामत का पुश्तैनी काम शुरू किया। उसके बाद मेदनीपुर, कलकत्ता आदि कई जगहों पर घूमते रहे, उनका सृजनशील व्यक्तित्व नई-नई संवेदनाओं को ग्रहण करता रहा। अपने भ्रमण के दौरान भिखारी ठाकुर ने महानगरों की समस्याओं को क़रीब

से देखा। ख़ासकर रोज़गार की खोज में गाँव-घर से आए मज़दूरों की बदहाली ने उन्हें द्रवित किया। कलकत्ता इन दिनों स्वाधीनता आन्दोलन और सामाजिक जागरण का मुख्य केंद्र था। सभा, गोष्ठी और रंगमंच आदि माध्यमों से समाज सुधार के स्वर सुनाई पड़ते थे। भिखारी के समक्ष पूरा भोजपुर समाज था, जहाँ बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, वैधव्य, संपत्तिमूलक विवाद, धार्मिक अंधविश्वास, बहुविवाह, नौजवानों का शहरों की ओर पलायन और व्यभिचार जैसी सामाजिक समस्याएँ फलित थी। भिखारी ने गाँव लौटने का निश्चय किया और वहीं सृजन कार्य आरंभ किया—

गइली मेदिनीपुर के जिला
ओहिजे देखली किछु रामलीला
घर पर आ के लगली रहे
गीत कवित कतहू केहू कहे
अरथ पूछि-पूछि के सीखी
दोहा छंद निज हाथे लिखि।

गीत और कविता के अलावा भिखारी ठाकुर ने लगभग एक दर्ज़न से अधिक नाटकों की रचना की। ये नाटक हैं—*बिदेसिया, भाई-बिरोध, बेटी-वियोग, विधवा-विलाप, कलयुग प्रेम उर्फ़ पियबा निसइल, जिनगी के दीयना, अनमेल बिआह, गबरघिचोर, बिरहा-बहार, गंगा स्नान, राधेश्याम बहार* तथा *ननद-भौजाई* आदि।

बिदेसिया भिखारी ठाकुर का महत्वपूर्ण नाटक है। यही वह कथ्य और नाट्य शिल्प है, जिनसे बिदेशिया नाट्य शैली का प्रचलन हुआ। भिखारी ठाकुर की रंगदृष्टि जितनी परिपक्व *बिदेसिया* में है, उतनी अन्य नाटकों में नहीं।

बिदेसिया की कथावस्तु अति संक्षिप्त है। गाँव का एक युवक नवब्याहता पत्नी को छोड़कर कलकत्ता जाना चाहता है। पत्नी घर में ही रहने की विनती करती है। घर की बिगड़ती आर्थिक स्थिति से उद्विग्न युवक एक दिन पत्नी को बताए बिना, लघुशंका के बहाने कलकत्ता चला जाता है। जाने से पहले अपने यार-दोस्तों को घर की देखभाल करने को कह जाता है।

कलकत्ता पहुँचकर यही ग्रामीण युवक 'बिदेसी' बन जाता है। कुछ दिनों में मेहनत-मज़दूरी कर अच्छा धन कमाता है। अचानक एक दिन उसकी भेंट एक रूपवती परित्यक्ता स्त्री से हो जाती है। बिदेसी उस पर मोहित होता है। रूपवती स्त्री भी प्रेम पाश में उसे फाँस लेती है (भिखारी ठाकुर ने इस महिला को रंडी/रखेलिन कहा है), फिर दोनों साथ रहने लगते हैं। बिदेसी गाँव, समाज तथा अपनी नवब्याहता स्त्री को भूल जाता है।

उधर गाँव में बिदेसी की पत्नी प्यारी सुंदरी, पति की याद में रोती-कलपती रहती है। पति के विदेश जाने से पूर्व संग रहने का सुख तथा जाने के बाद पति किस हाल में होंगे—की चिन्ता से बिलखती रहती है। बस एक ही संकल्प है—एक दिन उसका पति अवश्य लौटेगा। एक दिन एक अधेड़ बटोही जो कलकत्ता कमाने जा रहा था, उनसे प्यारी सुन्दरी की भेंट होती है। सुंदरी का विलाप सुनकर, बटोही उसके पति को खोजकर कलकत्ता से वापस भेज देने का वचन देता है।

इसी बीच गाँव का एक मनचला युवक, जो बिदेसी को 'भैया' तथा प्यारी सुंदरी को 'भौजी' कहता है, प्यारी सुंदरी को बहला-फ़ुसलाकर उसका शील भंग करना चाहता है। सफलता नहीं

मिलने पर बलात्कार करने की चेष्टा करता है। प्यारी सुंदरी दृढ़ता से प्रतिवाद करती है। अड़ोस-पड़ोस के लोगों के आ जाने के कारण नक़ली देवर भाग खड़ा होता है।

कलकत्ता पहुँचने के बाद बटोही 'बिदेसी' को खोजना आरंभ करता है। प्यारी सुंदरी द्वारा बताए 'डील-डौल' से मेल खाते एक युवक से बटोही की भेंट होती है। बटोही उसे प्यारी सुंदरी की विरह दशा से अवगत कराता है। उसके अखंडित सतीत्व की पुष्टि करता है। बिदेसी की चेतना लौटती है, वह घर लौटने का निश्चय करता है। रखेलिन इस निश्चय का प्रतिवाद करती है। तरह-तरह के प्रलोभन और धमकियाँ भी देती हैं। बाड़ी वाला (मकान मालिक) दुकानदार, मोहल्ले के रंगदार सभी अपनी बकाया वसूली के बहाने बिदेसी का कपड़ा, सामान, घड़ी, नगदी छीन लेता है। बिदेसी खाली हाथ गाँव लौटता है। सुंदरी, पति की आवाज़ पहचानकर घर का दरवाजा खोलती है। खुशी का ठिकाना नहीं, दोनों मिलते हैं। क्षेम-कुशल पूछने, कहने का दौर चलता है।

उधर कलकत्ता में रखेलिन अपने दो बच्चों के साथ बिदेसी के गाँव के लिए, गहने कपड़े लेकर चलती है। कलकत्ते में राहजनी होती है। गुण्डों द्वारा सारे समान छीन लिए जाते हैं। रोती-बिलखती, पूछताछ करती रखेलिन बिदेसी के घर पहुँचने में सफल होती है। बिदेसी उन्हें देख अचंभित होता है। हाँ-ना, और अनुनय-विनय के बाद सभी हिलमिल कर गाँव में साथ रहने लगते हैं। मंगलकामना के साथ कथा यहीं समाप्त होती है।

भिखारी ठाकुर का *बिदेसिया* अपने समय के सबसे बड़े सत्य को उद्घाटित करता है। लोक-प्रचलित गीतों को उन्होंने अल्प कथानक और धारदार, छोटे-छोटे संवादों में गूँथकर अद्‍भुत नाट्‍य शैली को जन्म दिया। *बिदेसिया* नाटक का कथानक एक नवब्याहता स्त्री के पति को आर्थिक मजबूरी में कलकत्ता चले जाने की विवशता और पति की बाट जोहती असहाय नायिका की अन्तर्वेदना के इर्द-गिर्द घूमता है। नाटकीय घटना का विकास तब होता है, जब एक 'बटोही' द्वारा प्यारी सुंदरी का विरह संदेश कलकत्ता उसके पति तक पहुँचाया जाता है तथा रखेलिन के फेर में पड़े बिदेसी को मुक्त कराकर गाँव लौटने के लिए विवश किया जाता है। *बिदेसिया* सिर्फ असहाय विरह-दग्ध नायिका की व्यथा-कथा नहीं है, बल्कि रोज़ी-रोटी की तलाश में भटकते युवकों का गाँव से पलायन कर शहर जाने और पुनरवापसी की दारुण दास्तान भी है।

भिखारी ठाकुर के अन्य नाटकों में तत्कालीन सामाजिक जीवन की विसंगतियों को यथार्थ रूप में उद्घाटित किया गया है। *विधवा विलाप* में अनमेल विवाह और बाल-विवाह पर प्रहार किया है। *बेटी-बेचबा* और *लकावू का ब्याह* में पैसा लेकर बूढ़े के हाथ बेटी बेचने की घृणित प्रथा का भंडाफोड़ किया गया है। कहा जाता है कि छपरा जिले के किसी गाँव में एक बार बूढ़े के संग अल्पवयस की कन्या ब्याही जा रही थी। इस अवसर पर भिखारी, नाच मंडली के साथ प्रदर्शन के लिए बुलाए गए थे। भिखारी ने गृहपति को बुलाकर कहा, आज वे प्रदर्शन करने में असमर्थ हैं, आपका 'साटा' वापिस किया जाता है। गृहपति ने हाथ जोड़कर कहा—"ऐसा न करें, उनकी प्रतिष्ठा चली जाएगी।" फिर भिखारी ने अपनी शर्त रखी, कहा—"ये अपने साटे का रुपया वापस लीजिए। मैं नाच ज़रूर करूँगा, लेकिन अपनी पसंद के।" फिर भिखारी ने *बेटी बेचबा* का प्रदर्शन किया। नाटक बीच में रोकना पड़ा, प्रसंग था बेटी बेचने वाले बाप से ससुराल से आई बेटी रो-रोकर कहती है—

धन के लालच पाई, बुढ़ से कइल सगाई,
माई के तू बतिया ना मनल हो बाबूजी।
दिनवाँ बितेला रोई, बात ना पूछत कोई,
रतिया खाँ छतिया फाटत बा हो बाबूजी।।

अर्थात् "हे बाबूजी माँ के बार-बार समझाने के बाद भी आपने उसकी नहीं मानी और धन के लालच में आपने बूढ़े से मेरा ब्याह कर दिया। दिन रोते बीतते हैं। रात में छाती फटने लगती है। कोई हाल-चाल पूछने वाला भी नहीं है।" बात यहीं नहीं थमती है—

आंखि से सूझत कम, हरदम खींचत दम।
मथवा के बरवा चवंरवा हटे बाबूजी।।
मुंहवा मे दाँत नाहीं, भर मुँहे लार चुए।
बोलेला त, आवेला सड़ल बदबू बाबूजी।।
पति कर देखि गति, पागल भइल मति।
रोई-रोई करीले बिहान मोरे बाबूजी।

अर्थात् "मेरे बूढ़े पति को आँखों से दिखाई नहीं देता, वे हरदम हाँफते रहते हैं। उनके सिर के बाल झड़ गए हैं। उसे देखकर लगता है चंवर (तालाब) का पानी सूख गया है। उनके मुँह में दाँत नहीं हैं, मुँह से हमेशा लार टपकते रहता है। जब वह बोलता है, तो मुँह से बदबू आती है। पति की हालत देखकर मेरी पागल-सी दशा हो गई है। मैं रो-रो के रात काटती हूँ।"

इसके बाद नाटक और शादी दोनों रुक गया, लड़की के पिताजी ने पैसा वापिस कर, बूढ़े वर को खदेड़ दिया।

भाई विरोध में भिखारी ने समाज की टूटती संयुक्त परिवार की व्यवस्था को चित्रित किया है। यह टूटन अर्थाभाव के कारण व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से पनपी है। नाटक का केन्द्रीय पात्र उपदर पत्नी के बहकावे में आकर सहोदर भाई की हत्या करवा देता है। भाई को मरवाने के बाद, पत्नी भी उसे छोड़ देने की धमकी देती है। बहुत हिल-हुज़्ज़त और मान-मनौती के बाद इस शर्त पर पत्नी साथ रहने को तैयार होती है कि उपदर उसे नये गहने ला देगा। उपदर गहने की चोरी में पकड़ा जाता है। थानेदार घूस माँगता है। उपदर घूस देने में असमर्थ है। उसकी पत्नी के पास कुछ गहने हैं। उपदर चाहता है कि उसकी पत्नी गहनों को बेचकर उसे छुड़ा लेगी। लेकिन ऐसा नहीं होता, उपदर की पत्नी गहने बेचने से इनकार कर देती है। उपदर को चोरी के इलज़ाम में जेल हो जाती है।

नाटक *गंगास्नान* में स्त्रैण लोगों का वर्णन है, जो स्त्री के बहकावे पर माँ-बाप को मारा-पीटा करते हैं और बाद में प्रायश्चित की आग में जलते रहते हैं। इसमें ऐसे-ऐसे छद्मवेशी ठगों का भी चित्रण है, जो पुत्र देने के बहाने मेले में भोली-भाली युवतियों के तन और आभूषण से खेलते हैं। नशा समाज के लिए कोढ़ है। *कलयुग प्रेम* में भिखारी ठाकुर ने नशाखोरों और इनसे पनपने वाली बुराइयों पर तीखा प्रहार किया है। *बेटी वियोग* नाटक में बाल और अनमेल विवाह जैसी दारुणिक प्रथा की पोल खोली है। *ननद भौजाई* नाटक में भाभी के बहाने युवतियों को सतरंगी दुनिया को छोड़ गाँव के सोहदों, लुच्चों से सावधान रहने को कहा गया है। *सूरवा* नाटक में गाँव के अंधे और विवश लोगों का चित्रण है, जिनके पास पर्याप्त सम्पत्ति तो है,



संजय उपाध्याय द्वारा निर्देशित ***बिदेसिया*** *का एक दृश्य*

लेकिन उनका उपयोग दूसरे ही करते हैं।

दामाद वध में थोड़े पैसे के लिए साला बहनोई को अधमरा कर देता है। पति के लिए बहन भाई को पुलिस से पकड़वा देती है। *कलकत्ते की हवा* में मिल में काम करनेवाली ऐसी महिलाओं का वर्णन है, जो परिवार के भरण-पोषण के लिए तन बेचने को विवश है।

इस तरह भिखारी ठाकुर ने अपने नाटकों में तत्कालीन सामाजिक बुराइयों की सिर्फ़ पोल ही नहीं खोली, बल्कि विभिन्न चरित्रों के माध्यम से उसका प्रतिकार भी किया है।

बिदेसिया नाटक में चार मुख्य पात्र हैं—बिदेसी (गाँव का एक बेरोज़गार युवक), बटोही (एक अधेड़ पुरुष), प्यारी सुंदरी (नवब्याहता स्त्री), रखेलिन (वेश्या जो कलकत्ते में रहती है)। इसके अलावा अन्य सहयोगी पात्र—देवर (गाँव का मनचला युवक), दोस्त (बिदेसी का शुभचिंतक), सूत्रधार (मल्लिक), दो बच्चे (रखेलिन के), एक ग्रामीण महिला, समाजी (दस-बारह लोगों की गायन-वादय मंडली) और 'लेबार' आदि शामिल हैं।

नाटक की भाषा भोजपुरी है। संवाद गद्य और गीत दोनों में हैं लेकिन अधिकांश संवाद गेय हैं। जहाँ गद्य संवाद हैं—छोटे, अभिव्यक्तिपूर्ण और धारदार हैं—

(बटोही, समाजी से कलकत्ता जाने का रेल किराया पूछता है, समाजी उसे तीस रुपये की टिकट ख़रीदने को कहता है। टिकट से अंजान बटोही झुँझलाकर कहता है, उसके और कलकत्ते के बीच में सिर्फ़ रेलगाड़ी थी, ई टिकट कहाँ से आ गया!)

बटोही : ए बबुआ ढब ढब!

समाजी : का ह, बाबा?

बटोही : हम टीसन पर जाइब, ए बबुआ!

समाजी : ए बाबा, हइहे रास्ता सीधे टीसन पर चल जाई।

बटोही : अच्छा ए बबुआ ई बताव, कि कलकाता के मसूल कतना बा।
समाजी : कलकाता के मसूल एह घरी तीस रुपया लागी।
बटोही : (चिहाके) तीस रुपया लागी? सवा रुपया में ना फरिआई?
समाजी : सवा रुपया में त टिकठे ना मिली, महराज!
बटोही : बबुआ, कम सुने लउ का? हम कहतानी रेल, तूँ कहतारअ टिकठ।
समाजी : टिकठे ना कटइब, त, रेल प कइसे चढ़ब?
बटोही : का बबुआ, टिकठ प चढ़ा के रेल धसोर दिआई?
समाजी : ना महाराज, तीस गो रोपेया देब' त एगो टिकठ मिली।
बटोही : टिकठ कथी के?
समाजी : कागज के।
बटोही : कती मूटी के?
समाजी : हती मूटी के।
बटोही : हमरा के बुरबके समझतार'? तीस रोपेया लागे जात बा, त नान्ह-बार के सूते बइठे लायक ना होई, त' लेके का कोई?
समाजी : कवना घर-दुआर ह'?
बटोही : अच्छा ए बबुआ, तीस रोपेया टिकठ में लाग गइल। रेल में कतना लागी, बबुआ?
समाजी : रेल में एको पइसा ना लागी।
बटोही : अच्छा ए बबुआ, रेल में हमार एको पइसा ना लागी, त' टिकठ के कवन काम बा? हम रेल में बइठ' के दमदमवले चल जाइब।

(बटोही और समाजी का संवाद—बिदेसिया नाटक)

लोक प्रचलित मुहावरे, टकसाली शब्दों की झड़ी *बिदेसिया* नाटक में देखी जा सकती है। पद्य संवाद, स्थानीय लोकधुनों और लोक प्रचलित छंदों में लिखा गया है। लोरिकायन, सोरठी, आल्हा, बिरहा, बारहमासा, पूर्वी, पचरा, कुँवर विजई, निर्गुण, चौपाई, कवित्त तथा चौबोला आदि लोकधुनों और छंदों का प्रयोग बिदेसिया नाटक में हुआ है। गीतों की भाषा असरदार और जीवंत है। भाव, अर्थ, ध्वनि और लय अभिव्यक्ति को किस तरह धारदार बनाती है, इसकी बानगी बिदेसिया के गीतमय संवादों में दृष्टव्य है—

बान्हि के पगरिया रगरिया मचावतार, कवना नगरिया के हव' तू बटोहिया।
हमरी जनानावाँ मकानावाँ भीतरवा में, साधि कर रहेली भवनवाँ बटोहिया।

x x x

रंडी मे कुछ ना बाटे, कुत्ता जइसे हाड़ चाटे, एको नाहीं घाट तूहूँ लगबउ बिदेसिया।
छोड़ि द' अधरम, मिजाज के नरम, तूँ मनवाँ में करि लेहु सरम बिदेसिया।।

*(धुन—पूर्वी, प्रसंग—बिदेसी-बटोही संवाद, नाटक-**बिदेसिया**)*

भिखारी के नाटकों में शब्द-ध्वनि और पात्रों के नाम दर्शकों के मन में गुदगुदी पैदा करते है। भिखारी ने गंवई पात्रों का नामकरण, उनके आचरण और व्यवहार के आधार पर किया है। *बिदेसिया* नाटक में 'बटोही' कलकत्ता जाते समय समाजी से, रेलवे स्टेशन का रास्ता पूछते

हुए कहता है—'ए बबुआ ढब-एब', यानी जो समाजी ढब-ढब की ध्वनि बजाता रहता है या जो कोई ताल नहीं बजा पाता है, उसे ढब-ढब कहा जाता है। और फिर ढब-ढब के साथ बेतुके सवाल-जवाब। बेतुकी बातें सिर्फ़ ढब-ढब को शोभा देगा—भिखारी इस इल्म को बख़ूबी जानते थे। अन्य पात्रों के नाम भी उनकी सामाजिक स्थिति, आचार-व्यवहार के अनुकूल ही हैं—बिदेसी, बटोही, रखेलिन, उपकारी, उपदर, उजागर, चटक, लोभा, उपातो, झँटलू, उदबास, उपदेश तथा दुखहारिन आदि। इस तरह के नाम और उनके उच्चारण ध्वनि ना सिर्फ़ दर्शकों को गुदगुदाता है, अपितु नाटकीय संप्रेषण को सघन और तीव्र बनाता है।

भिखारी ठाकुर के नाट्यदल में 18-20 कलाकार थे, जिसमें सात-आठ अभिनेता और नर्त्तक, तीन-चार 'मोटिया' (साज-सज्जा और बादयंत्र ढोने वाले) तथा आठ-दस गवैये-वादक। भिखारी दल नायक थे, जिन्हें दल के लोग उस्ताद, गुरु कहकर सम्बोधित करते थे। दल को मंडली या भिखारी तमाशा मंडली कहा जाता था। *बिदेसिया* नाट्य में सूत्रधार को 'मल्लिक', विदूषक को 'लेबार', अभिनेता को 'नटुआ' तथा नर्तक को 'लौंडा', (स्त्रीभेष में पुरुष नर्तक) तथा गायन-वाद्य मंडली को समाजी कहा जाता था (हैं)। नाट्य दल को मिलने वाले पारिश्रमिक में सबकी हिस्सेदारी थी। शादी-ब्याह, मुंडन, जनेऊ आदि मांगलिक अवसरों पर भिखारी के तमाशा दल को 'साटा' पर आमंत्रित किया जाता था। इसके अलावा सामाजिक आयोजन, मेले, त्यौहार आदि के अवसर पर भिखारी स्वयं अपना प्रदर्शन करते थे। कहा जाता है कि नाट्यारंभ में भिखारी स्वयं दर्शकों से कह देते थे कि वे सिर्फ़ तमाशा दिखाने जा रहे हैं, जिन्हें समझ में नहीं आता वो कृपया पहले ही उठ जाएँ।

बिदेसिया नाट्य का रंगमंच कोई विशेष तामझाम लिए नहीं होता है। भिखारी ठाकुर ने खुले मैदान, चबूतरा तथा शहरी प्रेक्षागृह आदि जगहों पर नाट्य प्रदर्शन किए। लेकिन प्रदर्शन जब गाँवों में होता था, तो दस से पंद्रह-हज़ार दर्शक होते थे। ऐसी स्थिति में, वहाँ कोई मंच व्यवस्था कैसे कायम रह सकती थी। खुले मैदान में आठ-दस चौकियों को जोड़कर 15X20 लम्बाई-चौड़ाई का मंच कुछ ही घंटों में तैयार कर लिए जाते थे/है। ऊपर घास-फूँस की छत्ती या चंदोबा टाँग दिया जाता है। बाँस या लकड़ी के खंबे से तीन-चार गैसबत्ती (पूर्व में मशाल) लटका दिया—बस, प्रदर्शन के लिए मंच तैयार। दर्शक तीन ओर से घेरकर बैठते हैं। एक ओर समाजी बैठते हैं और उसी के पीछे साजघर होता है। कहा जाता है कि स्वतंत्रता से पहले भिखारी ठाकुर के प्रदर्शन देखने हेतु इतनी तादाद में लोग आने लगे, कि ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदर्शन पूर्व अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया था। प्रदर्शन की अनुमति भी आसानी से नहीं मिल पाती थी।

बिदेसिया नाट्य में सभी कलाकार एक साथ मंच पर आते हैं। अन्य पारम्परिक नाट्य रूपों की तरह मुख्य प्रदर्शन से पूर्व पूर्वरंग का विधान यहाँ भी है। मंच पर आते ही गायन-वादन मंडली द्वारा ताल-वाद्य के सुरताल मिलान हेतु, कोई लोकप्रिय धुन सामूहिक रूप से बजायी जाती है। अन्य अभिनेता भी समाजी के साथ मंच पर बैठ जाते हैं। सामूहिक वादन के बाद मंगलाचरण, मंगलाचरण में विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति की जाती है, इसे 'सुमिरन' भी कहा जाता है। यह 'सुमिरन' सूत्रधार, मल्लिक या व्यास के नेतृत्व में आरंभ होता है। आरंभ में चौपाई जिसमें महादेव, सीता-राम, कृष्ण तथा हनुमान आदि की वंदना की जाती है। नाटक का नाम और विषयवस्तु की संक्षिप्त झलक चौपाई में ही दे दी जाती है। सिर्फ *बिदेसिया* नाटक के आरंभ में लौकिक संस्कृत में श्लोक हैं, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, कृष्ण, हनुमान तथा गुरु

की वंदना की गई है। अन्य किसी और नाटक में संस्कृत श्लोक नहीं है। *बेटी वियोग* नाटक में चौपाई से पहले वार्तिक का संवाद है। यह भोजपुरी गद्य में है तथा दर्शकों को सम्बोधित है। भिखारी ठाकुर के बिदेसिया नाट्य में पूर्वरंग सिर्फ 'सुमिरन' या प्रदर्शन पूर्व की तैयारी तक सीमित नहीं हैं, बल्कि सम्पूर्ण नाटक की संक्षिप्त भूमिका विभिन्न गीतों और गद्य संवादों के द्वारा पूर्वरंग में ही प्रस्तुत कर दी जाती है। इससे दर्शकों के दिल-दिमाग़ में नाटक की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है, जो नाट्यान्त तक प्रदर्शन से बँध जाते हैं, जुड़ जाते हैं। भाव-विषय को लेकर ये गीत-संवाद जितने धारदार होते हैं, उतना ही इसका संगीत पक्ष आकर्षक होता है। *बिदेसिया* नाटक के पूर्वरंग में जतसारी, लोरिकायन, सोरठी, बिरहा तथा निर्गुण जैसे लोकप्रिय धुनों पर आधारित गीत हैं। और बीच-बीच में सूत्रधार का 'टोन' 'टोक' पूर्वरंग को बड़ा ही सरस बनाता है। दो से तीन घंटों तक चलने वाले इस गीत-संवाद से दर्शकों का मन तनिक भी नहीं ऊबता है। रात गहराती है, बचे-खुचे लोग भी प्रदर्शन स्थल पर पहुँच जाते हैं। और अब समाजी की चौपाई के साथ पात्रों का (बिदेसी और प्यारी सुंदरी) मंच पर प्रवेश, मुख्य अभिनय यहीं से आरंभ होता है।

भिखारी ठाकुर स्वयं एक अच्छे अभिनेता थे। *बिदेसिया* नाट्य के प्रायः सभी अभिनेता गाने में निपुण होते हैं। संवाद ऊँचे स्वरों में लयात्मक बोले जाते हैं। अभिनय की आधारभूमि लोक की अनुकृति है। भिखारी का प्रेरणा स्रोत *लोक* है। उनके सारे चरित्र लोक जीवन के प्रतिनिधि चरित्र है। भिखारी के सभी पात्र दर्शक के समक्ष 'समाजी' के साथ बैठते हैं। वहीं से बारी आने पर अभिनय के लिए उठते हैं और भूमिका समाप्त होने पर वापिस बैठ जाते हैं। पात्रों की वेशभूषा और रूप सज्जा आंचलिक और पारम्परिक होती है। कलाकार गेरू, खड़िया, काजल, तथा मुर्दाशंख के सहारे स्वयं अपना 'मेकअप' करते हैं। वेशभूषा और रूप सज्जा के लिए भिखारी ठाकुर ने अपने नाटकों में अद्भुत संकेत दिए हैं। गीतों की कड़ियों से ही पात्रों की वेशभूषा और डील-डौल का पता चलता है, यथा :

धोती पढ़धरिया धइ के कान्हावा पर चदरिया हो,
बबरिया झारिके ना, होइब' कवना सहरिया हो बवरिया झारिके ना।

करिया ना गोर बाटे, लामा नाही हउवन नाटे, मझिला जवान साम सुन्दर बटोहिया,
घुठी प' ले धोती कोर, नकिया सुगा के ठोर, सिर पर टोपी, छाती चाकर बटोहिया।

किसी भी कल्पनाशील निर्देशक के लिए यह संकेत पर्याप्त है।

बिदेसिया नाट्य की संगीत योजना अति विशिष्ट है। भिखारी ठाकुर भोजपुरी लोक धुनों और छंदों के ज्ञाता थे। अकेले *बिदेसिया* नाटक की संगीत योजना के बारे में कहा जाए तो, सम्पूर्ण भोजपुर अंचल के लोक धुनों का गुच्छ है। यदि किसी अध्येता को भोजपुरी लोकगीत/संगीत और संस्कृति पर शोध करना हो तो उनके लिए भिखारी के नाटक पर्याप्त हैं। संस्कार गीत, कार्य या श्रमगीत, ऋतु गीत, भक्तिपरक आदि गीतों की प्रचलित धुनों पर भिखारी ने गीत रचे। पूर्वी, कजरी, बारहमासा, चैती, फाग, बिरहा, निर्गुण, झूमर, जँतसारी, सौरठी, लोरिकायन, आल्हा, पचरा (देवी गीत), चौबोला, दोहा, खेमटा, सवैया, कवित्त तथा चौपाई आदि लोकप्रिय धुन और छंदों का प्रयोग भिखारी ने अपने नाटकों में यथास्थान किया है। वाद्य यंत्रों में—ढोलक, हारमोनियम, मजीरा, झाल, खरताल तथा नगाड़ा आदि का प्रयोग प्रमुखता से होता है।



रानावि के प्रथम वर्ष के छात्र ***बिदेसिया*** *में*

भिखारी ठाकुर के रंगप्रयोग को विद्वानों ने बिदेसिया शैली / नाट्य कहा है। यह नामकरण तो रूढ़ हो चला है, लेकिन विभिन्न सभा गोष्ठी और मंच पर इस विषय पर बहस-विमर्श चल रहा है। विवाद तब अधिक गहराया, जब प्रसिद्ध रंग निर्देशक और अभिनेता सतीश आनंद ने अपने रंग प्रयोग को *बिदेसिया* कहा। सतीश जी ने बिदेसिया शैली में *अमली, माटी गाड़ी, मैला आँचल* आदि नाटकों की सफलतम प्रस्तुति की। भिखारी ठाकुर का *बिदेसिया* नाट्य लोकनाट्य के शिल्प में सृजित है, जिसमें सूत्रधार, बिदूषक (लेबार), समाजी, गायन-वादन मंडली, आदि के सहारे नाट्य प्रस्तुति की जाती है। सतीश जी के बिदेसिया शैली में नट-नटी, सूत्रधार बिदूषक, समाजी, गायन-वादन मंडली है। सिर्फ़ नट-नटी को छोड़कर अन्य सभी भिखारी के नाट्य प्रयोग में भी हैं, केवल भिखारी ही क्यों? लगभग तत्कालीन सभी लोकनाट्यों में किसी-न-किसी रूप में उपस्थित है। लेकिन सतीश जी का नाट्य प्रयोग न लोकनाट्य है और न ही केवल लोकनाट्य शैलियों के शिल्प पर आधारित है। सतीश जी की 'बिदेसिया' शैली एक आधुनिक रंग प्रयोग है, जहाँ तमाम लोक विधाओं; गीत, नृत्य, नाट्य को नाटकीय संप्रेषण बढ़ाने के उपकरण के रूप में प्रयोग में लाया गया है। भिखारी के बिदेसिया नाट्य में अधिकांश संवाद गीतों की कड़ियों में है। सतीश जी ने लोकगीतों और नृत्यों का प्रयोग नाटकीय अनुभूति को सघन और तीव्र बनाने के लिए, गद्य संवादों के बीच किया है। यह तुलना इसलिए की गई है, कि दोनों ही रंगशिल्प के प्रयोगों को अलग-अलग समझा जा सके। दोनों ही प्रयोगकर्ताओं का रंग अन्वेषण मौलिक है। भिखारी ठाकुर ने अपनी पूर्व परंपरा का समावेश अपने नाट्य प्रयोगों में किया है। सतीश जी के प्रयोगों में भी लोक परंपराएँ उपस्थित हैं, जिसके केन्द्र में बिहार की अन्य नाटकीय लोकविधाओं के अलावा भिखारी ठाकुर और बिदेसिया नाट्य भी है। बल्कि इस तरह के प्रयोग से मौलिकता का रंग कभी फीका नहीं होता। सतीश जी के प्रयोग से भिखारी ठाकुर की लोकप्रियता अंचल से बाहर देशभर में बढ़ी, कारण दूसरे भी रहे, लेकिन यह तथ्य भी अस्वीकार करने योग्य नहीं है। बिहार के दूसरे प्रतिभावान निर्देशक संजय

उपाध्याय, पिछले दस वर्षों से भिखारी ठाकुर के *बिदेसिया* नाटक का मंचन आधुनिक शिल्प विधान के साथ करते आ रहे हैं।

आज भी भिखारी ठाकुर के नाटक की लोकप्रियता कम नहीं हुई है। भिखारी के बाद उनके नाट्य दल को चलाने वाले कोई सुयोग्य उत्तराधिकारी नहीं है, फिर भी यह हैरत की बात है कि आज भिखारी ठाकुर को गुज़रे तीस वर्ष हुए, उनका नाट्य दल बिखरा नहीं है। उनके पुराने सहयोगी बिदेसिया नाटकों का प्रदर्शन कर रहे हैं।

संदर्भ-सूची

1. *परंपराशील नाट्य*--जगदीशचन्द्र माथुर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, वर्ष 1959
2. *लोकनाट्य परंपरा और प्रवृत्तियाँ*--डॉ. महेन्द्र भानावत, भारतीय लोककला मंडल, उदयपुर
3. *भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन*--डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, काशी
4. *भोजपुरी भाषा और साहित्य*--डॉ. उदयनारायण तिवारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना
5. *भोजपुरी ग्राम्य गीत*--डब्लू.जी. आर्चर
6. *पूर्वांचलीय लोकनाट्य परंपरा में 'नटुआ नाच'* : अध्ययन और विश्लेषण--डॉ. ओमप्रकाश भारती, शोध प्रबन्ध, पटना विश्वविद्यालय, पटना, 1996
7. *भिखारी ठाकुर*--वी.पी. द्विवेदी, इलाहाबाद, 2000
8. *बिदेसिया-वर्ग के भोजपुरी लोकनाट्य*--डॉ. सुरेश तिवारी; परिषद् पत्रिका, पटना, अप्रैल 1986
9. *भिखारी बड़ा नाटक*--भिखारी ठाकुर, दूधनाथ पुस्तकालय, कलकत्ता से प्रकाशित
10. *बिहार की लुप्त होती नाट्य परंपराएँ*--डॉ. ज्योतिष जोशी, *आजकल*, जनवरी, 1993, नई दिल्ली
11. *कृति-आकृति*--डॉ. ज्योतिष जोशी, नई दिल्ली
12. *नाट्य भारती*--संपादक डॉ. ओमप्रकाश भारती, त्रैमासिक नाट्य पत्रिका, वर्ष 1991, पटना अंक-1
13. *बिदेसिया*--प्रो. बद्रीनारायण, उत्तर मध्य क्षेत्र, सांस्कृतिक केन्द्र, इलाहाबाद, 2005
14. *पुरुखों की याद में सरनामी*--शूरवीर, पत्रिका, हेग, नीदरलैण्ड, 1986
15. *सतीश आनंद*, निर्देशित नाटक *अमली* की स्मारिका
16. *हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका*, प्रयाग, लोक संस्कृति अंक
17. *Drama in Rural India*–J.C. Mathur, Asia Publishing House, New Delhi, 1964
18. *Bhojpuri Culture and Songs*–Saritha Budhoo, Mauritius
19. *Bengal under Leitutenant Governors*–C.E. Buckland, Delhi, 1863
20. *Social Background of Indian Nationalism*–Prof. A.R. Desai, ICHR, New Delhi.

ओमप्रकाश भारती : लोककलाओं के अध्येता। लोकनाट्य, गीत, गाथा, कला आदि विषयों पर महत्वपूर्ण शोध लेखन। पूर्वोत्तर भारत के प्रायः सभी प्रदेशों का भ्रमण और वहाँ की विविध कलाओं पर गवेषणा। अद्यतन पुस्तक *नदियाँ गाती हैं*। लोकनाट्य विश्वकोश के लिए भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय संस्कृति फेलोशिप। संगीत नाटक अकादेमी में कार्यक्रम अधिकारी (नाट्य) हैं। दिल्ली में रहते हैं।

मैथिली लोकरंग में *सलहेस*

महेन्द्र मलंगिया
मैथिली से अनुवाद : प्रकाश चन्द्र झा

रात के आठ बज रहे हैं। लोग अपने अपने घरों से निकलकर गाँव से सटे स्कूल के मैदान की ओर चले जा रहे हैं। बड़े-बूढ़ों से अधिक तो आधे-पूरे घूँघट की हुई महिलाएँ एवं बच्चे ही हैं। आज लक्ष्मण पार्टी द्वारा सलहेस नाच किया जाएगा। सलहेस मिथिला में व्याप्त प्रायः सभी लोकनाट्यों में सर्वाधिक लोकप्रिय लोकनाट्य है। नायक राजा सलहेस के नाम पर ही इस लोकनाट्य का नाम *सलहेस* रख दिया गया है। वैसे मिथिला में गाथा गायन की परंपरा में भी सलहेस ही गूँजता है।

इस घोंघौर गाँव में एक लाउडस्पीकर भी है गंगाराम राय जी का। वह शाम से ही गनगना रहा है फ़िल्मी धुनों के साथ। ठीक नौ बजे रात को नगड़ची ने नगाड़े पर चोट दी है। नगाड़े की आवाज़ के साथ ही गाँव के लोगों में भी तेज़ी दिखाई देने लगी है। जो जैसे हैं वैसे ही चल पड़े हैं। माइक पर तेज़ ध्वनि सुनाई देने लगी है—'आज की रात आपके सामने लक्ष्मण पार्टी का नाच सलहेस खेला जाएगा।' कुछ ही घंटों में आधा मैदान लोगों से भर गया है। लोगों ने खुद ही औरतों के लिए अलग व्यवस्था कर दी है। चबूतरानुमा परमानेंट मंच बना है। गाँव का कोई भी व्यक्ति इस नाच के लिए अपनी चौकी देने को तैयार नहीं होता है। कारण, इसके अभिनेता इतना उछलते-कूदते हैं कि चौकी ही टूट जाती है। यही कारण है कि कुछ लोग इसे *चौकीतोड़ा नाच* कह कर परिहास भी करते हैं। पीछे से बाँस के सहारे एक पर्दा लटक रहा है जिस पर एक भाग में जंगल है तो दूसरे भाग में राजमहल भी बना है। उसके ठीक आगे बैठे हैं पहले नम्बर पर हारमोनियम वाले अपनी कुर्सी लगाए हुए। हारमोनियम में पैर से ही हवा यानी भाथी दी जाती है। यह सज्जन लगभग 45 वर्ष के हैं पर लगते हैं 60 के। उनके ठीक बाएँ बैठे हैं नगाड़े वाले। इन्हें कुछ ज़्यादा ही जगह चाहिए, कारण एक बड़ा नगाड़ा है और उसके साथ ही दो छोटे भी। और जब ये मस्ती में होते हैं तो ज़ोर से हाथ भाँजते हैं। उनके ठीक बाएँ हैं दो डुगडुगियाँ एकदम नगाड़े के जैसी ही पर बहुत छोटी, जिसे बड़ी कमाची से बजाया जाता है। इनके लिए पीछे आग की व्यवस्था भी है क्योंकि बीच-बीच में इन्हें गरम भी करना होता है। आवाज़ तो ज़रा सुनिए क्या नगाड़े की मोटी तो इनकी पतली, पर, फ्रिक्वेंसी में 'हम किसी से कम नहीं।' उसके बाएँ हैं पिपही लेकर बैठे सज्जन और दूसरे छोर पर सूट-बूट में खड़े हैं पार्टी के लीडर लक्ष्मण अपनी कारॅनेट लेकर। ये बैठते नहीं हैं। साजिन्दों के आगे है ख़ाली मंच, जिस पर अभिनेता आने वाले हैं। मंच तो तीनों ओर से खुला है। सामने है अपार भीड़। शांत रहने के लिए कोई इंस्ट्रक्शन नहीं, लोग स्वयं ही एक दूसरे को शांत कर रहे हैं। किसी को कोई तनाव नहीं है, सभी ज़मीन पर अपनी बोड़ी (बिछौना) खुद लाकर बैठे हैं। पीछे अगल-बगल में एक-दो दुकानें भी सज गई हैं। कुछ पान की तो कुछ मुरही-कचरी और झिल्ली की भी हैं। मिथिला के लोग पान खाने में माहिर हैं ही। नाच भी देखेंगे और साथ में पान भी चलेगा।

ज़ोरदार संगीत बज उठा है। अंत में नगाड़े की चोट के साथ ही छः महिलाएँ मंच पर भड़कीली रंगों की साड़ी पहने आ गई हैं। भई, यह ऊपर से महिला दीखती ज़रूर है, पर है तो सभी के सभी पुरुष ही। हाँ, बाल सबके असली ही हैं। ये अपने बाल को नाच के कारण कभी नहीं कटाते हैं। शुरू हो गई है प्रार्थना जिसे सुमिरन कहते हैं। यह चलेगी अभी लगभग 15-20 मिनट।

सुमिरन सुमिरन सुमिरन हम करै छी,
छप्पन कोटि देव के हम सुमिरन करै छी यौ।।
पुरुब सुमिस करै छी ऊगल सुरुज के,
जिनकर चढ़ौना चढ़ै दुधबा के धार ने यौ।।

XXX XXX XXX

सलहेस नाट्य के संवाद में उर्दू के काफ़ी शब्द हैं जैसे हुकुम, हाज़िर, मुसाफ़िर आदि। इससे लगता है कि यह बहुत प्राचीन नहीं है। इसका एक कारण यह भी है कि मिथिला का सबसे प्राचीनतम ग्रंथ, जिसे आप शब्दकोश भी कह सकते हैं, वह *वर्णरत्नाकर* है। उसमें कहीं भी सलहेस नाम नहीं आया है। *वर्णरत्नाकर* की रचना लगभग 1344 में हुई थी। इससे लगता है कि सलहेस निश्चित ही इसके बाद का है।

सुमिरन तो ख़त्म हो गया, अब शुरु हुआ है—प्रमुख पात्र यानी नायक सलहेस का परिचय वह भी गीत में ही।

हमरो जे घर यौ पंचम, राज महिसौथामे छै।
तीन भाइके भैयारी हमरा, महिसौथामे लगै छै ने हो।।
हमरो जे नाम यौ पंचम, राजा सलहेस छै।
मझिलाके नाम छै, मालिक मोतीराम दुलरूआ ने हो।।
छोटकाके नाम, मालिक बौआ बुधेसर लगै छै।
हमरो जे सौख यौ पंचम फूल-गूल लगाबै के छै ने हो।।

XXX XXX XXX

गीत में ही गा कर कह दिया जाता है—सलहेस महिसौथा के राजा हैं। उसे तीन भाइयों की भैयारी है जिसमें मँझला तथा छोटका दोनों का नाम क्रमशः मोतीराम और बुधेसर है। सलहेस की एक बहन भी है जिसका नाम बनसपती है तो उसके बेटे यानी सलहेस के एकमात्र भाँजे का नाम करिकन्हा है। ये सभी दुसाध जाति के हैं। सभी पात्र बारी-बारी से मंच पर आ रहे हैं और गाकर ही अपना परिचय दे रहे हैं। सुमिरन के बाद परिचय का सिलसिला चला है। अभी तो नाट्य का कथ्य शुरू भी नहीं हुआ है। रात के ग्यारह बज रहे हैं। थोड़ी ठंड बढ़ रही है, पर, लोग तो मुग्ध हैं। भरा हुआ मैदान बिलकुल ख़ामोश होकर सुन और देख रहा है। बच्चे अपनी माँ या दादी की गोद में नींद से बार-बार गिर रहे हैं।

नगाड़े पर ज़ोर की चोट पड़ी है। सभी बच्चे चौंक पड़े हैं। चोट के साथ ही तरेगनागढ़ के राजा महेश्वर भण्डारी मंच पर उछल रहे हैं। इन्हें चार बेटियाँ हैं—रेशमा, कुशमा, दौना और फुलवन्ती। मालिन जाति की हैं, पर, प्रेम करती हैं सलहेस से। ये सभी सलहेस को पाने के लिए तरह-तरह की चाल चलती हैं। कभी सलहेस को सुग्गा यानी तोता बनाकर अपने पास

रखती हैं तो कभी खुद ही भौड़ा यानी भमड़ा बन कर मानिकदह में जाकर सलहेस को पकड़ती हैं। इस तरह प्रेम का चोरा-नुक्की चलता रहता है।

अब कहानी में ट्विस्ट आया है। लोग भी सतर्क हो गए हैं। सलहेस की शादी बनाटपुर के राजा की बेटी सतवर्ती (सत्यवती) से तय हो गई है। विवाह रोकने की वजह से मालिन बेटियों ने विवाह के समय ही सलहेस का अपहरण कर सुग्गा (तोता) बना कर रख लिया है। पर, मोतीराम अपने प्रभाव से भाई सलहेस को छुड़ाता है। पुनः उसी उल्लास के साथ सलहेस की शादी करवाता है।

कुछ ही दिन बाद द्विरागमन (गौना) का दिन रखा जाता है। इसकी सूचना लेकर सबसे पहले एक नाई को बनाटपुर भेजा जाता है। उसे बनाटपुर के राजा द्वारा बंदी बना लिया जाता है। उसके बाद मोतीराम और भांजा करिकन्हा निकल पड़ते हैं। बनाटपुर की घसबाहिनी (घास काटने वाली) दोनों को चोपहा चौड़ी में उलझा कर घमाउर खेल (एक प्रकार का खेल) खेलने लगती है। खेल-खेल में ही मोतीराम अपनी एक आँख गँवा बैठता है। अब मोतीराम क्रुद्ध हो उठता है। वह चार-चार फ़ीट ऊपर उछल रहा है। अब बात समझ में आई है कि क्यों लोग इस नाच के लिए चौकी नहीं दिया करते हैं। मोतीराम का गुस्सा देख कर सभी घसवाहिनी भागती हुई अपने राजा के पास पहुँच जाती हैं। और उलटा शिकायत करती हैं कि महिसौथा राजा का दो आदमी चोपहा चौड़ी में घुस आया है और वह हमारी इज़्ज़त लुटने की कोशिश किया है। सुनते ही राजा क्रोध में काँपने लगता है। दोनों को पकड़ने के लिए सिपाही भेजता है। मोतीराम और करिकन्हा दोनों मिलकर सिपाहियों को मार-पीट कर वापस भेज देता है।

इन कलाकारों को कोई प्रशिक्षण नहीं मिला है, पर, ग़जब का आपसी को-रिलेशन है। जब चोपहा चौड़ी की बात आती है तो पात्र पर्दे पर बने जंगल की ओर आकर खड़े हो जाते हैं तथा जब राजा की बारी आती है तो पात्र पर्दे पर बने राजमहल भाग में खड़े होकर अभिनय करते हैं। प्रायः सभी संवाद पहले गीत में गाकर बोले जाते हैं फिर उनको गद्य में बोला जाता है। एक बात और देखने को मिल रही है कि पात्र जब गाते हैं तो उनका रुख दर्शक की ओर होता है, पर, संवाद बोलते वक़्त अपने सामने के पात्र से मुख़ातिब होते हैं। अब आगे की कहानी चल पड़ी है।

काफ़ी संघर्ष के बाद सलहेस का गौना हो पाता है। सलहेस आनन्द से अपना जीवन जीने लगता है। इस स्थिति को देखकर देवी दुर्गा चिन्तित हो उठती है। राजा सलहेस प्रकृति प्रेमी है। उसे फूल पत्ती अच्छे लगते हैं। उसने अपने लिए एक सुन्दर बगीचा बना रखा है, देवी दुर्गा सलहेस को स्वप्न देती है कि पकड़िया के राजा की फुलवारी बहुत ही सुन्दर है, तुम्हारे बगीचे से भी अच्छी। सलहेस निकल पड़ता है फुलवारी देखने पकड़िया की ओर। पकड़िया की राजकुमारी चन्द्रावती भी सलहेस को मन ही मन चाहती है। देवी दुर्गा उसे भी स्वप्न देती है कि—हे चन्द्रावती! जिस पुरुष के लिए तुमने पिछले बारह वर्ष से अपने आँचल में गाँठ देकर रखी है वह पुरुष कल तुम्हारी फुलवारी में आ रहा है। अब चन्द्रावती भी पागल हो उठती है।

XXX XXX XXX

भरि पोख देखबै गै मैया गोदी मे बैठबै,
आ जेना-जेना मोन हेतै तेना-तेना करबै।

(आँख भर देखुँगी, उसके गोद में बैठुँगी और दिल जैसा-जैसा कहेगा वैसा-वैसा ही करूँगी।)

कहानी में एक बार फिर मोड़ आया है। लोग उत्सुक हो रहे हैं। फुलवारी में सलहेस से चन्द्रावती का मिलन होता है। इस मिलन को इस अंदाज़ में प्रस्तुत किया गया है कि मन-ही-मन सभी दर्शकों को गुदगुदी लग ही गई होगी। चन्द्रावती सलहेस से अपने को पत्नी के रूप में स्वीकारने का आग्रह करती है, पर, सलहेस नहीं मानता है। वह अपने आप को विवाहित बताता है। चन्द्रा की लाख कोशिश के बाद भी जब सलहेस उसे नहीं स्वीकारता है तो वह ग़ुस्सा हो जाती है और अपने राजा पिता से यह शिकायत करती है कि—एक चोर फुलवारी में घुस आया है, और मुझे अकेला पाकर उसने मेरे साथ छेड़खानी की है। अभी दर्शक भी पशोपेश में हैं कि ये किधर जाएँ—निर्दोष सलहेस की ओर या फिर बेइन्तहा प्यार करने वाली सलहेस की प्रेमिका चन्द्रावती की ओर। सभी मुग्ध हो सोचने में लगे हैं।

अब तो सिपाही आ भी गया है। वह मज़ाकिया संवाद बोल रहा है। दर्शक भी जो कुछ ही समय पहले सोच में डूबे थे अब ठठाकर हँस रहे हैं। सलहेस को पकड़ कर सिपाही राजा कुलेश्वर के दरबार में ले आता है। राजा उसे जेल में बंद करने की सज़ा देना चाहता है। पर, चन्द्रावती सलहेस को अपने महल की रखवाली करने की सज़ा दिलवाती है। पहले इस महल की रखवाली मोकामा गढ़ के चुहरा के हाथ थी। अपने को हटाए जाने के कारण चुहरा नाराज हो जाता है। वह राजा कुलेश्वर से बदला लेने की ठान लेता है। अपनी प्रतिज्ञा को अंज़ाम देने के लिए चुहरा गंगा मैया की शरण में जाता है।

XXX XXX XXX

कुल करार माता तोरा स' हम करै छी,
सोना के चरखा माता तोरा हम चढ़ैबौ ने गै।
एक सय एक पाठी माता तोरा हम चढ़ैबौ,
खुशी मन स' पूजा माता तोहर हम करबौ ने गे।।

(हे मैया, मैं तुमसे करार करती हूँ, मैं तुम्हें सोने का चरखा चढ़ाऊँगी, एक सौ एक पाठी का बली चढ़ाऊँगी।)

गंगा मैया के आशीर्वाद से चुहरा मोकामा से पकड़िया तक सेंध बनाता है। इतनी लंबी सेंध एक गीत में ही बन कर तैयार हो जाती है। सेंध राजकुमारी चन्द्रावती के कमरे में जाकर निकलती है। सेंध से होकर चुहरा चन्द्रावती के कमरे में पहुँचता है और उसका सब कुछ चुरा लेता है यहाँ तक कि उसके बदन का कपड़ा तक उतार लेता है।

इस चोरी का दोष सीधा सलहेस पर लगता है। उसे फिर से जेल की सज़ा सुना दी जाती है। ऐसी स्थिति में फिर चन्द्रावती सलहेस से जाकर कहती है 'यदि आप मुझसे विवाह स्वीकार कर लें तो मैं आपको इस जेल के कष्ट से मुक्त करा दूँगी।' सलहेस पुनः अस्वीकार कर देता है। पर, राजा सलहेस की ऐसी दुर्दशा देखकर देवी दुर्गा चिंचित हो जाती है और सत्यवती तथा फुलवन्ती को इसकी सूचना पहुँचा देती हैं। दोनों आपस में विचार करने लगती हैं। सत्यवती से आज्ञा लेकर फुलवन्ती अपनी बुद्धि से किसी तरह पकड़िया के राजा तक पहुँचती है। राजा को अपने विश्वास में लेकर फुलवन्ती सलहेस को मुक्त कराती है, इस शर्त पर कि वह आठ दिन के अंदर असली चोर को पकड़ कर दरबार में हाज़िर करेगी।

अब सलहेस और फुलवन्ती क्रमशः नट-नटी का भेष धारण कर मोकमा पहुँचते हैं। कुछ ही

देर पहले यह मंच महिसौथा बना था फिर चोपहा चौड़ी बना, फिर बनाटपुर, उसके बाद पकड़िया और अब मोकामा भी बन गया है। मंच पर कुछ है भी नहीं तो परिवर्तन करने का सवाल ही नहीं उठता। सिर्फ़ संवाद बोल कर और स्थान परिवर्तन के समय गीत गाते हुए मंच पर एक दो चक्कर लगाकर कलाकार खुद के साथ दर्शकों को भी अपने मनचाहे स्थान पर लेकर चले जाते हैं।

फुलवन्ती चुहरा के महल के आसपास ही अपना तम्बू लगा देती है। वह गोदना के बहाने चुहरा के घर जाती है। चुहरा की पत्नी को गोदना गोदती है और इनाम में वही सब सामान लेती है जिसे चुहरा ने चन्द्रावती के घर से चुराया था। सामान तो बरामद हो गया। फुलवन्ती अब अपनी अगली योजना बनाती है। वह अपने सौंदर्य पर चुहरा को मोहित करती है।

हम त' पानबाली जनियाँ
हम त' पानबाली जनियाँ
हम त' मुस्केपर ठकली अठनियाँ
हम त' पानबाली जनियाँ।

XXX XXX XXX

एक शाम अपने तम्बू में उसे बुलाती है। यहाँ उसे ख़ूब दारू पिला कर नशे में धुत करने के बाद सलहेस के साथ मिलकर उसे रस्सी से बाँध कर अपने मोहना भैंसे पर लाद कर सामान सहित कुलेश्वर के दरबार में हाज़िर कर देती है। यह सब देख राजा सलहेस को चोरी के अभियोग से बरी कर देता है। दर्शक जो कुछ देर पहले राजा कुलेश्वर पर मन ही मन नाराज थे अब उसे गुणी मानने लगे हैं। राजा कुलेश्वर का पार्ट ख़त्म। पता नहीं अब वह फिर मंच पर किस रूप में आएगा।

सलहेस और फुलवन्ती चल पड़े हैं पकड़िया गढ़ छोड़कर। चन्द्रावती दौड़ कर रास्ता घेरती है। प्रार्थना कर रही है सलहेस से—मैं बचपन में ही आपको स्वीकार चुकी हूँ। अब मेरी जवानी भी ढलने लगी है। आप अपने चरण में मुझे थोड़ी-सी जगह देने की कृपा करें।—लोग भावुक हो उठते हैं। सलहेस प्रस्ताव अस्वीकार कर चल देता है। चन्द्रावती विलाप करती है। दर्शक मन ही मन चन्द्रावती की तरफ़ होने लगे हैं। सुबह के छः बज रहे हैं। जनरेटर बंद हो चुका है। नाच ख़त्म। लोग द्रवित हृदय से अपने-अपने घर की ओर चल पड़े हैं।

इस सलहेस नाच में कई पात्र हैं—सलहेस, मोतीराम, बुधेसर, करिकन्हा, मंगला नौकर, मंगरू हजाम, अन्हेरबाँट, राजा बनाट, सत्यवती, रेशमा, कुशमा, दौना, फुलवन्ती, कुलेश्वर, चन्द्रावती, मंत्री, चुहरा, सिपाही, चुहरा की पत्नी, भतपेलुआ, दुर्गा, कमला, हीरामन सुग्गा, मोहना भैंसा, साथ मेम, कुछ घास काटने वाली और कुछ सिपाही। कहीं-कहीं सत्यवती को मोरंग वाली भौजी के नाम से भी पुकारा जाता है। इसी तरह चारों मालिन बहनों में भी मत भिन्नता है। कहीं कुशमा को, कहीं दौना को, तो कहीं फुलवन्ती को सलहेस की मुख्य प्रेमिका माना जाता है। नाच पार्टी यानी नाट्यदल के बदलने पर इसकी प्रस्तुति में भी थोड़ी भिन्नता देखने को मिलती है। जैसाकि हम ऊपर भी उल्लेख कर आए हैं, सलहेस नाच में कई स्थानों का ज़िक्र आता है—जैसे महिसौथा, बनाटपुर, चोपहा चौड़ी, मानिकदह, तरेगना गढ़, कुलेश्वर का बगीचा, दरबार आदि।

बहरहाल, पूछने पर पार्टी के लीडर लक्ष्मण ने बताया है कि 'साब, क्या करता एक ही रात का साटा था इसीलिए ख़त्म करना पड़ा वर्ना यह तो कम से कम एक सप्ताह का नाच है।'

जो हो, अब इसके शिल्प, कथ्य, वेशभूषा, प्रस्तुति पर शोधकर्ता विमर्श करते रहें—गाँव के लोगों ने रात भर जाग कर नाच देखा और चल दिए हैं। लक्ष्मण को भी कल खेती के लिए जाना है।

महेंद्र मलंगिया : मैथिली के सुपरिचित नाटककार एवं रंगनिर्देशक। मैथिली लोकसाहित्य पर गंभीर शोध आलेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। मैथिली में 13 नाटक, 21 एकांकी, 12 नुक्कड़ एवं 6 रेडियो नाटक प्रकाशित एवं आकाशवाणी से प्रसारित हैं। *मैथिली एकांकी संग्रह का संपादन* (साहित्य अकादेमी से प्रकाशित)। संप्रति मैथिली लोकनाट्यों के शोध कार्य में जुटे हैं। मधुबनी में रहते हैं।

ठुमरी गाथा

ठाकुर जयदेव सिंह
अंग्रेज़ी से अनुवाद : व्योमेश शुक्ल

*[संगीत पारखी और चिंतक ठाकुर जयदेव सिंह का यह लेख काशी के सांस्कृतिक अतीत और वर्तमान पर केन्द्रित और बृजपाल दास रमादेवी फाउंडेशन द्वारा प्रकाशित पुस्तक **स्मृति** से लिया गया है। अंग्रेज़ी से इस लेख का अत्यंत बोधगम्य और सरस अनुवाद किया है व्योमेश शुक्ल ने और यह उन्हीं के सौजन्य से हमें प्राप्त हुआ है। लेख में ठुमरी और नाट्य के अंतरसंबंध का भी विवेचन है।—संपादक]*

ठुमरी नृत्य-संगीत का एक रूप है और अभिनय उसका एक अपरिहार्य घटक। यहाँ *नृत्य* शब्द का इस्तेमाल मैंने समझ-बूझ कर किया है, क्योंकि संसार की किसी भी भाषा में इसका अनुवाद नहीं हो सकता। और इस तरह *नृत्य* और *नाट्य* के साथ इस शब्द के भी अर्थ को अलग-अलग पहचाना जा सकेगा। लय और ताल पर आधारित पद्धति-विशेष की देह-मुद्राएँ और गतियाँ ही नृत्त हैं। *नृत्य* में पूर्वोक्त तत्वों के साथ अभिनय भी शामिल हो जाता है। अभिनय का मतलब समझिए कि भाव और रस का संचार। *नाट्य* ऐसा अभिनय है जो लय और ताल के बग़ैर संभव होता है। *नृत्त* में गीत या अभिनय नहीं वरन् लय और ताल पर आधारित स्थिर और गतिमान मुद्राएँ होती हैं। जब गीत और अभिनय इसमें जुड़ जाते हैं, यह *नृत्य* हो जाता है। इस तरह *नृत्य* के लिए आवश्यक तत्व हुए—(1) ताल-आधारित मुद्राएँ और गतियाँ, (2) गीत और (3) अभिनय। *नाट्य* में भी अभिनय होता है, लेकिन वहाँ वह ताल के साथ संयुक्त नहीं होता। *नृत्य* और *नाट्य* में अभिनय के तरीक़े भी अलग-अलग होते हैं। गीत की बजाय संवाद—जो प्रायः गद्यरूप में होता है, *नाट्य* के लिए अपरिहार्य है। ऐसे संवाद, जाहिर है कि नाट्यगत चरित्रों के होते हैं। प्रभाव को उज्ज्वलतर बनाने के लिहाज से *नृत्त* और *नृत्य, नाट्य* में भी इस्तेमाल हो सकते हैं। *नृत्य* नाट्य का अन्तस्तत्व नहीं है। *नाट्य* की प्रभाव-वृद्धि करने वाला एक 'अवांतर पदार्थ' है, और *नृत्त* भी नाट्य के अलंकरण के लिए इस्तेमाल होता है (शोभाहेतुत्वेन)। अंग्रेज़ी शब्द 'डांस' नृत्य का पर्यायवाची हो सकता है, लेकिन एक हीनतर पर्यायवाची ही—जो 'नृत्य' शब्द की व्यापकतर अनुगूँजों के साथ कतई न्याय नहीं करता। कुछ विद्वानों ने *नृत्य* शब्द के लिए विकल्प के तौर पर 'रिप्रजेंटेशन डांस' नामक पद सुझाया है। फ्रेंच भारतविदों ने भी *डांस कम्युनिकेते* को नृत्य जैसे वज़न वाले शब्द के तौर पर आजमाने की सलाह दी है।

भरत कृत *नाट्यशास्त्र* के चौथे अध्याय (पृ. 88, खंड एक, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज़) में इसका उल्लेख है कि शिव ने ब्रह्मा को बताया कि *नृत्य* का 'नाट्य' में इस्तेमाल कैसे हो! *महागीतेषु चैवार्थान सम्यगेवाभिनेष्यसि*। यानी इस (नृत्य) के जरिए तुम पूर्वरंग में गाए जाने वाले गीतों में निहित संवेदनतत्वों को भावक तक सम्प्रेषित कर सकते हो।

अभिनवगुप्त ने अपनी *अभिनव भारती* में 'कोहल' को उद्धृत करते हुए *नृत्य* की उत्पत्ति

की चर्चा की है :

संध्यायां नृत्यतः शम्भोर्भक्त्यार्द्रो नारदः पुरा।
गीतवांस्त्रिपुरोन्माथं तच्चितस्त्वथ गीतके।।
चकाराभिनयं प्रीतस्ततस्तण्डुं च सोऽब्रवीत।
नाट्योक्त्याभिनयेनेदं वत्स योजय ताण्डवम्।।

काफी अरसा पहले, एक शाम जब शिव नाच रहे थे, नारद सम्पूर्ण समर्पण के साथ दैत्य त्रिपुर के वध पर आधारित एक गीत उनके सामने गाने लगे। शिव के मस्तिष्क ने उस गीत का आभ्यंतरीकरण कर लिया, और वह इससे इतने प्रबुद्ध और अन्तःप्रकाशित हुए कि गीत की अन्तर्वस्तु पर विरल अभिनय किया (चकाराभिनयम्)। तभी उन्होंने अपने शिष्य तंडु से कहा कि भविष्य में तुम अपने नृत्य को अभिनय से जोड़ो ताकि गीत की विचार-वस्तु अभिनय के माध्यम से दूसरों तक पहुँच सके।

कोहल को प्रायः तीसरी या चौथी सदी का माना जाता है। नृत्य की उत्पत्ति का विश्लेषण करते हुए उन्होंने 'पुरा' शब्द इस्तेमाल किया है जो सुदूर अतीत का द्योतक है। इससे साफ़ पता लगता है कि नृत्य की एक लंबी परंपरा उस दौर के पहले भी वर्तमान थी।

नृत्य में तीन तत्व हैं : नाचना, गाना और अभिनय।

दशरूपक में साफ़-साफ़ लिखा हुआ है :

भावाभिनयहीनं तु नृत्तमित्यभिधीयते।
रस भावव्यञ्जनादियुक्तं नृत्यमितीर्यते।।

सिर्फ अभिनय ही नहीं, बल्कि कंठ और यंत्र, दोनों ही तरह के संगीत, नृत्य के अनिवार्य हिस्से होते थे। के.एम. वर्मा ने अपनी पुस्तक *नाट्य, नृत्त एण्ड नृत्य* में उचित ही कहा है :

'आगे यह रेखांकित होना चाहिए कि हर तरह का संगीत नृत्य के लिए आवश्यक है, जबकि वह नाट्य के लिए अपेक्षाकृत कम ज़रूरी या वैकल्पिक है।'

नाचने, गाने और अभिनय को स्वतः में शामिल कर लेने वाला नृत्य, पूर्वरंग और उपरूपकों में इस्तेमाल होता है, लेकिन एक स्वायत्त कला के रूप में भी उसकी प्रस्तुति होती है। इस जगह के.एम. वर्मा पुनः ठीक हैं : " 'उपरूपक' नृत्य की परिधि में संभव है। लेकिन 'उपरूपक' शब्द नृत्य की सारी संभावनाओं को खुद में नहीं समेटता। किसी गाने या पद का लघुतर हिस्सा भी यदि एक दी हुई तकनीक द्वारा अभिनीत या सम्प्रेषित होता है तो वह नृत्य है।

यह कला अपने रूप की स्वायत्तता के साथ विकसित हुई। इसका प्रमाण है कालिदास का नाटक *मालविकाग्निमित्रम*। कथा में राजा अग्निमित्र के दरबार में गंगादास और हरदत्त नामक दो शिक्षक थे। दोनों खुद को दूसरे से श्रेष्ठ समझते थे। मालविका और उसकी कला को देखने के लिए राजा उत्सुक था। मालविका को राजा के सामने लाने के क्रम में उन शिक्षकों को हटाना पड़ा, ताकि शिक्षकों की श्रेष्ठता का आकलन उनके शिष्य के प्रदर्शन की उत्कृष्टता से हो। मालविका लाई गई। कवि ने उसके बारे में कुछ यूँ कहा—(मालविका—उपगानं कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति)

दुर्लभः प्रियो मे तस्मिन भव हृदय निराशम्,

अहो अपाङ्गो मे परिस्फुटित किमपि वामकः।
एष स चिरदृष्टः कथमुपनेतव्यो,
नाथ मां पराधीनां त्वयि परिगणय सतृष्णाम्।।

यहाँ कवि जोड़ता है : 'ततो यथा रसभिनयति'।

उसने (मालविका ने) बतौर प्रस्तावना एक छोटी अल्पना गायी। उसके बाद एक रचना और, जिसके चार हिस्से थे। उसके बाद अपने गाए विप्रलंभ श्रृंगार-संबंधी पद पर उसने अभिनय किया। यहाँ पर *नृत्य* नाटक का हिस्सा नहीं था। वह एक स्वतंत्र प्रस्तुति थी। और गाने में निहित संवेदना को रस-संगत अभिनय के जरिए सम्प्रेषित किया गया था। नृत्य, गीत और अभिनय से संयुक्त मालविका का वह प्रदर्शन परिव्राजक के निम्नलिखित कथन से प्रमाणित होता है :

यथा दृष्टं सर्वमनवद्यम। कृतः—
अंगैरन्तर्निहित वचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु
शाखायोनिर्भृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव।।

मेरे देखे, उसकी प्रस्तुति बिल्कुल निर्दोष थी। क्यों? अर्थ या भाव के कारण। भाष्यकार ने उचित ही 'अर्थोगीतार्थ' कहा है। यहाँ अर्थ का आशय गाने में विन्यस्त भाव से है। गाने का भाव विभिन्न अंगों द्वारा कुछ यूँ व्यक्त हुआ मानो गीत का हर शब्द सदेह हो उठा हो। पद-संचालन संगीत-अंतरालों की कुशल संगति में था। स्वतः द्वारा व्यक्त रसों के साथ वह एकमेव हो गई थी। हाथों से किया गया उसका अभिनय बेहद सादा और आकर्षक था। अभिनय के अगले चरणों में संवेदना के विभिन्न स्तर अभिव्यक्त हुए थे, हालाँकि पूरी प्रस्तुति में मूल मनोभाव को सुरक्षित रखा गया था।

यह वर्णन इसका साक्ष्य है कि एक कलारूप ऐसा था जिसमें गीत के मूल मनोभाव को श्रोता तक पहुँचाने के लिए नृत्य और अभिनय का इस्तेमाल होता था। इसे नृत्य संगीत कहा जा सकता है। नाट्य के 'पूर्वरंग' और 'उपरूपकों' में यह प्रयुक्त होता था, और एक स्वाधीन कला के रूप में भी।

इस देश की संगीत-पद्धतियों में यदि नृत्य संगीत का पहले से एक समुज्ज्वल और गरिमामय स्थान न होता तो कालिदास कतई इस कलारूप का इतना विशद चित्रण नहीं करते। कालिदास के युग के संबंध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। यदि हम 400 ई. को उनका युग मानें तो कालिदास के समय में यह कला इतनी प्रतिष्ठित थी कि ऐसा माना जा सकता है कि उनके दो सौ साल पहले से वर्तमान रही होगी।

नृत्य या कहें कि अभिनय संगीत के दो प्रकार थे—मार्ग और देसी। ठुमरी संगीत की देसी कोटि में थी और उत्तर प्रदेश और बिहार में प्रभावी थी। यहीं से वह भारत के दूसरे हिस्सों में प्रसरित हुई। इसके प्रारंभिक रूप की जानकारी देने वाले प्रमाण अब हमारे पास नहीं हैं। लेकिन बीते दो सौ सालों से नृत्य और अभिनय के साथ सहयोगी गान के रूप में यह लगातार वयवहृत हो रही है। भाँडों, कथिकाओं, नाचनेवालियों और बैसों ने इसे ख़ूब गाया। प्रसंगवश, यह ध्यान

दिलाना आवश्यक है कि सही शब्द कथिका या कथक है, कत्थक नहीं। इन लोगों ने अपने-अपने नृत्य-रूपों के जरिए गा-बखान कर कथाएँ कहीं, इसलिए कथक या कथिका कहलाए। कथिका यानी कथावाचक। ये दोनों शब्द आपको आप्टे कृत संस्कृत-अंग्रेज़ी कोश में मिलेंगे। ये शब्द कथ से पैदा हुए जिसका अर्थ है कथा कहना। ज़ाहिर है कि पान में खाए जाने वाले कत्थे से इसका कोई संबंध नहीं। ऐसे ही भाड़ भी मूलतः संस्कृत शब्द भांड से निकला जिसका अर्थ होता है मसखरापन या दिल्लगी। ये बेहद पुरानी संस्थाएँ हैं, और इनकी उत्पत्ति के सूत्र कतई लखनऊ के नवाब वाज़िद अली शाह के यहाँ नहीं मिलते, जैसा कि कुछ विद्वान दावा करते हैं। वह (वाज़िद अली शाह) उन्नीसवीं सदी में दृश्य में आए और 1856 में कलकत्ता भेज दिए गए। उन्होंने निश्चित रूप से इन कलाओं को संरक्षण दिया और संभवतः इनके विकास में भी योगदान दिया। वह खुद ठुमरी के बेहद अच्छे कंपोज़र थे।

कुछ विद्वानों का मानना है कि ठुमरी *ठुम* शब्द से निकली है। ठुम का मतलब नृत्य की पदगतियाँ। वैसे, इस शब्द की उत्पत्ति चाहे जहाँ से हुई हो वह नृत्य और अभिनय से शुरू से जुड़ी हुई है।

ठुमरी दो तरह की होती है—(1) बोल बाँट की ठुमरी, जो बंदिश की ठुमरी नाम से प्रसिद्ध है, और (2) बोल बनाव की ठुमरी।

बोल बाँट की ठुमरी विशेषतः नृत्य के अनुकूल ढली। इसका सौन्दर्य इसकी लयगत भिन्नताओं और छलांग में होता है। यह एकाधिक संगतकारों द्वारा मध्य या द्रुत लय में नर्तक के लिए 'अभिनय' के दौरान गाई जाती है।

मैं कुछ उदाहरण देना चाहूँगा। पहला उदाहरण राग ख़माज की बंदिश 'कोयलिया कूक सुनावे' का है। अभिनय की सुविधा के लिए इसके पाँच हिस्से किए गए हैं। पहला हिस्सा है 'कोयलिया कूक सुनावे'। नर्तक अपने कल्प-संसार में एक कोयल बनकर वृक्षस्थित अपने ठिकाने पर बैठ जाता है और अपने दूहरी परत वाले गले से गाता-गुनगुनाता है और नृत्य में पूर्वोक्त विचार का ही अभिनय करता है। 'सखि रे मोहे विरह सतावे' दूसरा हिस्सा है। इस हिस्से में वह प्रेमी से विरह की टीस के अनुभव का अभिनय करता है। तीसरा हिस्सा है 'पिया बिना कछु ना सुहावे'—प्रेमी के बिना मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। इस हिस्से में अभिनय के ज़रिए हताशा को व्यक्त किया गया है। चौथा खण्ड हुआ 'निशि अंधियारी कारी बिजरी चमके'। यह हिस्सा भी समुचित अभिनय द्वारा व्यक्त किया जाता है। अंतिम हिस्सा जियरा मोरे डरपावे भी ऐसे रचा-बुना गया है कि अंतर्वस्तु में निहित भय व्यक्त हो।

इस तरह की ठुमरी का दूसरा उदाहरण राग काफ़ी में निबद्ध 'जानी जानी तेरे मन की बात' है। इसे मध्य लय में गाते हैं। यह ठुमरी भी नृत्य और अभिनय के हिसाब से ढली। यह सितार की गति की तरह है।

यहाँ एक और उदाहरण राग भैरवी की ठुमरी 'कैसी ये भलाई रे कन्हाई' का दिया जा सकता है। यह छोटा ख्याल और ठुमरी दोनों ही तर्जों पर गाई गई।

लयगत प्रभाव को इस तरह की ठुमरी का आधार-भवन कहेंगे। ऐसे ही संगीत के लिए सुसैन लैंगर ने अपनी किताब *फीलिंग एण्ड फॉर्म* में लिखा है : 'संगीत समय को श्रव्य बनाता है और उसका रूप और उसकी निरंतरता संवेदनशील बनाती है।' अब हम 'बोल बनाव की ठुमरी' पर आते हैं। बोल यानी गाने के शब्द और बनाव यानी बोल की रचावट। बोल बाँट की ठुमरी में अभिनय शुरू से अंत तक, लगातार होता है, जबकि बोल बनाव की ठुमरी में अभिनय अंत में,

यानी तब उभरता है जब 'लग्गी' शुरू होती है और लय अंत की ओर होती है।

ध्रुपद और खयाल स्वर प्रधान गायकी है। स्वर प्रधान गायकी यानी ऐसी गायकी जिसमें स्वरों और स्वरलिपियों को ज़्यादा और बोल यानी शब्दों को कम महत्व देते हैं। ठुमरी बोल प्रधान गायकी है। यहाँ बोल का प्राधान्य होता है और गाने के संवेदना-तत्वों को उभारने के लिए स्वरों को मोड़ा, घुमाया, लपेटा और अदल-बदल दिया जाता है। गाने के काव्यगुण ही उसका माधुर्य संभव करते हैं। भाव का संप्रेषण करने के लिए झटका, खटका, गिटकिरि, भीड़, दादरा और पुकारा जैसी गान-युक्तियाँ काम में लाई जाती हैं। ये सारी युक्तियाँ संगीत शास्त्र के दो सरल शब्दों—गमक और काकू के अंतर्गत आ जाती हैं। प्रायः इस तरह की ठुमरी में निहित विचार तत्व को और पुष्ट करने के लिए बीच-बीच में उसी आशय के दोहे, सवैये और कविताएँ गाई जाती हैं।

इनमें से कुछ चीज़ों को राग खमाज में निबद्ध ठुमरी 'कासे कहूँ जी की बतियाँ' में देखा जा सकता है। भाव संचार इस तरह की ठुमरी का अनिवार्य लक्षण है। यह स्वरों की जगह में फेरबदल से संभव किया जाता है। यहाँ राग तिलक का मोद में निबद्ध एक गाने को, जो पंडित भातखंडे कृत *क्रमिका* के तीसरे खण्ड से लिया गया है, मैं पुस्तक में दी गई स्वरलिपि के साथ पुनः प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह सामान्यतः छोटे ख़याल में गाया जाता है।

सा	*ग रे*	*ग रे*	
नि प नि सा	*रे ग रे प*	*भ ग रे सा दे*	*भ ग सा नि*
दु ख वा में	*का से का*	*हूँ—मो री*	*स ज नी*
र	*0*	*3*	*x*
मा			
दे दे म प	*प प प नि*	*नि सा — रे*	*सा नि ध प*
त ड़ प त	*द प नि क*	*स जा — ता*	*जि या पि या*
र	*0*	*3*	*x*
	ग दे	*नि*	*प*
(भा) ग रे सा रे	*भ ग सा नि*	*सा नि ध म*	*ध प ध म*
बि न क ल	*ना ही प ड़े*	*ए का गा री*	*प ल छि न*
द	*0*	*3*	*x*
सा रे ने सा			
दु ख वा में			
द			

थोड़े से परिवर्तन से, इस गीत को उन्ही स्वरों की ठुमरी में बदला जा सकता है।

हमारे देखे, ठुमरी नृत्य और अभिनय से जुड़ा हुआ गाने का एक अंदाज़ है। अभिजनों और शास्त्रवादियों ने इसे हेय दृष्टि से देखा। पहले तो इसलिए कि इसने राग की शुद्धता का रूढ़ अनुकरण नहीं किया दूसरा कारण यह कि इसने नृत्य और अभिनय को अपना हिस्सा बनाया। यहाँ तक कि आजकल के ठुमरी गाने वाले भी, जो अब इसे बिना अभिनय के गाते हैं, कोई बीस साल पहले तक साभिनय गाते थे। शंभू महाराज, रसूलन बाई और सिद्धेश्वरी देवी द्वारा

संपूर्ण अभिनय के साथ ठुमरी के प्रदर्शन का मैं खुद गवाह हूँ।

बोल बाँट की ठुमरी आजकल चलन के बाहर हो गई है, क्योंकि इसकी अधिकांश रचनाएँ नृत्य के लिए बनी थीं, और बिना नृत्य के गाने पर वे स्वयं के विस्तार के लिए मुश्किल से ही कोई जगह छोड़ पाती हैं। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, अभिनय बोल बनाव की ठुमरी में भी होता था—उसके अंतिम हिस्से में, जब लग्गी शुरू होती थी। अब 'लग्गी' भी अभिनय से वंचित हो गई है। ठुमरी गायन की वर्तमान शैली उन महान कलावंतों की शुरू की हुई है जो ठुमरी में निहित भावसंचार की प्रकृत सामर्थ्य के कारण इसे गाना पसंद करते थे लेकिन नृत्य और अभिनय को साथ नहीं लेना चाहते थे।

उनका मानना था कि स्वरों के ललित इस्तेमाल के साथ रचना के समुचित गान से वे स्वयं श्रोताओं तक गीत का भाव तत्व पहुँचा देंगे, और इस तरह अभिनय ज़रूरी नहीं रह जाएगा। भैया गणपत राव, श्यामलाल खत्री और मौजुद्दीन खान प्रभृति कलाकारों ने ठुमरी को यह रुझान सौंपा। कुछ यूँ ही बोल बनाव की ठुमरी बची रह सकी है। यह एक तथ्य है कि इस अंदाज़ की ठुमरी ने हमारे संगीत को एक नया दीप्त पथ सौंपा है। ऐसी ठुमरी भावों की अभिव्यक्ति पर ज़ोर देती है। यह शैली भजनों और वाद्य संगीत में भी इस्तेमाल होती है। वहाँ इसे ठुमरी अंग से गाना या बजाना कहा जाता है।

ठुमरी संगीत का खालिस रूमानी अंदाज़ है। शास्त्रीय कला रूप के सौन्दर्य पर ध्यान देती है, जबकि रूमानी कला रूप में विन्यस्त अंतर्वस्तु के सौन्दर्य पर। प्रो. विलियम जेम्स ने *प्रिंसिपल ऑफ़ इकोनॉमिक्स* में बिलकुल ठीक कहा है—

"संश्लिष्ट सांकेतिकता, स्मृति-दृश्यों को जगा डालना, चित्रमय रहस्यों और अंधेरों से हमारी देह को उत्तेजित कर देने की क्षमता ही एक कलाकर्म को रूमानी बनाती है। शास्त्रबद्ध अभिरुचि इन प्रभावों को भड़कीला और अश्लील मानती है और आँख और कान से अनुभूत हो सकने वाले, नग्न, अलंकारहीन सौन्दर्य को वरीयता देती है। इसके उलट एक रूमानी दिमाग के लिए ऐसे संवेदनों से पैदा निरा-आकस्मिक सौन्दर्य रूखा और बेजान होता है।"

मुम्बई का एक फ़िल्म मेला : *मिफ़*

राजुला शाह

बम्बई अन्तरराष्ट्रीय वृत्त, लघु एवं एनिमेशन फ़िल्मोत्सव या छोटे में *बिफ़*—सबसे पहले इसका नाम सन् 1992 में सुना। उस वर्ष उसका दूसरा आयोजन था और पता लगा था कि हर वर्ष न होकर यह एक द्वैवार्षिक उत्सव था। अगले वर्ष का विकल्प न होने की सूरत में मैंने तुरत-फुरत मुंबई का टिकट कटा लिया था। और वह हफ्ते भर का आयोजन वास्तव में एक अविस्मरणीय अनुभव था। उस वर्ष जिन फ़िल्मों ने दिल-दिमाग़ को छुआ था वे आज भी कमोबेश ताज़ा हैं। तब सिनेमा के प्रति मेरे आकर्षण का पहला दौर था, न मैं फ़िल्मकार थी, न फ़िल्म प्रशिक्षु ही। किंतु यह आयोजन जैसे एक अद्‌भुत खोज थी। इन फ़िल्मों का वैसा खजाना कहीं और मिलना संभव नहीं था। और यह आज भी इस तरह का अकेला फ़िल्मोत्सव है जिसमें भारत के अलावा दूर पास के अनेक देश सम्मिलित होने आते हैं। पिछले वर्षों के दौरान मुझे चार दफ़े इसमें सम्मिलित होने का अवसर मिला है, और लगभग हर बार ही कुछ बहुत ही उत्कृष्ट रचनाओं की स्मृति लेकर लौटना हुआ है, जिनके बिम्ब और छवियाँ जब-तब मानस में कौंधते रहे हैं। इसमें कम अचरज है कि आज इसकी गिनती संसार के पहले पाँच महत्वपूर्ण फ़िल्मोत्सवों में हो रही है।

फ़िल्म्स डिवीज़न और महाराष्ट्र सरकार द्वारा आयोजित यह उनका प्रतिष्ठा आयोजन है, जो अब मुम्बई अंतरराष्ट्रीय वृत्त, लघु व एनिमेशन फ़िल्मोत्सव या *मिफ़* [मुंबई इंटरनेशनल फ़िल्म फ़ेस्टिवल फ़ॉर डाक्यूमेंटरी, शॉर्ट एंड एनिमेशन फ़िल्म] कहलाता है। फ़िल्म्स डिवीज़न ने 1948 में अपनी स्थापना से लेकर आज तक कई उतार-चढ़ाव देखे हैं। पर, रचनात्मक स्तर पर इसे मोटे तौर पर तीन व्यक्ति विशेषों के प्रेरणास्पद कार्यकालों में बाँटकर देखा जा सकता है—जे. एस. भावनगरी का दौर, एन.एस. थापा का दौर और वी.बी. चंद्रा का कार्यकाल। निर्माता-निर्देशक के तौर पर ये बहुत ही भिन्न तरह की शख्सियतें थीं, जिन्होंने सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक समयों के साथ अपने बिलकुल अलग, व्यक्तिगत संबंध स्थापित किए। फ़िल्म समीक्षक अमृत गांगर बताते हैं कि चंद्रा साहिब का स्वप्न था भारत का अपना एक स्वायत्त फ़िल्मोत्सव हो, जो देश-विदेश के सर्वोत्तम वृत्त, लघु और एनिमेशन फ़िल्मों का आईना हो सके। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि हमारे युवा को संसार का सबसे उत्कृष्ट और कल्पनाशील सिनेमा देखने को मिले, जो फिर उन्हें स्वयं उस स्तर का काम करने को भी प्रेरित करे। समझा जा सकता है कि कई शासकीय और अशासकीय अवरोधों से पार पाते हुए कैसे 1990 में पहला *बिफ़* आयोजित हुआ होगा, जो इस वर्ष अपने नवें संस्करण में प्रवेश कर गया।

इस बार भाव कुछ नया-पुराना था, चूँकि इस बार मैं एक दर्शक-श्रोता से अलग, एक फ़िल्मकार की तरह, अपनी फ़िल्म को लेकर इसमें सम्मिलित थी। पुराना इसलिए कि इस तथ्य के बावजूद इस हफ्ते भर लम्बे कुंभ में प्रवेश करते ही जैसे फ़िल्मोत्सव के उसी पुराने बुख़ार ने पकड़ लिया था। फ़िल्मों की लंबी फ़ेहरिस्त, सुबह से रात तक की व्यस्त दैनंदिनी और एक अजीब-सी बेचैनी में तीन सभागारों में भागते रहने का वही उत्साह कि इस महासागर में से



वियतनाम सिंफनी लेखक और निर्देशक रॉम जुब्रिशी (आस्ट्रेलिया)

सबसे ख़ास, सबसे प्रासंगिक फ़िल्मों को कैसे चुना जाए। और नया इसलिए कि दर्शक से अलग, एक रचनाकार के बतौर उस महासागर तट के मेले में जाने में भीतर एक धुकधुकी थी, जो अलग थी।

बहरहाल, इस बार के आयोजन में राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता खंडों में लगभग 130 फ़िल्में थीं जिनमें लघु-वृत्त और एनिमेशन शामिल थे। इसके अलावा कुछ ख़ास पैकेज थे जिनमें होमेज (श्रद्धांजलि) के तहत श्री भावनगरी, श्री थापा और चंद्रा साहब की भारत से, और स्कॉटलैंड से कवि फ़िल्मकार मार्गरिट टेट की फ़िल्में थीं। रेट्रोस्पॅक्टिव (सिंहावलोकन) के खंड में ब्रिटेन के सम्मानित फ़िल्मकार जॉन अकॉमफ्रा, फिनलैंड के लासी नौकरिनेन, जापान के साटो माकाटो और अमरीका की लीसा गोल्डमन की फ़िल्मों से एक चयन था।

इसके अलावा स्पेशल पैकेज के अंतरगत जर्मनी की कुछ हाइब्रिड फ़िल्म्स, सार्क फ़िल्मों से एक चयन, देश भर के फ़िल्म-मीडिया स्कूलों से एक चयन, ऑस्कर फ़िल्म्स, उत्तरपूर्वी फ़िल्मों से एक चयन, दूरदर्शन क्लासिक्स, अमरीकन कॉमेडी के मास्टर बस्टर कीटन की कुछ फ़िल्में और ईरान से स्वतंत्र फ़िल्मों का एक पैकेज।

इसी स्पेशल पैकेज में एक चयन क्रोएशिया के ज़ाग्रेब स्कूल से भी था जिसमें एक मिनट की अवधि से लेकर साढ़े सोलह मिनट तक की फ़िल्में थीं। ज़ाग्रेब क्रोएशिया की राजधानी है और इस नाम से स्कूल का आशय किसी वास्तविक स्कूल से न होकर एक शैली विशेष से है जो लगभग आधी सदी पूर्व 1956 में कलाकारों के एक मिश्रित समूह, जिसमें चित्रकार, कार्टूनिस्ट, फ़िल्मकार, संगीतकार शामिल थे, के साथ आकर जुड़ने से बना था। समीक्षकों ने इसकी कुछ विशेषताएँ लक्ष्य की थीं जिसने फिर इसे ज़ाग्रेब स्कूल की तरह पहचान दिला दी— ये फ़िल्में प्रायः लघु होती हैं और इनका लक्ष्य होता है बिना शब्दों के प्रयोग के बहुत गंभीर विषय का सरल व विनोदपूर्ण निरूपण। संगीत इसमें विशेष महत्व रखता है, मूल विचार बीज भी और डिज़्नी के कार्टून चरित्रों के विपरीत, पशु चरित्र लगभग अनुपस्थित। इस पैकेज को लेकर आईं वान्या को जब मैंने बताया कि इन फ़िल्मों से मेरा प्रथम परिचय अपने फ़िल्म स्कूल में हुआ था तो उन्हें बेहद अचरज हुआ, और फिर कारेल चापेक की कहानियों के प्रशंसक होने की बात सुनकर तो वे विश्वास ही नहीं कर पायीं। उनका भारत आने का यह पहला मौक़ा था और अपने छोटे से देश के प्रति यहाँ फ़िल्मोत्सव में ऐसा उत्साह देखकर वे चकित थीं।

एनिमेशन फ़िल्मों की कोटि में इस दफ़े नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ़ डिजाइन और उसके

बाहर काम कर रहे कुछ स्वतंत्र एनिमेटर्स की फ़िल्में भी थीं जो अत्यंत ही दिलचस्प और विचारोत्तेजक थीं। कहीं जीवन की क्षणभंगुरता को एक *बूँद* में समेटने का प्रयास था, कहीं एक तलवारबाज़ के कला कौशल का मर्म *स्वूश* में। इस बार *मिफ़* में आयोजित खुले सत्रों और सेमिनारों में यह चर्चा ज़ोरों पर थी कि किसी अन्य से पैसा लेकर फ़िल्म बनाने में और अपनी पूँजी से बनाने में क्या अंतर होता है—कमीशंड और नॉन कमीशंड फ़िल्मों के स्वभाव का अंतर। छात्रों का काम हालाँकि अधिकतर तो भारत में संस्थान द्वारा प्रायोजित होता है, किंतु देखें तो उसमें एक नयापन, खोज, कल्पनाशीलता के साथ स्वतंत्र होने की अद्‌भुत प्रतिभा होती है, जो इस बार के फ़िल्मोत्सव में खासतौर पर परिलक्षित थी। देश के विभिन्न फ़िल्म-स्कूलों—पुणे, कोलकाता, भुवनेश्वर, तमिलनाडु, जामिया आदि से छात्र-फ़िल्मों का एक चयन था, जिसमें ऐसे ही कुछ नए काम देखने को मिले। इस पूरे पैकेज में अक्सर ही वे फ़िल्में थीं, जिनमें विषय को पूरी स्वतंत्रता से उठाया गया था और उसको पूरे विस्तार में फैलाने-समेटने का जतन था। मसलन एन.आई.डी. के अमित शाह की फ़िल्म *हूँ* (गुजराती में मैं) में स्त्रियों का बेटी, पत्नी, माँ, भाभी, चाची की भूमिकाओं के भीतर से अपने को परिभाषित करने की प्रक्रिया में सहज ही अपने असली 'मैं' की पहचान का धीरे-धीरे उभरना था। वहीं दूसरी ओर कोलकाता के *सत्यजित राय फ़िल्म संस्थान* से जगन्नाथन कृष्णन की फ़िल्म *सिलेक्टिड फिक्शन* थी जो वृत्तचित्र के रूपाकार में कथानक की खोज का अद्‌भुत उदाहरण थीं। यह सुजोय नामक वास्तविक लेखक पर एक वृत्त था जिसमें सुजोय का लगभग लिखा जा चुका उपन्यास कम्प्यूटर से एक झटके में उड़ गया है और वह स्मृति के सहारे शब्द-शब्द उसे दोबारा जोड़कर खड़ा करने का प्रयास कर रहा है। इस 'सुनाने' के आरपार उपन्यास का अनुपस्थित चरित्र और उसके बारे में बात करते कई दूसरे चरित्र, और कथा के बनने की प्रक्रिया यानी रिकंस्ट्रक्शन। मुझे न जाने क्यों इसे देखते हुए पेरू के लेखक लोसा का *आंट जूलिया एंड द स्क्रिप्टराइटर* याद आया और निर्देशक से इसका जिक्र करने पर पता चला कि वास्तव में सुजोय उससे बहुत प्रभावित होकर ही अपना यह उपन्यास लिख रहे थे।

अंतरराष्ट्रीय व राष्ट्रीय फ़िल्मों की कोटि में बहुत भिन्न किस्म का काम था जिसके कारण देखने का एक सघन अनुभव निर्मित हो पाया। सबके बारे में बतलाना तो मुश्किल होगा पर सचिन कुंडेलकर, एम. एस. प्रकाश बाबू, किरणमयी, संघमित्रा, करमाकर, हितेश केवल्य, मुथुकुमार, मोनी भट्टाचार्जी, मधुरिता आनन्द, वरुण नर्वेकर, गीतांजलि राव आदि की फ़िल्में अपने चिर-परिचित आसपास में



अंडर दि सन : निर्देशक नीलांजन भट्टाचार्य



नैना जोगिन : निर्देशक प्रवीण कुमार

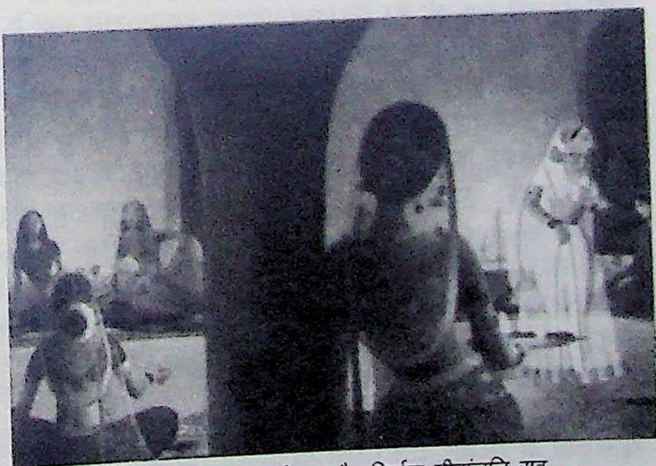
से कुछ नया ढूँढ़ने का बहुत ही सफल प्रयास थीं। इन्होंने एकबारगी फिर यह साबित किया कि फ़िल्म के लिए विचार और उस माध्यम के प्रति आपका पैशन बाक़ी सारे व्यवधानों के ऊपर रहता है। इनमें से अधिकतर निर्देशकों से बात करते हुए अपने काम, माध्यम के प्रति उनका विशेष लगाव, और पैशन स्पष्ट झलकता था। कईयों ने अपने स्वप्न को साकार करने के लिए धन जुटाने से अपने को अलग रखते हुए अपने ही पैसों से उसको अंजाम देना तय किया था। और यह स्वतंत्रता का वरण, उनके विषय और उसके निरूपण में परिलक्षित भी था। गीताजंलि राव की फ़िल्म *प्रिन्टिड रेनबो* बहुत ही नए कोण से कल्पित एनिमेशन फ़िल्म थी जो चर्चित रही। उसमें भारत की पारंपरिक मिनियेचर शैली का आधुनिक कथानक में बहुत ही प्रभावी समावेश था। एक लड़की किसी एक खंडहरनुमा पुरानी इमारत में घूमते हुए, गलियारों, आँगन, कमरों में से गुज़रती जाती है, और हर तरफ़ स्त्रियों का एक समूह है, गाते, बजाते, हँसते, हुक्का पीते आदि जो मिनियेचर शैली में एनिमेटिड छवियाँ हैं।

वहीं दूसरी ओर इसके विपरीत, आसपास बिखरे विषयों में सबसे ज्वलंत और प्रासंगिक विषयों की परख करती बहुत ही मुखर और स्पष्टवादी फ़िल्में भी थीं, जो इसी भारत को एक दूसरे कोण से देखने का प्रयास करती हैं। इनमें फ़िल्मकार का उद्देश्य ख़ासतौर पर हाशिये पर धकेल दिए गए कुछ समकालीन सरोकारों को पूरी ईमानदारी और संवेदनशीलता के साथ सामने लाना था।

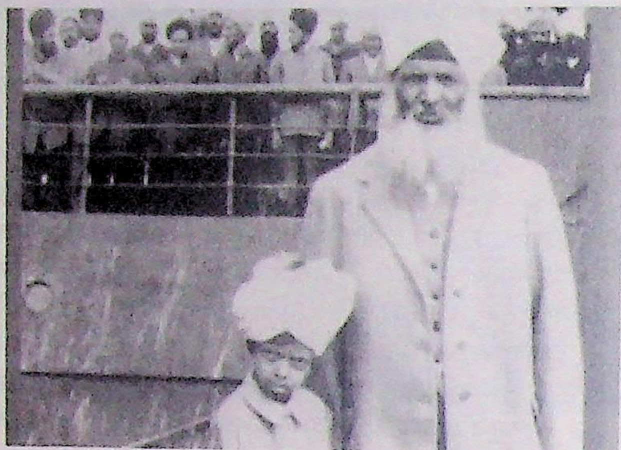
इनमें शामिल थी, हाओबाम पवन कुमार की फ़िल्म 'AFSPA 1958' जो मणिपुर में 2004 के घटनाक्रम और तनाव को जाँचने-परखने का अत्यंत ही प्रभावी प्रयास था, मधुबनी बिहार के पासवानों की पेंटिंग को अलग तरह से देखने और उसे भिन्न सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समझने-परखने का आग्रह करती प्रवीण कुमार की *नैना जोगिन,* पंजाब की दलित कविता के कुछ सूत्र पकड़ती और उसके कुछ व्यक्तिगत स्वरों को थामती अजय भारद्वाज की *कित्ते मिलवे वही,* समीरा जैन की समूची म्यूज़ियम संस्कृति को सवालिया घेरे में ला खड़ा करती, और उसके प्रचलित 'डिस्प्ले' या प्रारूपों के पीछे छुपी अनसुनी कथाओं की ओर इंगित करती *इफ़ यू पॉज़,* मसूद ख़ान और कमलजीत नेगी की *माइ ब्रदर माइ एनिमी* जो हिन्दुस्तान, पाकिस्तान की कंटीली सीमाओं के आरपार आपसी संबंधों के बदलते और न बदलते सुरों को पकड़ने का ईमानदार, सहज और पारदर्शी प्रयास थी, अली काज़िमी की *कन्टीनुअस जर्नी* जो भारतीय इतिहास के लगभग विस्मृत हिस्से गदर आन्दोलन का एक दुर्लभ दस्तावेज़ थी, जिसमें 1914 में 376 भारतीयों को भारत से कैनेडा ले जा रहा जहाज़ कोमागाटामारू की कथा थी, जिसे

कैनेडा ने अपने तट पर लंगर डालने नहीं दिया था। इसके अलावा यू.के. के माइकल योर्क की *होली मैन एंड फूल्स* थी जो उनके साधु-संगत में ऋषिकेश से गंगोत्री तक की दिलचस्प यात्रा का दस्तावेज़ था, जिसमें उनके मार्गदर्शक थे वशिष्ठ नामक रमते जोगी और उमा नामक एक स्वीडिश महिला जो पिछले पच्चीस वर्षों से इन कन्दराओं में आत्म की खोज में भटक रही है। निलांजन भट्टाचार्य की फ़िल्म *अंडर दिस सन* भी भारत के देशज ज्ञान और उसके पर्यावरण वैविध्य के संदर्भ से बनाई गई एक संवेदनशील फ़िल्म थी जिसमें दार्जीलिंग के इलाके के एक बुज़ुर्ग साफ़ शब्दों में कहते हैं कि जंगल विभाग और पर्यावरण विभाग मिलकर जंगल और पर्यावरण को नष्ट करने में केंद्रीय भूमिका निभा रहे हैं। वही *कोरा राजी* नाम से झारखंड के फ़िल्मकार बिजु टोप्पो की फ़िल्म एक बहुत महत्वपूर्ण विषय उठा रही थी। उसने इस तथ्य की ओर काफ़ी गंभीरता से ध्यान दिलाने का प्रयास किया है कि चाय पीते हुए हम क्या इस बारे में सोचते हैं कि इसके पीछे काम करने वाले लगभग अस्सी प्रतिशत आदिवासी हैं। पिछले 150 वर्षों से इन्हें मज़दूरों की तरह उत्तर-पूर्वी इलाक़ों में लगातार ले जाया जाता रहा है जो उनके लिए *भूटान* या *कोरा राजी* था। आज इन आदिवासी कामगारों की संख्या पचास लाख है। फ़िल्मकार का अपने पूर्वजों के यात्रा-पथ को खोजने का यह यात्रा-वृत्तांत अत्यंत ही सराहनीय प्रयास है। इसके अलावा बहुत-सी और प्रासंगिक फ़िल्में थीं, जिनके बारे में विस्तार से बतलाना कठिन है, जो ऐसी ही बिलकुल दूसरे और नए दृष्टिकोण से कही गई समानांतर कथाएँ थीं जो मुख्यधारा में सहज ही देखने नहीं मिल पातीं। कुल मिलाकर यह एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण फ़िल्मोत्सव था जिसमें बहुत तरह के सिनेमा के लिए जगह थी और उसके प्रभाव के आपके भीतर विस्तार पाने का अवकाश भी।

पुरस्कारों की सूची में यह अच्छी बात थी कि छात्र फ़िल्मकार अधिसंख्य थे और उसमें कुछ फ़िल्में तो निश्चित ही उन सम्मानों के काबिल थीं भी। किंतु कहीं गौर से देखने पर चयन में एकरसता और एक ख़ास तरह का झुकाव दृष्टव्य है। मौटे तौर पर यह भाव उपजता है कि कोई विषय विशेष उठाना सारा महत्व प्राप्त कर लेता है और उस विषय का निरूपण, उसे कैसे कहा जाना है, की शैली और रूपाकार रचने के प्रयास बहुत गौण हो जाते हैं। एक तरह से देखें तो जैसे उस विचार-बीज या आइडिया मात्र का होना ही प्रयाप्त होता है। इस 'पोलिटिकल करैक्टनैस' को मिलते आवश्यकता से अधिक महत्व के चलते कुछ बहुत दिलचस्प फ़िल्में छूट जाती हैं जिनमें विषय के अतिरिक्त फ़िल्मकार ने अपने माध्यम पर अपनी



प्रिंटेड रेनबो : निर्देशक और निर्माता गीतांजलि राव



कंटीन्यूअस जर्नी : निदेशक, लेखक और निर्माता : अली काज़िमी

पकड़, कल्पनाशीलता, उसके निरूपण और विशिष्ट शैली का पुख्ता प्रमाण भी दिया हो।

यह सही है कि पुरस्कार वह कसौटी नहीं हो सकती जिससे गुज़रकर ही फ़िल्मों की गुणवत्ता का सही आकलन संभव हो। किन्तु चयन के इस पैटर्न से हल्की निराशा होती है जो कहीं फ़िल्म माध्यम की सीमाओं को खींचकर बड़ा करने वाले प्रयासों और प्रयोगों की पहचान और स्वीकार की उपेक्षा से उपजती है। कविता का कवित्व की कसौटी पर खरा उतरना, फ़िल्म के अपने माध्यम की संभावनाओं की अर्थपूर्ण तलाश, नाटक में मंच के उपकरणों का प्रयोगशील विन्यास—क्या ये इन भिन्न कला रूपों के अध्येताओं को परखने के लिए ज़रूरी कसौटी नहीं होनी चाहिए? क्या अंततः कला के स्तर पर *कैसे कहा जाए* का प्रश्न *क्या कहा जाए* के बराबर वजन नहीं रखता? अगर कथ्य समसामयिक संदर्भों से प्रेरित और समकालीन सरोकारों में प्रासंगिक होने की बाध्यता महसूस करते हैं तो उनकी उस अभिव्यक्ति के लिए क्या उतनी ही सशक्त भाषा और शैली की तलाश आत्यंतिक नहीं होनी चाहिए? ऐसा लगता है कि संभवतः अब हमें माध्यम विशेष से अपनी अपेक्षाएँ दोबारा रेखाँकित करने का प्रयास करना चाहिए। यह दौर बदलाव का है, जिसमें ख़ासकर डिजिटल सिनेमा के आगमन के बाद से 'सिनेमा' की परिभाषाएँ लगातार बनती बदलती लग रही हैं। फ़िलहाल परिदृश्य एकदम खुल गया है जिसमें लगभग कोई भी (सीमित साधनों के चलते) कैमरा उठाकर फ़िल्म बनाने का चुनाव कर सकता है। यही वजह है कि अब उस *दूसरी तरफ़* से भी अपनी बात, अपना दृष्टिकोण निकलकर आ रहा है और आएगा जो अभी तक फ़िल्मों के विषय रहते रहे हैं। इस दृष्टि से यह एक संक्रमण काल है, और बहुत रोचक काम से आंदोलित भी, जिसमें फ़िल्मों की एक बाढ़-सी आ रही है, दीवारें, सीमाएँ, मापदण्ड टूटकर नित नए बन रहे हैं और बहुत कुछ नया और संभावनापूर्ण है। शायद यह वक़्त सब कुछ ढलते-बदलते को एक दर्शक-श्रोता-रसिक की तरह देखने-सोचने का है, 'समझ झरोखे बैठकर जग का मुजरा देख' सकें तो क्या ही कमाल हो!

फ़िल्मोत्सव की गहमागहमी के बीच कई खुली चर्चाएँ भी आयोजित थीं जिनमें 'इंडियन डॉक्यूमेंटरी प्रोड्यूर्स एसोसिएशन' का सेमिनार—*यह कौन तय करेगा कि हमें क्या देखना चाहिए* सबसे जीवंत और चर्चित रहा। सेंसरशिप के मुद्दे को लेकर पिछले *मिफ़* में *विकल्प* नाम से एक समानांतर फ़िल्मोत्सव आयोजित किया गया था, जो भारत और कुछ और देशों के फ़िल्मकारों के सरकार द्वारा पिछले दरवाज़े से सेंसरशिप लागू कर व्यवस्था के ख़िलाफ़ कुछ फ़िल्मों को बाहर रखने के विरोध में आयोजित किया गया था। इस बार भी चयन समिति के



AFSPA 1958 : *निदेशक हाओबाम पवन कुमार*

नियमों में आठवें सर्ग को लेकर फ़िल्मकारों में असंतोष था। उनका कहना था कि इस प्रावधान विशेष के उपयोग से कोई भी सरकार अपने-अपने हिसाब से अप्रिय फ़िल्मों को प्रक्रियापूर्वक बाहर रखने की छूट ले सकती है। इस मुद्दे पर किसी भी तरह की सेंसरशिप के विरोध में देश-विदेश के फ़िल्मकार एकमत थे और अधिसंख्य ने इस बाबत मंच से अपने विचार प्रकट भी किए कि कलाकार की स्वायत्तता की रक्षा किसी भी समाज की प्राथमिकता होनी चाहिए। डॉक्यूमेंटरी यानी वृत्तचित्रात्मक सिनेमा इस माध्यम से उघाड़े जा सकने वाले ऐसे सच के आग्रह वाला ज़बर्दस्त फ़ार्म है जो हमारे इस दोगले समय में सबसे सशक्त अभिव्यक्ति को जन्म देने में समर्थ है। यह एक बड़ी ज़रूरत है कि हमारे समाज में इसके लिए वांछित अवकाश उपलब्ध हो सके। और फिर जहाँ श्लील-अश्लील के नैतिक दायरों से मुख्यधारा सिनेमा, बाज़ार और विज्ञापन फ़िल्म पूरी तरह बाहर दीखती हैं, वहाँ सच और वास्तविकता के आग्रह वाले वृत्तचित्र को ही इसकी दोहरी मार सहनी पड़े, यह तो बड़ा ही विचित्र लगता है, अन्यायपूर्ण और बेतुका भी। ईरान की आधुनिक फ़ारसी के महत्वपूर्ण कवि फरूग़ फ़रुखज़ाद के शब्दों में--"जब घास में दुबका यह कीड़ा भी बोल सकता है। ओह! क्यों चुप रहूँ मैं?"

ईरान से *ईरानियन इंडिपेंडेन्ट* पैकेज के तहत ऐसे ही कुछ सशक्त वृत्तचित्रों और लघु फ़िल्मों से साक्षात्कार हुआ जिन्होंने एक बार फिर साबित किया कि एक कलाकार की स्वतंत्र अस्मिता और स्वर को दबाना आसान नहीं है। कवि फरूग़ पर केन्द्रित नासेर सफारियाँ की फ़िल्म *जाम ए जान* ऐसी ही एक फ़िल्म थी जिसने न केवल उस कवि के स्वर और उसकी कविता के साहित्यिक रसास्वादन की गहराइयों से हमारा परिचय कराया बल्कि वहीं जन साधारण के बीच कविता की अद्भुत व्यापकता को भी हमारे लिए खोला। जहाँ ऐसे स्वाधीन स्वर में कविता की जा रही हो, उसकी ऐसी व्यापक पहुँच हो और उसका ऐसा सुन्दर और सुदृढ़ फ़िल्में बयां हो, वह समाज अपनी तथाकथित बंद और कमजोर छवि को रौंदता सहज ही कितना मजबूत और गरिमापूर्ण हो उठता है। स्वतंत्र और विद्रोही इन अद्भुत स्वरों को अपने अंकुश तले कभी भी कुचल डालने की धमकी देता 'महाशक्ति अमरीका' कितना दुर्बल, असहाय और बौना लगता है। अचरज यही है कि कमज़ोर और नन्हें दीखते ये छोटे-छोटे देश अपने इन्हीं कलाकारों और स्वाधीन विचारकों के बल पर राख में से पूरा का पूरा वापस उठ खड़े होने की अद्भुत सामर्थ्य रखते हैं। आख़िर इन स्वाधीन निरंकुश आत्माओं और उनके दहाड़ते आतंक के बीच में फटकार कर सच बोलने की अदम्य शक्ति को कौन कुचल सकता है?

राजुला शाह : कविता, कहानी सहित साहित्य की अन्य विधाओं में सक्रिय। पूना फ़िल्म संस्थान से स्नातक। कुछ लघु फ़िल्मों का निर्माण। फ़िल्म के साथ चित्रकला में भी रुचि। स्वयं चित्र बनाती है। भोपाल में रहती हैं।

रंगमंच का सौंदर्यशास्त्र : एक नई पहल

रवीन्द्र त्रिपाठी

यों तो हर कला का अपना शास्त्र होता है लेकिन रंगमंच के बारे में ख़ास बात यह है कि इसमें कई शास्त्रों का संश्लेषण होता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि रंगमंच अपने में भी कई कलाओं का मिश्रण माना जाता है। परन्तु इतना कह देने के बाद कई नई समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। जैसे ये कि क्या जिस तरह किसी ख़ास कला विशेष के शास्त्र की अपनी इयत्ता होती है, वह इयत्ता रंगमंच के बारे में लागू होती है? उदाहरण के लिए, संगीत का अपना शास्त्र है। मगर क्या रंगमंच पर जो संगीत होता है वह वही संगीत है जो संगीत आधारित समारोहों में गाया या बजाया जाता है? रंगमंच का कोई भी जानकार इस बात को नहीं मानेगा। यह सर्वस्वीकृत है कि रंगमंच का संगीत अलग होता है। फिर तो रंगमंच के संगीत का भी अलग शास्त्र होना चाहिए, जो पारंपरिक संगीत के शास्त्र से भिन्न होगा। फिर तो रंगमंच के नृत्य का भी अलग शास्त्र होगा। यानी कुल मिलाकर निष्कर्ष यह निकलेगा कि रंगमंच का शास्त्र बनाना जटिल काम है और रंगमंच का सौंदर्यशास्त्र निर्धारित करना भी। फिर भी देवेंद्र राज अंकुर ने यह काम किया है। उनकी पुस्तक *रंगमंच का सौंदर्यशास्त्र* रंगमंच के कई सैद्धांतिक, व्यावहारिक, शास्त्रीय और प्रयोगात्मक पहलुओं पर गंभीरता से विचार करती है और पारंपरिक व नए प्रश्नों का जवाब ढूँढ़ने की कोशिश भी।

हालाँकि रंगमंच से संबंधित कई प्रश्न सदियों से उठाए जा रहे हैं फिर भी उनका उठना स्थगित नहीं हुआ है। इसके मूल में रंगमंच का स्वभाव है। रंगमंच शास्त्रीय और प्राचीन के साथ नवीन और समसामयिक भी होता है। भले ही आप किसी क्लासिक का मंचन करें, उसमें समकालीन संदर्भों की अनुगूँज होगी ही। अन्यथा वह मंचन निरर्थक हो जाएगा। इसीलिए रंगमंच संबंधी प्राचीन और स्वीकृत धारणाएँ भी नई समझ की माँग करने लगती हैं। देवेंद्र राज अंकुर ने भी नए के साथ-साथ कई पुराने सवाल उठाए हैं और उनका नया जवाब पाने का प्रयास किया है। पर, यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि पुराने और लगातार उठते रहने वाले सवालों का कोई नया जवाब नहीं दिया गया है। दरअसल कोई नया जवाब हो भी नहीं सकता क्योंकि सवालों की सार्वयुगीनता की तरह ही जवाबों में भी सार्वयुगीनता होती है। लेकिन साथ ही इसमें नवीनता भी होती है। *रंगमंच का सौंदर्यशास्त्र* में रंगमंच संबंधी जो विमर्श है उसमें सार्वयुगीनता भी है और नयापन भी। इसके रंगमंच संबंधी भारतीय और पश्चिमी दृष्टि के बीच संवाद स्थापित करने की कोशिश भी। अंकुरजी अपनी धारणाओं में न तो भारत विह्वल हैं न पश्चिम से आक्रांत। यहाँ भारत के प्रति विनम्र स्वीकार का भाव भी है और अरस्तू के प्रति आदर भी। यह वक़्त की माँग भी है क्योंकि जिसे आधुनिक कहा जाता है वह कई तरह की परंपराओं और दृष्टियों का मेल है।

लेखक ने पुस्तक की शुरूआत 'नाट्यालेख' पर विचार करने से की है। यह एक सर्वमान्य सा तथ्य है कि हर नाटक किसी-न-किसी आलेख पर आधारित होगा। लेकिन मुद्दा ये है कि क्या हर लिखित आलेख का अपना भी कोई अलग यानी साहित्यिक महत्व है? और इसी से जुड़ा प्रतिप्रश्न यह है कि क्या साहित्य में स्वीकृत सभी आलेख रंगमंच के लिए भी उपयोगी

और प्रासंगिक हैं? अंकुरजी उन नाटककारों का भी हवाला देते हैं जो साहित्य और रंगमंच दोनों ही क्षेत्रों में समादृत रहें हैं। फिर भी रंगमंच पर सफल कई आलेख साहित्य में अपनी जगह नहीं बना पाए। इससे क्या निष्कर्ष निकाला जाए? क्या ये कि साहित्य और रंगमंच अलग-अलग चीज़ें हैं और दोनों में मिलाप हो ही जाए यह आवश्यक नहीं? या यह कि साहित्य और रंगमंच आपस में जुड़े हैं लेकिन साहित्य पहले है और रंगमंच उसके बाद आता है। शायद दोनों ही निष्कर्ष सही नहीं हैं। अंकुरजी यह मानते हैं कि साहित्य में शब्द निराकार रहता है लेकिन रंगमंच पर जाकर वही साकार हो जाता है। शब्द साहित्य में भी केंद्र में रहता है और रंगमंच में भी। फ़र्क़ यह है कि साहित्य में लिखे जाने के बाद शब्द पूर्ण हो जाता है लेकिन रंगमंच की पूर्णता लिखे जाने के बाद होती है। इसी बात को आगे बढ़ाते हुए यह कहा जा सकता है कि नाट्यालेख एक जटिल प्रक्रिया से पैदा होता है। इस प्रक्रिया का आरंभिक चरण साहित्य की तरह होता है, जहाँ विचार, शब्द, व्याकरण आदि की ज़रूरत पड़ती है लेकिन रंगमंच तक पहुँचते-पहुँचते बात बदल जाती है। रंगमंच पर शब्द हरकत और दृश्य के साथ जुड़ जाता है।

यही वजहें हैं कि जो रचनाएँ या नाट्यालेख इन दोनों तत्वों को समेटे रहते हैं वहीं साहित्य और रंगमंच दोनों जगह अपनी विशिष्ट पहचान बनाए रखते हैं। कालिदास, भवभूति से लेकर शेक्सपीयर और ब्रेष्ट जैसे नाटककारों की रचनाएँ इसका प्रमाण हैं।

अभिनय पर विचार करने के क्रम में अंकुरजी भरतमुनि की अभिनय संबंधी व्याख्या को आज भी प्रासंगिक बताते हुए कहते हैं 'भारतीय अभिनेता ने सदियों से जो ऐतिहासिक यात्रा की है उसके कई पड़ाव रहे हैं।' लेखक के अनुसार, वक़्त बदला और उसी के मुताबिक अभिनय की शैली बदली। भरत के नाट्यशास्त्र और संस्कृत के नाटकों की परंपरा ने अभिनय को शैलीबद्ध बनाया। लेकिन मध्यकाल में जब संस्कृत की रंगपरंपरा का अवसान हुआ तो भारतीय अभिनेता को मुक्ति मिली। शास्त्रीय और लोकनाट्य परंपरा ने अभिनय की कला में निखार की संभावनाएँ पैदा कीं। लेखक के अनुसार 'एक हज़ार ईसवी से लगभग सत्रहवीं शताब्दी तक का भारतीय समय भारतीय रंग-परंपरा में अभिनय के उत्कर्ष का सबसे सुन्दर और सुदीर्घ पड़ाव है।'

फिलवक़्त अभिनय की बात छोड़ दें, और इस बात (यानी ऊपर लिखित वाक्य) को आगे बढ़ाएँ तो भारतीय कला इतिहास के साथ भारतीय इतिहास के बारे भी हमारी कुछ बनी बनाई धारणाएँ चरमराने लगती हैं। यह एक आम धारणा है कि ईसा के एक हज़ार साल से लेकर सत्रहवीं सदी तक का वक़्त भारतीय रंग परंपरा के लिए उत्साहित होने का काल नहीं है, क्योंकि यह माना जाता रहा है कि इस दौरान संस्कृत की क्लासिक परंपरा सुस्त पड़ गई। हालाँकि इस काल में देसी भाषाओं या बोलियों में कविता का उत्कर्ष हुआ और भक्तिकाल ने कई भारतीय भाषाओं को साहित्यिक उत्कृष्टता दी। लेकिन भौतिक नाटक कम ही लिखे गए। लेकिन देवेंद्र राज अंकुर कह रहे हैं कि इस दौरान अभिनय की कला ने नई ऊँचाई हासिल की। लेखक की माने तो यह सब इस वजह से हुआ कि राजनैतिक संरक्षण हटने के बाद अभिनेताओं ने पूरे परिवार के साथ रंगकर्म को अपनी आजीविका बना ली। इसी कारण मध्यकालीन भारतीय अभिनेता के व्यक्तित्व और कृतित्व में एक ऐसे खुलेपन का विस्तार हुआ जो उस समय के पश्चिम के अभिनेता के लिए संभव नहीं था। बेशक यह एक महत्वपूर्ण और ग़ौरतलब नुक़्ता है और इसका विशद अध्ययन होना चाहिए।

कोई पूछ सकता है कि इस दौरान पश्चिम में क्या हो रहा था? अंकुरजी का जवाब होगा कि, बल्कि है, कि वहाँ भी अभिनेता ही रंग परंपरा के केंद्र में आ गया। नाट्यालेख की उस दौरान वहाँ भी कमी थी। 'कॉमेदिया देल आर्ते' जैसी आशु हास्य नाट्य परंपरा ने अभिनेता को प्रतिष्ठित किया। यह दीगर बात है कि पश्चिम में भारत की तुलना में आधुनिक नाट्य परंपरा जल्द शुरू हो गई और शेक्सपीयर और मोलियर ने नाट्यालेख के क्षेत्र में जो किया उसे फिर से कहने की ज़रूरत नहीं है। पश्चिम में अभिनय की आधुनिक शैली इसलिए भी जल्दी शुरू हुई क्योंकि नए वैज्ञानिक आविष्कारों ने और औद्योगिक क्रांति ने आदमी के दैनंदिन अनुभव और सोच को बदल दिया और औद्योगीकरण की तीव्र प्रक्रिया ने रोज़मर्रा की ज़िंदगी बदल दी। इसी वजह से यथार्थवाद का अभ्युदय हुआ और इब्सन, चेख़ोव और स्ट्रिंडबर्ग जैसे नाटककारों ने अभिनय को भी बदल दिया।

इस तरह जैसे-जैसे नाटक के लेखन में परिवर्तन आए उसी तरह अभिनय की शैलियाँ बदलीं। पश्चिम में अभिनय की नई शैलियाँ ईजाद हुईं। लेकिन यह सब होने के साथ एक और बात भी हुई और वह थी निर्देशक की भूमिका का उदय। रंगमंच और नाटक के आरंभिक चरण से लेकर हाल-हाल तक यानी सौ-सवा सौ साल तक निर्देशक की कोई भूमिका नहीं थी। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि पहले निर्देशन नाम की चीज़ नहीं थी। वह थी। पर, निर्देशक का वजूद बना फ़िल्म नाम की कला के अभ्युदय के बाद। लेखक बताता है कि जर्मनी के ड्यूक ऑफ़ सैक्समाइनिंजन को आधुनिक रंगमंच का पहला निर्देशक माना जाता है। "इसके पहले रंगमंच के पूर्वाभ्यास की ज़िम्मेदारी नाटककार, मुख्य अभिनेता, नाट्य संस्था के प्रबंधक और प्राम्पटर की हुआ करती थी। लेकिन निर्देशक के आने के बाद नाटककार बनाम निर्देशक का प्रश्न बड़े उग्र रूप में उठा।"

बात ये उठी कि आख़िरकार निर्देशक करता क्या है? दलील यह दी गई कि वह स्वयं की पुनर्व्याख्या करता है। इस दलील में वज़न भी है। फिर भी बहस इस बात को लेकर होती रही है कि नाटककार ने नाटक लिखा, अभिनेता ने उसे दर्शकों तक पहुँचाया। ऐसे में निर्देशक बीच में कहाँ से आ गया? अंकुरजी इस सवाल का जवाब देते हुए कहते हैं कि निर्देशक अर्थों का संधान करता है। एक तरह से वह आधुनिक रंगमंच का सिद्धांतकार भी है और व्यावहारिक जामा पहनाने वाला व्यक्ति भी। वह सर्जक भी है और समन्वयक भी, व्याख्याकार भी और उत्प्रेरक भी।

लेखक ने रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में प्रेक्षागृह के स्थापत्य और महत्त्व पर भी विचार किया है और उसका कहना है कि प्रेक्षागृह के स्थापत्य से नाट्य रचना की शैली भी प्रभावित होती है। एक युग में अगर स्थापत्य के स्तर पर एक ही आकार-प्रकार के प्रेक्षागृह मिलते हैं तो नाट्य रचना की शैली भी लगभग एक जैसी मिलती है और अगर कोई नाट्य-मंडली स्वतंत्र शैली की प्रस्तुति करती है तब भी प्रदर्शन स्थल यानी प्रेक्षागृह के स्थापत्य में बदलाव हो जाता है। यानी रंगमंच नाटककार, अभिनेता और निर्देशक के मुताबिक तो बदलता ही है वह प्रेक्षागृहों में स्थापत्य के मुताबिक भी बदलता है। प्रेक्षागृह की ही तरह दर्शक भी रंगमंच की परियोजना का एक विशिष्ट अंग है। रंगमंच का दर्शक बाक़ी कलाओं के दर्शक से अलग होता है। लेखक ने इस पर भी विस्तार से लिखा है।

इस पुस्तक का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय 'नाटक का अध्ययन' है जिसमें देवेंद्र राज अंकुर ने चार नाटकों पर विस्तृत टिप्पणियाँ लिखी हैं—*अभिज्ञान शाकुंतलम्, यहूदी की लड़की* (आग़ा

हश्र काश्मीरी), *ध्रुवस्वामिनी* और *आषाढ़ का एक दिन*। स्थान की कमी की वजह से यहाँ इन चारों पर तो विचार नहीं किया जा सकता इसलिए *ध्रुवस्वामिनी* पर निगाह डाली जाए। यह अंकुरजी भी मानते हैं और दूसरे लोग भी कि *ध्रुवस्वामिनी* प्रसाद का सबसे सफल और लोकप्रिय नाटक है। रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में सबसे ज़्यादा उपयुक्त भी। यह नाटक यथार्थवादी है लेकिन शैलीबद्धता और नाट्यधर्मिता का संयोजन प्रधान है। इसीलिए यह रंगकर्मियों को नई-नई अभिनय शैलियों की खोज के लिए उकसाता भी है।

हालाँकि इस पुस्तक के लेख अलग-अलग समयों पर लिखे गए हैं पर उनको पुस्तकाकार रूप देने लिए नए तरीक़े से तराशा भी गया है। बहरहाल, यह तो एक तकनीकी पक्ष है। मूल बात यह है कि देवेंद्र राज अंकुर की यह किताब रंगमंच के उन पक्षों से रूबरू होने की कोशिश है जो रंगकर्मियों, दर्शकों, समीक्षकों और अन्य अध्येताओं को मथते रहे हैं। यहाँ उन मुद्दों को सिलसिलेवार ढंग से समझने की एक प्रक्रिया शुरू हुई है। लेकिन मुद्दे और भी हैं। जैसे क्या वजह है कि हिंदी पट्टी में संस्थाओं के बाहर रंग-आंदोलन थम-सा गया है? हिंदी इलाक़े में रंगमंच के दर्शक इतने कम क्यों हैं कि अभिनेता और निर्देशक को जीने के लिए मुंबई का रास्ता पकड़ना पड़ता है? कुछ सैद्धांतिक मुद्दे भी हैं। उदाहरण के लिए, यह कि हमारे यहाँ प्रयोगशील नाटक उतने क्यों नहीं हो रहे हैं जितने पश्चिम में होते हैं? क्या हमारी यानी हम भारतीयों की रंग-कल्पना यथार्थवाद, लोकोन्मुखी और संस्कृत नाटकों तक ही ठहरी रहेगी? या रंगमंच का एक नया स्पेस ढूँढ़ा जाएगा जो अभिनय और आलेख को नए तरीक़े से परिभाषित करेगा।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि यह किताब कुछ मुद्दों को उठाती है और उनका विस्तृत अध्ययन भी कराती है। लेकिन इसी सिलसिले में हमें और आगे जाना है इसलिए ज़रूरी है कि इस तरह की और किताबें सामने आएँ। दिक़्क़त ये है कि विश्वविद्यालयों में जो नाट्य अध्ययन है वह इतना ठस है कि वहाँ से इस दिशा में संभावनाएँ नहीं पैदा हो सकतीं। संगीत नाटक अकादेमी ने इस दिशा में सोचना बंद कर दिया है। ले देकर अकेला राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय बचता है जहाँ रंगमंच के प्रति खुली और जीवंत दृष्टि है। लेकिन वह भी कितना करे और क्या-क्या करे?

रंगमंच का सौंदर्यशास्त्र : देवेंद्र राज अंकुर, राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002 मूल्य 200 रुपये।

रवीन्द्र त्रिपाठी : नाट्य, कला-समीक्षक एवं स्वतंत्र पत्रकार। साहित्य और कलाओं के बहुतेरे वृत्तांत पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। होते रहे हैं। ग़ाज़ियाबाद में रहते हैं।

उमंग के संग बालरंग

जयदेव तनेजा

यह एक दुखद किन्तु कटु सत्य है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'बाल नाटक' और हिन्दी रंगमंच के इतिहास में 'बाल रंगमंच' का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। *पंचतंत्र* के एकमात्र अपवाद को छोड़कर हमारे सारे साहित्य में बच्चों-किशोरों के लिए किसी उल्लेखनीय बाल-रचना का जैसे अस्तित्व ही नहीं है। आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 1881 में रचित हास्य-व्यंग्य नाटक *अंधेर नगरी* पहला और ऐसा सदाबहार महत्वपूर्ण नाटक है जिसे इस बीच बच्चों द्वारा ख़ूब खेला गया है। यह अलग बात है कि मूलतः यह वयस्क कलाकारों-प्रेक्षकों को दृष्टि में रखकर लिखा गया था और बहुत समय तक ये बड़ों द्वारा ही खेला-देखा जाता रहा। 1917 में प्रकाशित 51 बाल नाटकों का संग्रह *सरल नाटक माला* के अंतर्गत छपा था। इनमें भगवन्नारायण भार्गव के *पाठशाला,* रामचन्द्र रघुनाथ सर्वटे के *पाठशाला का एक दृश्य,* मास्टर बलदेव प्रसाद के *मच्छड़राम* और रामेश्वर दयाल दुबे के *वैयाकरण* जैसे आरंभिक दौर के बाल नाटकों के पीछे किसी सुचिन्तित सामाजिक-मनोवैज्ञानिक संतुलित-सम्यक् दृष्टि के दर्शन नहीं होते। अपने अध्यापकों का फूहड़ मज़ाक़ उड़ाते ये अराजक और अशालीन नाटक हैं, जो स्कूल के किसी विशिष्ट अवसर या किसी उच्च पदाधिकारी के शुभागमन जैसे महत्वपूर्ण अवसरों पर अफ़सरों को खुश करने के लिए बच्चों द्वारा प्रदर्शित कराने के उद्देश्य से लिखे गए थे। इनमें बच्चों पर पड़ने वाले कुसंस्कारों एवं दुष्प्रभावों के बारे में कुछ भी सोचा-समझा नहीं गया था। उसी दौर में रामनरेश त्रिपाठी (कर्त्तव्य पालन), डॉ. राम कुमार वर्मा *(छींक और तैमूर की हार),* हरिकृष्ण प्रेमी *(राखी का मूल्य, मातृभूमि का मान)* जैसे प्रबुद्ध साहित्यकार भी इस क्षेत्र में रचनारत थे। परन्तु इनके ऐतिहासिक-पौराणिक नाटक आदर्शों से लबालब वयस्क चरित्रों के भारी-भरकम नाटक थे, जो बच्चों पर बोझ की तरह लद जाते थे।

स्तानिस्लाव्स्की ने कहा है कि ''बच्चों के नाटक उतनी ही गम्भीरता और मेहनत से लिखने चाहिए जैसे वयस्कों के लिए—बल्कि उनसे भी बेहतर।'' बांग्ला, मराठी, कन्नड़ जैसी भाषाओं के मुक़ाबले हिन्दी में बाल नाट्य लेखन की स्थिति काफ़ी दयनीय रही है। प्रतिष्ठित और बड़े लेखकों ने प्रायः इसे बचकाना काम समझ कर इस क्षेत्र से दूरी बनाए रखी। फिर भी श्रीकृष्ण के *तोताराम , हिरण्यकश्यप मर्डर केस,* केशव दुबे के नाटक *जो नहीं हो सका,* आनन्द प्रकाश जैन के *परियों के देश में* जैसे उल्लेखनीय और दिलचस्प बाल रंग-नाटकों के अतिरिक्त विष्णु प्रभाकर, रेखा जैन, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, लक्ष्मी नारायण लाल, कमलेश्वर, चिरंजीत जैसे वरिष्ठ साहित्यकारों ने भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान देकर इसे समृद्ध एवं विकसित किया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हममें नई सामाजिक, साहित्यिक, साँस्कृतिक और रंगमंचीय चेतना का उदय हुआ। देश के पहले प्रधानमंत्री बच्चों के 'नेहरू चाचा' बने और उन्होंने बच्चों को देश के भविष्य-निर्माता के रूप में देखा। बच्चों की जन्मजात प्रतिभा, उर्वर कल्पनाशक्ति, सहज सृजनात्मकता, स्वतः स्फूर्त ऊर्जा के स्वाभाविक विकास और उनके व्यक्तित्त्व के स्वस्थ, समग्र एवं चहुँतरफ़ा विस्तार को सही दिशा देने की दृष्टि ने दायित्वपूर्ण बाल-रंगमंच को जन्म दिया।

समर चटर्जी ने कलकत्ता में 'चिल्ड्रन्स लिटिल थिएटर' की स्थापना की। 1953-54 में इस महत्वपूर्ण बाल-नाट्य-संस्था की दिल्ली शाखा खुली, जिसे बाद में 'दिल्ली चिल्ड्रन्स थिएटर' नाम दिया गया। यह संयोग नहीं है कि 1958 में जब 'एशियन थिएटर इंस्टीट्यूट' की स्थापना हुई (जो कालांतर में सुविख्यात 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' के नाम से जाना गया) तो उसके पहले वर्ष ही यूनेस्को की मदद से जो दो विदेशी रंग-विशेषज्ञ बुलाए गए, उनमें से एक बाल-रंगमंच विशेषज्ञ थे। बाल रंगमंच का प्रशिक्षण लेने के लिए देश भर में कुछ रंगकर्मियों को आमंत्रित किया गया था, उनमें शान्ता गाँधी, रेखा जैन, श्यामा जैन, राजिन्दर नाथ जैसे लोगों ने बाल-रंगमंच का विधिवत् प्रशिक्षण प्राप्त किया था। दिल्ली के पब्लिक स्कूलों ने भी इसकी ज़रूरत और महत्व को समझा और इस क्षेत्र के विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया। हबीब तनवीर, ओम शिवपुरी, नरेन्द्र शर्मा, ब.व. कारंत, जॉय माइकल, सुषमा सेठ, बृजमोहन शाह, लक्ष्मी मजूमदार, रमा देव, इन्दिरा चटर्जी इत्यादि के साथ-साथ बैरी जॉन, रेखा जैन, वी.के., अब्दुल लतीफ़ खटाना, फ़ैज़ल अलकाज़ी, लूशन-लिलिट दुबे, बबल्स सब्बरवाल, सीता रैना, त्रिपुरारी शर्मा, आशीष घोष, मलयश्री हाशमी जैसे प्रसिद्ध एवं प्रतिबद्ध रंगकर्मियों ने बाल-रंगमंच को समृद्ध एवं विकसित करने में निर्णायक भूमिका निभाई है। साहित्य कला परिषद प्रतिवर्ष गर्मियों की छुट्टियों में राजधानी के सभी क्षेत्रों में लगभग पचास बाल रंगशिविरों का आयोजन करती है। इसके अतिरिक्त, बाल भवन, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, श्रीराम सेंटर, उर्दू अकादमी, पंजाबी अकादमी जैसी संस्थाएँ भी प्रतिवर्ष बाल-कार्यशालाओं में बच्चों को रंगमंच के विविध पक्षों का प्रशिक्षण देने का ज़रूरी काम कर रही हैं। ऐसी ही सक्रियता अन्य हिन्दी भाषी प्रदेशों में भी देखी जा सकती है।

'उपचार रंगमंच' के क्षेत्र में बैरी जॉन और फ़ैज़ल अल्काज़ी ने प्रशंसनीय रंगकर्म किया है। बड़ों द्वारा किए जाने वाले स्तरीय बाल-रंगकर्म की दृष्टि से यहाँ एक ऐतिहासिक तथ्य की ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है। आम तौर पर इसका श्रेय वी.के. को दिया जाता है, जिन्होंने 1987 में 'खिलौना' की स्थापना की या फिर बैरी को जो राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के 19 अक्टूबर 1989 को शुरू हुई 'थिएटर-इन-एजूकेशन' / 'संस्कार रंग टोली' के पहले निर्देशक बने। परन्तु इस संदर्भ का ऐतिहासिक तथ्य यह है कि प्रोफ़ैशनल स्तर पर इसका पहला और महत्वपूर्ण प्रयोग रमेश मेहता ने किया था। इन्होंने 'थ्री आर्ट्स क्लब' की ओर से 11, 12 और 13 मई, 1961 को सप्रू हाउस में तीन बाल नाटकों का एक ऐसा भव्य समारोह किया था, जिसका उद्घाटन स्वयं प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू ने किया था। पंचतंत्र और प्रेमचन्द की कहानियों पर आधारित इन तीनों बाल-नाटकों, *मूर्ख बिल्लियाँ, एक था बुड्ढा* तथा *अंधेरा और उजाला* का लेखन-निर्देशन रमेश मेहता ने किया था। इनके अनेक सफल प्रदर्शन हुए थे। नेमिचन्द्र जैन के अनुसार, "ये नाटक बच्चों में बड़े लोकप्रिय हुए। बालोपयोगी कथा सामग्री के उपयोग और प्रदर्शन-विधि सभी की दृष्टि से ये नाटक उल्लेखनीय थे। आवश्यकता इस प्रवृत्ति को बढ़ावा देने और इस प्रकार के प्रदर्शनों को स्थायी रूप देने की है।"

यद्यपि 1965 में भारतीय नाट्य संघ के सहयोग से बाल रंगमंच को लेकर एक अखिल भारतीय संगोष्ठी का आयोजन हुआ था जिसमें अन्य देशों के पर्यवेक्षक भी आए थे और महत्वपूर्ण एवं व्यापक चर्चा भी हुई थी। 1971 में अखिल भारतीय बाल-महोत्सव का आयोजन भी किया गया और अब प्रतिवर्ष 'जश्ने बचपन' और 'बाल संगम' जैसे समारोह भी हो रहे हैं। कुछेक नाट्य-पत्रिकाओं द्वारा बाल रंगमंच विशेषांक भी निकाले गए हैं। परन्तु देश भर में न तो

बाल रंगमंच को समर्पित हिन्दी की गम्भीर नियमित नाट्य पत्रिका है, न रंगकर्मियों के परस्पर सम्वाद का कोई राष्ट्रीय मंच। ऐसे समय और बंजर परिवेश में प्रतिष्ठित एव मूर्धन्य बाल-नाट्यकर्मी रेखा जैन द्वारा सम्पादित बच्चों के रंगमंच के सिद्धान्त और व्यवहार पर केन्द्रित *बाल रंग* नामक एक बड़ी पुस्तक का प्रकाशन अपने आप में एक महत्वपूर्ण घटना से कम नहीं है।

रेखा जैन की संस्था *उमंग* के रजत जयन्ती वर्ष के अवसर पर छापी गई इस पुस्तक में अखिल भारतीय स्तर पर मौजूद बाल-रंगकर्म की प्रमुख रंग-गतिविधियों के व्यापक आकलन के साथ-साथ देश—विशेषतः हिन्दी के अनेक बाल नाटककारों, निर्देशकों, समीक्षकों और अन्य रंगकर्मियों के सैद्धान्तिक आलेख, साक्षात्कार और विचार संकलित किए गए हैं। पुस्तक पाँच खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में 'बाल रंग विमर्श' है, दूसरे में 'रंग पद्धतियों और गतिविधियों' की चर्चा है। खण्ड तीन में *उमंग* के पच्चीस वर्षों के कामकाज का लेखा-जोखा है। खण्ड चार में कुछ प्रमुख बाल-नाट्य संस्थाओं का संक्षिप्त परिचय है और खण्ड पाँच में बाल रंगकर्मियों, संस्थाओं और बच्चों के लिए सामाजिक कार्य करने वाली स्वयंसेवी संस्थाओं के पते-ठिकाने।

बाल नाट्य विमर्श के अन्तर्गत अनेक विद्वानों-रंगकर्मियों के गम्भीर लेख हैं जिनमें बाल नाटक और रंगमंच के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ हम उनके कुछ विशिष्ट विचारों को उद्धृत कर रहे हैं—

"जो भविष्य निर्माता हैं उनके लिए देश की सृजनात्मक प्रतिभा का सर्वश्रेष्ठ अंश समर्पित होना चाहिए। विश्व साहित्य में ऐसा मुक्त रूप से हुआ है . . . हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाल साहित्य की चर्चा नहीं आती।"—विष्णु प्रभाकर

"बच्चों के नाटक के लेखक बड़े ज़रूर हो सकते हैं पर तर्क बच्चे का ही चलेगा जो शब्दों से परे उसकी कल्पना से जन्म लेता है। . . . चिड़िया में केवल पंख देखना, मकान में पैर और मोटरगाड़ी में आँख, खुद को मुक्त कराना है। . . . मंच बच्चे का कैदखाना नहीं है, उसका मुक्ति-स्थल है। जो नाटक इसका जितना ही ज़्यादा एहसास बच्चों को करा सके वह उतना ही बच्चों का श्रेष्ठ नाटक है।"—सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

"बाल नाटककार का सबसे मूल्यवान अंश उसका चिरजीवी बालपन है। इसी गुण की बदौलत वह बच्चों के भाव-जगत में प्रवेश करता है, उनके व्यक्तित्व का सम्मान करता है, और उनके खेलों, कल्पनाओं और सहज हास्य में शामिल हो सकता है।"—ललित मोहन थपलियाल

"बच्चा छोटा-सा वयस्क नहीं होता। उसका व्यक्तित्व स्वतंत्र रूप से मान्यता की माँग करता है। . . . बाल रंगमंच इन सबकी समग्रता का नाम है—जो बच्चे के व्यक्तित्व के विकास में योग देकर उसे संवेगात्मक दृष्टि से संतुलित और सम्पूर्ण बना सके, उसकी सम्वेदनशील साझेदारी का क्षेत्र व्यापक करके उसकी अवलोकन क्षमता को प्रोत्साहित कर सके, और इस भाँति यथार्थ जीवन में जो समस्याएँ उसके सामने आएँ उनको सुलझाने में सहायक हो सके।"—शान्ता गाँधी

"बाल रंगमंच वयस्क रंगमंच का छोटा-संस्करण नहीं है, एक अलग और खुला रूप है। बड़ों के नाटक में आनन्द का लक्ष्य दर्शक होते हैं। बाल-रंगमंच में यह आनन्द बच्चों को भी

मिलता है—मिलना चाहिए। यहाँ दर्शक महत्वपूर्ण नहीं है, वह खेल या प्ले ही महत्वपूर्ण है। 'बाल-रंगमंच' सिर्फ़ मनोरंजन नहीं, एक तरह से वह बच्चों की संस्कारशाला है।"—ब.व. कारंत

"वे बच्चे हैं, इसलिए कुछ भी कर सकते हैं, और उन्हें इतनी छूट देनी ही चाहिए। . . . इसलिए निर्देशन का वहाँ सवाल ही नहीं उठता।"—बंसी कौल

"बाल-रंगमंच ही बुनियादी रंगमंच है और जब तक हम ऐसे रंगमंच का विकास नहीं करते, देश में सार्थक रंगमंच सम्भव नहीं है।"—नरेन्द्र शर्मा

"इसमें कोई संदेह नहीं कि टेलीविजन मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धन का बहुत महत्वपूर्ण आविष्कार है, जिसकी बहुत उपयोगिता है, पर टेलीविजन के कार्यक्रम में बच्चों की सक्रिय भागीदारी नहीं के बराबर होती है, जबकि रंगमंच उनकी रचनात्मक ऊर्जा को शिक्षा (दिशा?) देने का काम करता है। नाटक अभिव्यक्ति का ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा कलात्मक, सृजनात्मक प्रतिभा के विकास के कई स्तर पर बच्चों की मानसिक एवं जीवन की अन्य समस्याओं का समाधान भी हो सकता है।"—रेखा जैन

"बच्चों के अपने प्रदर्शन उनके अपने मनोरंजन और आत्माभिव्यक्ति के माध्यम मात्र रहने चाहिए। उनके द्वारा धन-संचय या उनके करतबों को बहुत से वयस्कों, विशेषकर नेताओं, अफ़सरों और पदाधिकारियों को दिखा कर उनसे वाहवाही लूटने की कोशिश बड़ी अनुचित प्रवृत्ति है जो बच्चों को प्रदर्शनप्रिय और आत्मचेतन बनाती है, उन्हें प्रशंसा और प्रसिद्धि की चाट डालती है और उनमें अनुचित प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता की सृष्टि करती है। . . . बाल रंगमंच तभी प्रोत्साहनीय और उपयोगी है, जब वह इन भावी नागरिकों के समुचित विकास और स्वस्थ मनोरंजन में योग दे सके, अन्यथा उसका नहीं होना कहीं बेहतर है।"—नेमिचन्द्र जैन

इन सभी महत्वपूर्ण वक्तव्यों के वास्तविक अर्थ—मूल आलेखों की तार्किक संगति, संदर्भ और सही परिप्रेक्ष्य में ही जाने-समझे जा सकते हैं—और जिज्ञासु पाठकों को ये सभी आलेख *बालरंग* नामक इस विवेच्य पुस्तक में एक जगह-एक साथ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त अनेक तरह की दिलचस्प एवं उपयोगी सामग्री, जानकारी, सूचनाएँ और तस्वीरें इसे एक रोचक, पठनीय, उपयोगी और ज़रूरी किताब बना देती हैं। खण्ड दो में गिरीश रस्तोगी का *उत्तर प्रदेश में बाल रंगमंच*, भानुशंकर मेहता का *बनारस का बाल रंगमंच*, अलखनंदन का *अविभाजित मध्यप्रदेश में बाल रंगमंच*, सुवर्ण रावत का *दिल्ली बाल रंगमंच*, प्रतिभा मतकरी का *आज का मराठी बाल रंगमंच*, ज्योति बोस का *चिल्ड्रन्स थिएटर इन वैस्ट बंगाल* सारगर्भित, विस्तृत और उल्लेखनीय सर्वेक्षण लेख हैं। परन्तु प्रेमा कारंत के नाम से छपा *कन्नड बाल रंगमंच : कुछ अन्तरंग क्षण* वास्तव में प्रेमा कारंत का लेख नहीं है किसी अन्य लेखक ने इसमें प्रेमाजी की बातचीत का उपयोग अवश्य किया है। खण्ड तीन में *उमंग* और रेखा जैन के रंगकार्य की विस्तृत चर्चा की गई है।

पुस्तक के खण्ड चार और पाँच परिशिष्ट की तरह हैं। इनमें दिल्ली तीन, मध्य प्रदेश की दो, महाराष्ट्र-मुंबई की एक, मणिपुर की एक, राजस्थान की पाँच, पश्चिम बंगाल की दो, जम्मू कश्मीर की एक, कर्नाटक की छः और उत्तर प्रदेश की केवल आठ बाल नाट्य संस्थाओं का

संक्षिप्त परिचय दिया गया है। ये खण्ड अत्यन्त आधा अधूरा है। दिल्ली में वी.के. की एकमात्र प्रोफ़ैशनल और सतत् सक्रिय बाल रंगकर्म की संस्था *खिलौना* को इसमें शामिल न करना ज़्यादती है। वी.के. देशभर के शायद पहले और एकमात्र ऐसे बाल-रंगकर्मी हैं, जिनके योगदान को केन्द्रीय संगीत नाटक अकादेमी ने स्वीकारा और उन्हें पुरस्कृत किया है। बाल रंगकर्मियों के 'पते-ठिकाने' वाला अंश भी बेहद अराजक है। इसके अन्तर्गत विवेच्य पुस्तक में शामिल कई लेखकों के पते भी नहीं दिए गए हैं। कई संस्थाओं-निर्देशकों के नाटकों के फ़ोटो पुस्तक में हैं लेकिन उनका पता-ठिकाना नहीं है। पता कहीं निर्देशक का है, कहीं संस्था का, कहीं अंग्रेज़ी में, कहीं हिन्दी में—कहीं-कहीं मोबाइल और फ़ैक्स नम्बर भी दिए गए हैं। लगता ये है कि बच्चों के लिए या उनके साथ काम करने वाली किसी उपलब्ध सूची को बिना जाँचे-परखे ज्यों का त्यों छाप दिया गया है। वरना कोई कारण नहीं है कि इसमें बंसी कौल, बैरी जॉन, सीता रैना, बब्बल सब्बरवाल, लिलेट-लूशन दुबे, विष्णु प्रभाकर, हरिकृष्ण देवसरे, चिरंजीत, मोहिनी माथुर इत्यादि कई महत्वपूर्ण नाम छूट जाते और कुछ मुख्यतः वयस्क रंगकर्म करने वालों के नाम आ जाते!

पुस्तक में अधिकांश सामग्री पूर्व-प्रकाशित है और कहीं-कहीं पुनरावृत्ति भी है। सम्भवतः पूर्व-निर्धारित प्रकाशन-तिथि के दबाव में हिन्दी-अंग्रेज़ी के उपलब्ध आलेखों को उसी रूप में संकलित कर दिया गया है। बेहतर होता कि अंग्रेज़ी लेखों का साक्षात्कारों का हिन्दी अनुवाद किया/कराया जाता। कम से कम *उमंग* के रजत जयंती वर्ष के उपलक्ष में हुए वार्षिक कार्यक्रम का विवरण तो हिन्दी में दिया ही जा सकता था। परन्तु इन छोटी-बड़ी सीमाओं के बावजूद इसमें कोई संदेह नहीं कि *बालरंग* एक ज़रूरी, दिलचस्प, पठनीय और महत्वपूर्ण पुस्तक है।

बालरंग (बच्चों का रंगमंच : सिद्धान्त और व्यवहार) : सम्पादक : रेखा जैन (सह सम्पादक : उर्मि भूषण गुप्ता, अपूर्वानंद), प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-2, पहला संस्करण 2006, मूल्य : 350 रुपए

जयदेव तनेजा : सुप्रसिद्ध नाट्य समीक्षक। रंगकर्म पर गंभीर लेखन कार्य। कई पुस्तकों के प्रणेता और संपादक जिनमें रानावि से अंधायुग : पाठ और प्रदर्शन, ब.व. कारंत, मनोहर सिंह तथा बी.एम. शाह शामिल हैं। दिल्ली में रहते हैं।

नगर उदास

राजतरंगिणी पर आधारित कश्मीरी नाटक

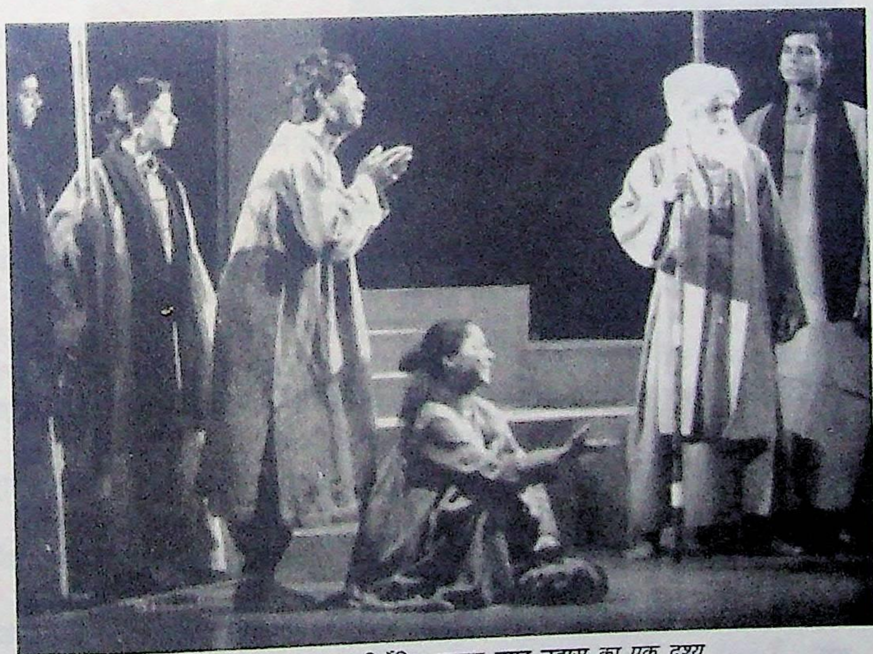
मोती लाल क्येमू

कश्मीरी मूल से अनुवाद : **गौरीशंकर रैणा**

*सुपरिचित रंग निर्देशक **मुस्ताक काक** के निर्देशन में **नगर उदास** का हिन्दी में प्रथम मंचन श्रीराम सेंटर, रंगमंडल के कलाकारों द्वारा कुछ वर्ष पहले श्रीराम सेंटर के सभागार में हुआ।*

प्रथम मंचन में भाग लेने वाले रंगकर्मी—उमेश पाण्डेय, श्रीकांत वर्मा, मनीष गुप्ता, भूपेश जोशी, हरमिन्दर सिंह, दिनेश शर्मा, रचना जोशी, नंद किशोर पंत, इमरान रज़ा, चेतन त्यागी, मुकेश छाबड़ा, विनोद नाहरदी, सुभाष चंद्र, जितेन्द्र सिंह, शेफाली राना, दक्षा शर्मा, दिनेश शर्मा, पल्लवी सिंघल, विष्णु प्रसाद, नरेश डबराल, लीना ठाकुर आदि थे।

***सहायक निर्देशक :** निशीथ रंजन पाणिग्रही।*



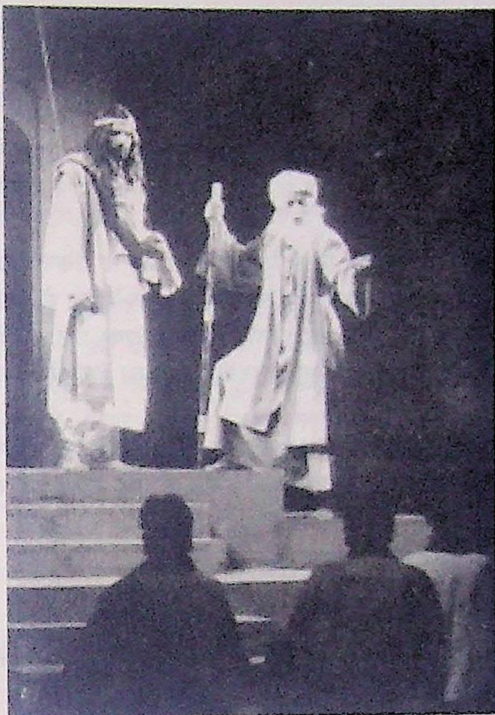
*मुस्ताक काक द्वारा निर्देशित नाटक **नगर उदास** का एक दृश्य*

पात्र

कोरस	:	ब्राह्मणों का दल। पहला ब्राह्मण अगुआ, वरिष्ठ है। (आयु 30 से 60 वर्ष)
अनन्तदेव	:	कश्मीर का राज्य त्यागी राजा (आयु 60 वर्ष)
सूर्यचन्द्र	:	अनन्तदेव का पक्षधर (आयु 50 वर्ष)
सूर्यमती	:	अनन्तदेव की पत्नी (आयु 55 वर्ष)
क्षीरभूप	:	राजपुरुष (आयु 45 वर्ष)
कलशदेव	:	अनन्तदेव का पुत्र, कश्मीर का राजा (आयु 41 वर्ष)
राजकुमार हर्षदेव	:	कलशदेव का पुत्र (आयु 21 वर्ष)
पार्षद ब्राह्मण	:	2 ब्राह्मणों का दल (आयु 50 से 60 वर्ष)
घाट मज़दूर	:	2 (आयु 30 और 60 वर्ष)
थक्कन	:	राजपुरुष (आयु 25 वर्ष)
सेवक	:	
स्त्रियाँ और बच्चे	:	
एक पुरुष	:	
नोनिका	:	सूर्यमती की सेविका
वल्गा	:	सूर्यमती की सेविका
सेनट	:	अनन्तदेव और सूर्यमती का पक्षधर
क्षेमट	:	अनन्तदेव और सूर्यमती का पक्षधर
नट	:	आयु 35 वर्ष
नटी	:	आयु 30 वर्ष
गंगाधर	:	अनन्तदेव का निजी सेवक (आयु 50 वर्ष)
दंडक	:	अनन्तदेव का निजी सेवक
दयवती	:	गुजरानी (आयु 58 वर्ष)
दो नगर दाहक	:	युवा अवस्था में
आनन्द	:	हर्षदेव का निजी सेवक
नगर वासी	:	
दूत	:	युवा अवस्था में।

समय ई. 1079 से 1081

(ऊपरी मंच के बीचोंबीच सीढ़ियाँ हैं जो एक चबूतरे तक जाती हैं। चबूतरे से सटी हुई ड्योढ़ी भीतर जाने का मार्ग है। द्वार के पीछे भी ऊपर जाने की सीढ़ियाँ दिखती हैं। ड्योढ़ी और चबूतरा, विजयेश्वर मंदिर व धर्मशाला की ओर ले जाते हैं। मंचाग्र पर बाईं ओर एक शिला चतुष्की रखी है जो कम से कम तीन व्यक्तियों को बिठाने के लिए पर्याप्त है। मंच के दाईं ओर भीतर जाने का एक और द्वार है। मंच का शेष भाग एक प्रांगण जैसा प्रतीत होता है। ग्रीक नाटकों के कोरस की भाँति ब्राह्मणों का एक दल प्रवेश करता है। पहला, अगुआ एवं वरिष्ठ हैं।)



श्रीराम सेंटर रंगमंडल के कलाकार नगर उदास में

पहला ब्राह्मण : कौन कहे आज दिवस जेठ का। धूल धूसरित नभ है।

दूसरा ब्राह्मण : कौन कहे कि वितस्ता प्रसन्नचित्त बह रही है। अपने ही तट, आज उसे पराये लग रहे हैं।

तीसरा ब्राह्मण : कौन कहे कि धरा हमारी शीतल है, इस पर पापी जनों का भार पड़ा है।

पहला ब्राह्मण : कौन कहे कि आज कोई भी कश्मीरी भय-मुक्त है, हरएक को अपना ही मुख पराया नज़र आता है।

दूसरा ब्राह्मण : आज कौन किसका पक्ष ले, हर दिशा शंका का उद्गम है।

तीसरा ब्राह्मण : आज किसे कहें, और कौन हमारी सुने। राजा भिन्न हैं और प्रजा अलग है।

पहला ब्राह्मण : आज राजघराने में पराये घुस बैठे हैं। नगर के लोग दिन में ही किवाड़ लगाए बैठते हैं।

दूसरा ब्राह्मण : घोड़ों की टाप सुन नगर-जनों का हृदय दहल जाता है कि कहीं युद्ध-घोष न हुआ हो।

तीसरा ब्राह्मण : राजा अनन्तदेव ने गुणियों की बात न सुनी। अपने पुत्र को राज्याधिकार देकर अपनी अभिलाषा पूरी की।

पहला ब्राह्मण : राजा कलशदेव जो कुसंगियों से घिरा है, आज उसका व्यवहार ही बदल गया है।

दूसरा ब्राह्मण : राज-प्रतिष्ठा को भूलकर जिसका मन कुत्सित विचारों में डूबा रहता है। हाय कैसा नैतिक पतन!

वरिष्ठ ब्राह्मण : शाह कुल के राजकुमारों, बिज्ज, पिठराज और जयानन्द, बस इन्होंने ही उसे अपने पिता से विमुख किया है।

तीसरा ब्राह्मण : तो कैसे होगा राजा धर्मपरायण। प्रजा-पालक।
(ब्राह्मण अपना स्थान बदलते हैं।)

पहला ब्राह्मण : कुछ समय तक तो अनन्तदेव यह सब सहते रहे, किन्तु जब यह सब असहनीय हुआ तो एक दिन वे कलशदेव को बंदी बनाने चले।

दूसरा ब्राह्मण : मगर कलशदेव के संगी-साथी पहले से ही सुराग पा गए थे। उन्होंने कुछ नहीं होने दिया।

तीसरा ब्राह्मण : किसी युक्ति से सफल न होकर, राजा अनन्तदेव सारी गृह-संपदा साथ लिए हुए, राजधानी को त्याग आए। अपने पुत्र से रूठ कर।

पहला ब्राह्मण : और पहुँचे यहाँ विजयेश्वर जहाँ ऋषि और सत्कर्मी शांति पाते हैं।

दूसरा ब्राह्मण : परन्तु अनन्तदेव दिन का चैन और रात की नींद खो बैठे हैं। शिव पूजा में भी बड़बड़ाते हैं।

तीसरा ब्राह्मण : चित्त भंग। मन भारी। नेत्रों से क्रोध। माथे पर बल। जिह्वा आग बरसाती हुई। कभी लगता, जैसे वैराग्य भाव ने उन्हें आ घेरा है तो कभी लगता जैसे विकराल रूप धारण कर युद्ध को निकल पड़ेंगे।
(ब्राह्मण अपना स्थान बदलते हैं।)

वरिष्ठ ब्राह्मण : कैसा समय! न आदर्श, न न्याय। न प्रजा को सुखी बनाने के साधन।

दूसरा ब्राह्मण : जब देश का राज-तंत्र बिखरा पड़ा हो। राजाओं के भिन्न-भिन्न आदर्श और राजाज्ञाएँ हों।

पहला ब्राह्मण : जब अनन्तदेव स्वयं ही किनारा ढाह आए हों तो प्रजा कब तक डूबने से बची रहेगी।

तीसरा ब्राह्मण : चाहिए था क्या, कलशदेव को राज्याधिकार देना?

वरिष्ठ ब्राह्मण : जिसका आचरण असभ्य, प्रकृति बदली है और जिसके प्रति प्रजा शंकित है।

दूसरा ब्राह्मण : कि क्या वो सच में राजपुत्र है! अनन्तदेव का जाया।

तीसरा ब्राह्मण : विश्वास जगमगाया है। महारानी सूर्यमती पर कौन करे शंका।

वरिष्ठ ब्राह्मण : जो राजकुल में जन्मी, कांगड़ा देश के जालंधर नगर की, राजपुत्री है।

दूसरा ब्राह्मण : जिसने मर्यादा का मान रखते हुए वितस्ता के तटों पर मठ और मंदिर बनवाए।

वरिष्ठ ब्राह्मण : जिसने अपने अग्रज पुत्र के शोक में राजप्रासाद त्याग कर सदाशिव मंदिर में वास किया।

तीसरा ब्राह्मण : ऐसी राजमहिषी पर कौन उँगली उठाए और कौन उसकी निंदा करे।

दूसरा ब्राह्मण : किन्तु जितने मुँह उतनी बातें।

तीसरा ब्राह्मण : क्या ऐसी महारानी का ऐसा ही पुत्र होना चाहिए था? आज राजधानी से निकसित अपने घर से बाहर है।
(ब्राह्मण चुप हो जाते हैं, सिर झुका कर अपने स्थान बदलते हैं।)

वरिष्ठ ब्राह्मण : लगता है, आज जैसे कोई शाप घुमड़ आया है राजकुल पर। इस देश पर।

दूसरा ब्राह्मण : या किसी कुकर्मी ने जन्म लिया है, जिसका भार यह पवित्र धरा झेल नहीं पा रही है।

तीसरा ब्राह्मण : जिसके पापों ने सारी प्रजा को घेरा है। जिसके पापों का कुप्रभाव राजा को ह्रास किए हैं।

दूसरा ब्राह्मण : वह देखिए। सामने से सूर्यचन्द्र आ रहे हैं। इन्हीं से राजधानी का समाचार पूछते हैं।

(सूर्यचन्द्र का प्रवेश)

(उसकी वेशभूषा राजपुरुषों जैसी है। सारे ब्राह्मण उसको घेर लेते हैं)

सभी ब्राह्मण : आप दीर्घायु हों।

वरिष्ठ ब्राह्मण : कहें, आप कहाँ से पधार रहे हैं? राजधानी का कोई समाचार?

सूर्यचन्द्र : राजधानी से राजा अनन्तदेव के चले जाने पर प्रजा कुंठित है।

तीसरा ब्राह्मण : क्यों न हो। राजधानी में कुसमय का पदार्पण हुआ है और सु-जनों का निर्गमन।

सूर्यचन्द्र : राजा अनन्तदेव के राजधानी से निकल आने के पश्चात महाराज कलशदेव को यह लगने लगा है कि जैसे नगर से सारी विभूति और शोभा चली गई हो और बिज्ज की सलाह पर उन्होंने जयानन्द को सर्वाधिकार और वितस्तोत्री-वराहदेव को द्वारपति बनाया है।

दूसरा ब्राह्मण : और सेनापति का पद किसने प्राप्त किया?

सूर्यचन्द्र : विजयमित्र ने, जो कभी राजगृह का वस्त्राधिकारी होता था।

तीसरा ब्राह्मण : और कलशदेव ने रिक्त कोष की पूर्ति के क्या प्रबंध किए हैं?

सूर्यचन्द्र : जयानन्द इस समय ऋण लेकर कोष भरने में लगा है। वह चांडालों तक के पास जाकर धन उधार ले रहा है। क्योंकि . . .

दूसरा ब्राह्मण : आप चुप क्यों हो गए?

सूर्यचन्द्र : क्योंकि वह कलशदेव को अपने पिता अनन्तदेव के साथ युद्ध करने के लिए उकसाता रहता था।

सभी ब्राह्मण : अनर्थ! अनर्थ! किन्तु क्या महाराज कलशदेव अपने पिता अनन्तदेव के साथ युद्ध करेंगे?

सूर्यचन्द्र : वह आक्रमण करने के लिए राजधानी से चल पड़ा है।

सारे ब्राह्मण : क्या!

सूर्यचन्द्र : मैं भी इसी प्रयोजन से अपनी जान हथेली पर लिए राजधानी से यहाँ चला आया हूँ।

(राजा अनन्तदेव का सीढ़ियों के ऊपर से प्रवेश)

सभी ब्राह्मण : देखिए राजा अनन्तदेव पधार रहे हैं। कल्याण हो राजा का! प्रजा का!

अनन्तदेव : आप सुखी होते तो यहाँ दुहाई क्यों देते। कहें क्या कहने आए हैं आप?

सूर्यचन्द्र : महाराज! आपके नगर छोड़ आते ही कलशदेव ने जयानन्द को सर्वाधिकारी बनाया। विजयमित्र को सेनापति का पद प्राप्त हुआ तथा वराहदेव द्वारपति बने हैं।

अनन्तदेव : धूर्तता में निपुण जयानन्द तथा शाहकुल के यह राजपुत्र, बिज्ज व पिट्ठराज, राज नहीं भोगेंगे तो कौन भोगेगा। इन्होंने ही कलशदेव को पथभ्रष्ट किया है।

सूर्यचन्द्र : महाराज! कैसे वर्णन करूँ कि नगर में क्या कुछ हो रहा है?

अनन्तदेव : क्या हो रहा है?

सूर्यचन्द्र : इन शाहकुल के राजपुत्रों ने कलशदेव को आप पर आक्रमण करने के लिए सहमत कराया है।

अनन्तदेव : क्या! . . . कलश आक्रमण करेगा?

सभी ब्राह्मण : अनर्थ! अनर्थ! कौन पुत्र राज्य त्यागे पिता पर आक्रमण करेगा?

अनन्तदेव : आक्रमण! किन्तु उसका कारण?

सूर्यचन्द्र : कारण यह है कि जिन्दुराज बंदीगृह से छोड़ा गया है। उसे आप पर चढ़ाई करने के लिए पैदल सैनिकों की एक टुकड़ी भी सौंपी गई है।

अनन्तदेव : जिन्दुराज! उसे प्रतिशोध लेने के लिए उकसाया गया होगा। उसे अपने बलवान होने पर बड़ा गर्व है। सूर्यचन्द्र, आप सभी डामरों, राजकुमारों तथा मेरे उन संबंधियों को सूचित करें जो मेरे पक्षधर हैं कि वे चौकन्ने रहें। हम किसी भी समय होने वाले आकस्मिक आक्रमण का सामना करेंगे।

तीसरा ब्राह्मण : श्रीमान्! आप उचित समझें तो यह घोषणा भी करा दें कि वे सभी जो शाहकुल के राजकुमारों और कलशदेव से त्रस्त हैं उसका ही पक्ष लें।

अनन्तदेव : यह उचित परामर्श है। मैं भी तो देखूँ कि आज कौन मेरा पक्षधर है और कौन उन कुकर्मियों का।

सूर्यचन्द्र : मुझे तो लगता है कि किसी सोची-समझी योजना के अनुरूप ही वे हम पर आक्रमण करेंगे। वे यह आक्रमण प्रजा में भय उत्पन्न करने के लिए करना चाहते हैं। इस कलह को ज़ारी रखना चाहते हैं। जिसके फलस्वरूप प्रजा आपको भूलकर कलशदेव के कुकर्मों को क्षमा कर सके।

अनन्तदेव : किन्तु मैं क्षमा नहीं करूँगा। मुझ पर आक्रमण हो और मैं हाथ पर हाथ धरे बैठूँ। जाओ सब को सूचित करो।

सूर्यचन्द्र : जैसी आज्ञा। प्रस्थान।

पहला ब्राह्मण : किसने शाप दिया! यह धरा जैसे दिन प्रतिदिन सिमटती जा रही है। कौन प्रजा को शापमुक्त कराये।

अनन्तदेव : कैसा शाप! क्या ऐसे अवसर पहले नहीं आए हैं?

दूसरा ब्राह्मण : पिता और पुत्र में राज्य विभाजन जैसी स्थिति आप ही पाते हैं महाराज! राजगृह की पीड़ा का प्रभाव प्रजा पर भी पड़ रहा है।

अनन्तदेव : मैं राज्य त्यागी पुरुष हूँ। मैंने सिंहासन त्यागा है।

तीसरा ब्राह्मण : यह सत्य है देव! किन्तु प्रजा के दुखों और समस्याओं का अब कोई निवारण नहीं करता।

अनन्तदेव : यही पीड़ा मैं भी झेल रहा हूँ। प्रजा का दुख ही मेरी वेदना है।

तीसरा ब्राह्मण : कौन विश्वास नहीं करेगा। आपने सिंहासन का लोभ न किया, किन्तु क्या राज-गद्दी पर बैठने का आपकी माता को लोभ न था?

अनन्तदेव : मैंने तो बाल्यावस्था में ही सिंहासन प्राप्त किया था। इसी कारण 16 वर्ष पहले, अपने 23 वर्षीय पुत्र को राज्य का अधिकार सौंप दिया।

दूसरा ब्राह्मण : उसमें वह योग्यताएँ कहाँ जो एक राजा की शोभा बढ़ाती हैं।

अनन्तदेव : छतनार साया उठ जाएगा तो उसे वास्तविकता का अनुभव होगा। कलशदेव को मेरा साया भ्रमित करता है।

सभी ब्राह्मण : दुर्भाग्य! वह कैसे आक्रमण करेगा! क्या उसके नयन स्नेही पिता के प्रति आर्द्र न होंगे!

अनन्तदेव : गुणीजनो! अयोग्य पुत्र यह भूल बैठा है कि मैंने कुमारावस्था में ही अपने शौर्य और पराक्रम से त्रिभुवन जैसे डामर को रणभूमि से भागने पर विवश किया था। मैंने अभिनव डामर को खड्ग के एक प्रहार से ढेर किया था। करने दो उसे आक्रमण। मैं भी देखूँगा कि उसकी भुजाओं में कितना बल है।

वरिष्ठ ब्राह्मण : यह कश्मीरमण्डल के इतिहास में पहली घटना होगी जब पिता और पुत्र में युद्ध होगा।

अनन्तदेव : होने दें यह युद्ध। शायद इसी के साथ युग परिवर्तन हो।

(नैपथ्य से ढिंढोरे की ध्वनि)

सुनिए। अभी सारे विजयक्षेत्र में घोषणा होगी कि राज्य त्यागे पिता और महाराज कलश में युद्ध होगा, युद्ध।

(सूर्यमती का प्रवेश)

सूर्यमती : कैसा युद्ध!! कैसी घोषणा। कहें आप क्रोधित क्यों हैं?

अनन्तदेव : गुणी ब्राह्मणो। कहो इससे कि इसके सुपुत्र का राजधर्म, कर्म और व्यवहार कैसा है। कहो इसे कि राजा कलशदेव मुझ पर आक्रमण करने यहीं आ रहा है।

सूर्यमती : असत्य! असत्य!! हमारे किसी शत्रु ने यह झूठा समाचार उड़ाया है। प्रजा के किस अंग को हमारा यहाँ अन्न-जल ग्रहण करना अच्छा नहीं लगता। कौन है वह धूर्त जो हम में भेद डालना चाहता है।

वरिष्ठ ब्राह्मण : राजमाता! कैसे वर्णन करें कि कलशदेव ने कैसी-कैसी राजाज्ञाएँ घोषित की हैं।

सूर्यमती : हमें आत्पत करने की कैसी राजाज्ञाएँ हैं। कहिए कौन है वह जो हमारी जीर्णावस्था विजयेश्वर के अस्थापन पर व्यतीत करने से प्रसन्न नहीं है!

दूसरा ब्राह्मण : कलशदेव और शाहकुल के राजकुमार सेना लेकर युद्ध करने के लिए राजधानी श्रीनगर से निकल पड़े हैं।

सूर्यमती : कदापि नहीं! कदापि नहीं! यह नहीं हो सकता। वह इतना अशिष्ट नहीं हो सकता।

(ब्राह्मणों का प्रस्थान)

अनन्तदेव : वैतरणी पार कराने वाला पुत्र अपने संगी-साथी लेकर पिता पर वार करने चला आ रहा है और आप ममता भरी बातें कर रही हो। वाह! वाह!!

सूर्यमती : इस बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता। मेरा पुत्र कलश कोई अबोध बालक नहीं जिसे उकसाया जा सके।

अनन्तदेव : वह बुद्धिभ्रष्ट हुआ है। बिज्ज और पिट्ठराज जैसे बिच्छुओं की कुसंगति में घिर गया है।

सूर्यमती : किन्तु उसे हम पर आक्रमण का परामर्श कोई क्यों दे?

अनन्तदेव : जिन्दुराज बंदीगृह से छूटा है। उसे मुझ पर आक्रमण करने को उत्तेजित किया गया है।

सूर्यमती : अपने हाथों पाला है हमने उस सर्प को। उसके तो यहाँ आने के सभी मार्ग बंद कर देने चाहिए।

अनन्तदेव : वह पैदल सैनिकों की एक टुकड़ी लेकर यहीं आ रहा है।

सूर्यमती : परन्तु हमारा कलशदेव आक्रमण नहीं करेगा। वह राजपुरी के अभियान पर जा रहा होगा या फिर किसी विद्रोही डामर का सिर कुचलने।

अनन्तदेव : यह संभावनाओं पर विचार करने का समय नहीं। अभी राजधानी से सूर्यचन्द्र आया था। उसने सारा समाचार सुनाया। कलश सेना लेकर आ रहा है और सुनो, मैं युद्ध करूँगा। इस कलह का कोई अंत तो हो।

(भीतर जाने लगते हैं तभी ढिंढोरे की ध्वनि तेज़ होती है)

सूर्यमती : ठहरिए। इससे पहले कि आप स्वयं युद्धभूमि की ओर चल पड़ें मैं एक विनती करूँगी।

अनन्तदेव : कैसी विनती! तुम्हारी विनतियों ने ही मुझे इस दशा पर ला दिया।

सूर्यमती : मेरा बस चलता तो अपना वक्ष भेदती। क्या करूँ एक पुत्र की माँ भी हूँ। अद्भुत धर्मसंकट में उलझ गई हूँ।

अनन्तदेव : कलश सेना लेकर युद्ध करने द्वार पर खड़ा होगा और तुम धर्मसंकट में पड़ी रहोगी। विजय-क्षेत्र युद्ध भूमिका का रूप धारण करेगा और तुम धर्मसंकट में ही पड़ी रहोगी!

सूर्यमती : इसी कारण तो विनती करती हूँ।

अनन्तदेव : विनती होगी कि मैं फूल माला लेकर कलश का स्वागत करूँ!

सूर्यमती : नहीं! नहीं!! वह सब नहीं! आप मुझे कहने तो दीजिए . . .

अनन्तदेव : कहो।

सूर्यमती : आप कलशदेव को अपने समक्ष बुलाएँ और स्वयं उससे इस कुत्सित कृत्य का कारण पूछें।

अनन्तदेव : कदापि नहीं। मैं पुत्र के नाते उसके साथ कोई सहमति करने को तैयार नहीं। अब तो निर्णय होना चाहिए।

सूर्यमती : क्या कह रहे हैं आप! क्या वह हमारी संतान नहीं!

अनन्तदेव : संभवतः नहीं।

सूर्यमती : फिर देखते क्या हैं, तलवार उठा कर उसका वध कर दीजिए। उससे पहले अपने हाथों से मेरा गला घोंट कर, अभी यहीं पर मेरे प्राण हर लीजिए।

अनन्तदेव : बुढ़ापे में सुख के लिए संतान की आकांक्षा करते हैं। किन्तु इस अवगुणी ने मेरे मुँह पर कालिख पोत दी। जीते जी यह हाल कर दिया तो मृत्यु के बाद क्या सुख दिलाएगा।

सूर्यमती : स्वामी! आप कलशदेव को बुलवाएँ। मैं स्वयं पूछ लूँगी।

अनन्तदेव : यह पुत्र-वात्सल्य का दर्द सहलाने का समय नहीं। मैंने अपने बलवीरों और योद्धाओं को युद्धभूमि में जाने का आदेश दिया है। आज मुझे यह विवाद निर्णायक स्थिति में लाना होगा। मैं स्वयं जा रहा हूँ।

(भीतर जाता है)

सूर्यमती : नाथ! हे नाथ!! आज मेरी विनती सुनिए। सुनिए . . . सुनिए।

(वह आकर अपना सिर सीढ़ियों पर रख देती है)

(विराम। कोरस का प्रवेश)

पहला ब्राह्मण : देवताओं के मुँह से जैसे वाणी खो गई है। आँखों के सामने मेघमाला खड़ी हो।

दूसरा ब्राह्मण : इस ऋषि भूमि को दृष्टि भर न देखने का भी जैसे उन्होंने प्रण किया हो। उन्हें प्रसन्न करने का कोई उपाय तो करना ही चाहिए।

तीसरा ब्राह्मण : राजमाता! अपने मन का क्लेश दूर करें। मन को स्थिर रखें और शांत रहें।

(सूर्यमती उठ खड़ी होती हैं)

सूर्यमती : कैसी राजमाता! मुझे राजमाता न कहें। उस योग्य मैं रही कहाँ जिसका भर्ता ही मान न रख सके। जिसका अपना एकमात्र पुत्र उससे विमुख हो जाए। जो राज्य त्याग कर इस धर्मस्थान में शरणार्थी बन बैठी हो। उसे राजमाता न कहें! न कहें!!

वरिष्ठ ब्राह्मण : माता! कर्म की लीला कौन जाने? समय फिर गया है और लगता है जैसे किसी का पाप चक्रवात की भाँति इस देश के ऊपर मंडरा रहा है।

सूर्यमती : कौन है वह पापी? क्या है उसका पाप? वह पाप कौन-सा है जिसने हमारा यश तिरस्कृत किया है।

दूसरा ब्राह्मण : राजमाता! कोई अशुभ घटने वाला है।

सूर्यमती : कैसा अशुभ?

तीसरा ब्राह्मण : चक्रधर मंदिर में वरिष्ठ पार्षद ब्राह्मण पगला गया है।

सूर्यमती : क्या वरिष्ठ पार्षद ब्राह्मण पगला गया है?

दूसरा ब्राह्मण : वह एक ही वाक्य बार-बार दोहराता है।

सूर्यमती : क्या कहता है वह?

दूसरा ब्राह्मण : राजकुल के विनाश का प्रथम दिवस कल होगा।

सूर्यमती : क्या अनापशनाप बड़बडाता है वह बावरा ब्राह्मण! मैं यह विनाश नहीं होने दूँगी। मैं पति और पुत्र में युद्ध नहीं होने दूँगी।

वरिष्ठ ब्राह्मण : पाप पनपने लगे तो धरा भारग्रस्त होती है। हे विजयेश्वर स्वामी! संकट के जाल से मनुष्य को मुक्त करो।

सूर्यमती : पाप, पाप, पाप! आप प्रत्यक्ष क्यों नहीं कहते कि कौन-सा पाप है जो इतना विकराल है, जिसका प्रायश्चित न हो?

तीसरा ब्राह्मण : कुछ पाप ऐसे होते हैं जो प्रायश्चितों से दूर नहीं होते। जे तीर्थों और देव-स्थानों पर जाने से मिटते नहीं।

दूसरा ब्राह्मण : वे पाप जिनका कुप्रभाव प्रजा और राजा पर वज्र की तरह गिरता है।

सूर्यमती : तब फिर होनी को कौन टाल सकता है।

तीसरा ब्राह्मण : बौखलाए पार्षद ब्राह्मण के अपशब्दों का भी तो कोई अर्थ होगा?

सूर्यमती : उन शब्दों का कोई अर्थ नहीं। जब तक मैं जीवित हूँ राजकुल का नाश नहीं होने दूँगी।

कोरस : चक्रधर स्वामी राजा और प्रजा की रक्षा करें। विजयेश्वर स्वामी राजा और प्रजा की रक्षा करें।

(क्षीरभूप का प्रवेश)

सूर्यमती : कौन क्षीरभूप! कहो किस प्रयोजन से आए?

क्षीरभूप : राजमाता, क्या बताऊँ। महाराज कलशदेव विजयेश्वर पर आक्रमण करने के लिए

सारी सेना लेकर अवंतीपुर में डेरा डाले हुए हैं।

सूर्यमती : अच्छा! . . .उसके साथ कितनी सेना है?

क्षीरभूप : माता! वह किसी भी भाँति हमारा सामना नहीं कर सकता है। छल-बल से वह विभिन्न दिशाओं से धावा बोल दे तो बात अलग है।

सूर्यमती : यह समाचार आपको किसने दिया?

क्षीरभूप : माता! मेरे गुप्तचर अभी-अभी नवनगर से यह संदेश लेकर आए हैं। हमारी ओर के सभी डामर, सैनिक और युद्धवीर, विजयक्षेत्र में एकत्र हो रहे हैं। मैंने अपने गुप्तचर विजयक्षेत्र के चारो ओर चौकसी के लिए रखे हैं। चढ़ाई जिस दिशा से भी हो हमारे गुप्तचर सूचना लेकर आएँगे।

सूर्यमती : कलशदेव का आक्रमण कब संभावित है?

क्षीरभूप : उसकी तैयारियों से लगता है कि वह कल प्रातः होते ही कभी भी किसी दिशा से आक्रमण कर सकता है।

सूर्यमती : नहीं। मैं उसे आक्रमण नहीं करने दूँगी। यह युद्ध नहीं होना चाहिए।

क्षीरभूप : माता! इस युद्ध को कौन टाल सकता है। यदि महाराज अनन्तदेव अपना विचार बदलें तो अलग बात है।

सूर्यमती : मैं बदल दूँगी उनका संकल्प। मैं इस कुल का विनाश नहीं होने दूँगी। यह युद्ध लीला नहीं होने दूँगी।

(अनन्तदेव का युद्ध-वेष में प्रवेश)

सूर्यमती : स्वामी! कलश अपनी सेना लेकर अवन्तीपुर में है। यदि आप मेरी विनती स्वीकार करें तो यह युद्ध टल सकता है।

अनन्तदेव : आप देख तो रही हैं। हम युद्ध वेष में एक योद्धा के रूप में खड़े हैं।

सूर्यमती : किन्तु मैं अपने स्वामी और कलश के पिता से प्रार्थना कर रही हूँ।

अनन्तदेव : तब तो यह युद्ध होना ही चाहिए, क्योंकि राज त्यागे पिता पर उसका पुत्र आक्रमण करने आ रहा है। उसने सोचा होगा कि उसका पिता शस्त्र भी त्यागे बैठा है।

सूर्यमती : स्वामी! पिता और पुत्र के बीच युद्ध का परिणाम क्या होगा?

अनन्तदेव : दोनों में एक विजयी होगा तो दूसरे की पराजय होगी। हर युद्ध का परिणाम ऐसा ही होता है।

सूर्यमती : इन दो में एक मेरा स्वामी होगा तो दूसरा मेरा पुत्र।

अनन्तदेव : जब युद्ध होना निश्चित हुआ है तो पुत्र-मोह कैसा!

सूर्यमती : कहना सरल है किन्तु मेरे ह्रदय के उद्वेग का, मेरी अकुलाहट का क्या!

अनन्तदेव : मैं पीछे नहीं लौट सकता।

सूर्यमती : आप भूल रहे हैं कि समुदाय में क्या चर्चा होगी। जब राजघराने की ऐसी दशा होगी तब प्रजा के घरों में क्या होगा। कौन पुत्र और पिता के संबंध पर विश्वास करेगा? लोगों के सामने कैसा आदर्श स्थापित होगा। युद्ध का कोई कारण होना चाहिए।

अनन्तदेव : मैं अकारण ही अपनी, तुम्हारी और विजेश्वरवासियों की रक्षा करने नहीं निकल पड़ा हूँ। यदि यह युद्ध नहीं होगा तो तुम्हारा ललन इस विजेश्वर का संहार करेगा। तब क्या कहेगी प्रजा? यही कि जब कलशदेव सेना लेकर आया तो अनन्तदेव अकर्मक बनकर

सूर्यमती के साथ *कथासरितसागर* पढ़ते रहे।

सूर्यमती : यह कौन-सा समय है मुझे *कथासरितसागर* पढ़ते रहने का उलाहना देने का! मेरी तो एक ही विनती है। आप वचन दें कि आप कलश पर वार नहीं करेंगे।

अनन्तदेव : वाह! युवा पुत्र का जीवन प्रिय है, किन्तु मेरी वृद्धावस्था. . . उसकी कोई चिन्ता नहीं।

सूर्यमती : मेरी हर बात में संदेह। मैं बिन पानी की मछली की भाँति छटपटा रही हूँ और आप उलाहना दे रहे हैं। मेरा स्वामी और पुत्र आपस में युद्ध करें तो क्या मैं यह खेल-तमाशा आँखें मूँदें देखती रहूँ।

अनन्तदेव : क्षीरभूप, आप किस प्रयोजन से आए हैं?

क्षीरभूप : राजन! मैं यह बताने आया था कि कलशदेव का लश्कर अवन्तीपुर में है। जिन्दुराज, विशोका नदी की ओर से चल पड़ा है। लगता है वे किसी छल से युद्ध करने का उद्देश्य रखते हैं। कल प्रातः नहीं तो किसी भी दिन किसी भी समय हम पर आक्रमण हो सकता है।

अनन्तदेव : ठीक है। आप विजयेश्वर क्षेत्र की हर दिशा में चौकस व्यक्ति तैनात करें जो हमें समय पर आक्रमण होने की सूचना दे सकें।

क्षीरभूप : जैसी आज्ञा महाराज!

(प्रस्थान)

सूर्यमती : तो आप दे रहे हैं ना वचन कि आप कलश पर वार नहीं करेंगे।

अनन्तदेव : युद्धभूमि में कब क्या हो, कौन जाने। क्या वचन दूँ।

सूर्यमती : मुझे विश्वास है कि कलश आप पर प्रहार नहीं करेगा।

अनन्तदेव : माना कि वह शस्त्र प्रहार न करे किन्तु जिन्दुराज क्यों सेना लेकर चल पड़ा है? शाहकुल के राजपुत्र उसके साथ क्यों हैं?

सूर्यमती : यदि आप में और कलश में युद्ध होगा तो सभी दर्शक जमकर देखते रहेंगे। यह सारा जगत क्या कहेगा? कितनों की अकारण मृत्यु होगी? कितने घायल होंगे? क्या प्रतिष्ठा रहेगी हमारी इस देश में?

अनन्तदेव : इसका ध्यान कलश को करना चाहिए था जो कश्मीर का राजा है। भला तुम और मैं क्यों इस पर विचार करें।

सूर्यमती : वह पथभ्रष्ट हुआ है। क्या आप कल सूर्यास्त तक उस पर आक्रमण न करने का वचन देंगे? मैं उसे संदेश भिजवाऊँगी। मुझे विश्वास है कि यह युद्ध टल जाएगा।

अनन्तदेव : आशा थी कि तुम मेरी आरती उतारने के लिए दीपों का थाल संजोए द्वार पर खड़ी होगी। किन्तु अपना पतिव्रता धर्म भूलकर तुम अपने पुत्र की पक्षधर बनी मेरे सामने खड़ी हो।

सूर्यमती : धर्मसंकट में पड़ी मैं अभागन दोनों का शुभ माँगती हूँ। कैसे इन हाथों से मैं आरती का थाल उठाऊँ और पुत्र मरण की कामना करूँ। मैं आपके चरण पड़ती हूँ, मेरी विनती स्वीकार करें।

अनन्तदेव : ठीक है। मैं वचन देता हूँ कि मैं कलश पर वार नहीं करूँगा। परन्तु . . .

सूर्यमती : परन्तु क्या?

अनन्तदेव : यदि वह मुझ पर वार करने की चेष्टा करेगा तो मैं पीछे नहीं हटूँगा।

(प्रस्थान)

सूर्यमती : स्वामी! स्वामी! हाय . . . मेरा जैसा भाग्य किसी का न हो। एक ओर मेरे पति मुझे उलाहना देते हैं। दूसरी ओर मेरा एकमात्र पुत्र मेरे शिर-मुकुट पर आक्रमण करने आ रहा है। किसको शत्रु कहूँ। हाय इन पापी नेत्रों से क्या-क्या देखना बाक़ी रह गया है। दोनों ओर से घिर आई हूँ। क्या करूँ। मुझे कलशदेव को संदेश भेजना ही होगा। उसका आक्रमण नहीं होना चाहिए। मैं उसे अभी संदेश भिजवाऊँगी। आने दो इन ब्राह्मणों को।

(वह सीढ़ियों पर बैठने लगती है, तभी ब्राह्मणों का कोरस प्रवेश करता है)

सूर्यमती : हे गुणी ब्राह्मणो! मुझे आप पर दृढ़ विश्वास है। आपकी योग्यता तथा संभाषण कला पर भी भरोसा है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप एक महत्वपूर्ण कार्य का कार्यान्वयन कुशलता से करेंगे।

वरिष्ठ ब्राह्मण : माता! ब्राह्मण की वाणी और कर्म विश्वसनीय है। आप जो भी कार्य कहें, करेंगे। यदि वह देश और धर्म के हित में है।

सूर्यमती : हे ब्राह्मणो! आप अभी घोड़ों पर सवार होकर अवंतीपुर जाएँ। कहीं भी न रुकें। और मेरा संदेश कलश को दें।

तीसरा ब्राह्मण : माता! हमें कहना क्या होगा?

सूर्यमती : कहें उसे . . . ऐ कलशदेव! क्या माता-पिता ने इसी दिन के लिए तेरी कामना की थी कि तुम उनको बुढ़ापे में भी सुख से न रहने दोगे? तुम राजा की संतान, कैसे बुद्धिभ्रष्ट हुए हो? क्यों अपने आपको विपदाओं में डाल रहे हो? क्या तुम जानते नहीं कि तुम्हारे बलवीर पिता ने कैसे युद्धों में अपने शत्रुओं का नाश किया है। कहें उसे . . . ऐ कलशदेव! तुम कितने सैनिकों के संग रथ और रथियों के साथ, हाथियों और भालाधारियों के साथ और कितने अश्वारोहियों के साथ अपने प्रतापी पिता का सामना करोगे। मेरी ओर से कहें उसे, ऐ पुत्र जाओ और राज्य का उपभोग करो। तुम्हें तो स्वयं अपने पिता ने सारा राज्य सौंप दिया। तुम्हारे वृद्ध पिता इस विजयेश्वर अस्थापन में रह रहे हैं, तुम्हें कैसा भय। कहे उसे . . . ऐ कलशदेव! वह जो तुम में और पिता में भेद डाल रहे हैं वे स्वयं ही नष्ट हो जाएँगे। किन्तु यदि तुम उनके छलावे में आओगे तो तुम्हारा भी नाश होगा। ऐ पुत्र! जाओ तुम राजधानी लौट जाओ। अपने सैनिकों और सेना का मुख मोड़ो। जब तक तुम्हारी माँ सूर्यमती जीवित है तब तक पिता का कोई खटका नहीं। बन सके तो अपने साधारण, धर्मात्मा पिता को अपने अच्छे कर्मों व वाणी से प्रसन्न करो।

कोरस : माता! यदि वह यह मान ले तो हम आकाश के देवताओं का उपकार मान लें।

सूर्यमती : वह अवश्य मान लेगा। इसमें उसी का कल्याण है।

ब्राह्मण : फिर हम चलते हैं। आपका संदेश उसे दे आते हैं। कल्याण हो राजा का! कल्याण हो प्रजा का।

सूर्यमती : विजयेश्वर स्वामी आपकी रक्षा करें। जब तक आप लौटेंगे नहीं, मैं इसी स्थान पर, निराहार रह कर आपकी प्रतीक्षा करती रहूँगी।

(ब्राह्मणों का प्रस्थान। सूर्यमती दूर तक देखती रहती है, फिर नीचे बैठ जाती है)

दूसरा अंक

(मंच के एक तरफ़ जहाँ महारानी सूर्यमती खड़ी हैं, वहीं वरिष्ठ ब्राह्मण शीश झुकाए खड़ा है।

जैसे प्रभु की ओर नतमस्तक हो। सेवक संध्या दीप प्रज्ज्वलित करने मंच पर आए हैं। उनके पीछे-पीछे ब्राह्मणों का कोरस भी प्रविष्ट होता है।
वरिष्ठ ब्राह्मण अपना शीश ऊपर उठाते हैं और शेष ब्राह्मणों के दल में सम्मीलित हो जाते हैं। सेवक भीतर जाते हैं।)

वरिष्ठ ब्राह्मण : हे विजयेश्वर स्वामी! अंधकार में डूबे जगत को ज्योति दो।
ब्राह्मण 2 : कश्मीर मण्डल को ऐसा प्रकाश दो, जिसमें कुकर्मी उद्‌घाटित हो वनों की ओर भागने लगें।
ब्राह्मण 3 : जिन्होंने परिवारों में कलह बढ़ाया है उन्हें प्रकाश की क्या आवश्यकता।
ब्राह्मण 2 : जिन्होंने प्रजा को आतंकित किया है, उनका क्या करे यह प्रकाश।
ब्राह्मण 1 : केवल एक मास, एक पखवाड़ा और कुछ दिन ही बीते हैं जब कलशदेव अपनी सेना लेकर अवन्तीपुर से राजधानी की ओर वापिस चले थे।
ब्राह्मण 2 : हमने ही कलशदेव को राजमाता सूर्यमती का संदेश सुनाया था। पुत्र को माँ की ममता का वास्ता देकर वापिस लौटने का अनुरोध किया था। तब लगा था कि पिता-पुत्र के कलह का अंत हुआ है।
ब्राह्मण 3 : युद्ध टल गया था। अनन्तदेव और रानी सूर्यमती को भी लगने लगा था कि जीवन के शेष दिन वे पूजा-पाठ में सुख-शांति से बिता पाएँगे।
ब्राह्मण 2 : जैसे जीर्ण वस्त्र अनेक बार सीने पर भी फटता जाता है उसी प्रकार वैर बार-बार संधि करने पर भी भेद डालता रहता है।
ब्राह्मण 1 : क्योंकि मदोन्मत्त परदेशी राजकुमार कश्मीर की मर्यादा भंग करके इसे अपनी सैरगाह व आरामगाह मानकर यहाँ राजसुख भोगते हैं।
ब्राह्मण 2 : सज्जनों और सत्पुरुषों को संतप्त करते हैं।
ब्राह्मण 3 : है कोई ऐसा उपाय जिससे यह वेदना और कलह मिट जाए। देश की चारों दिशाएँ सुखमय हों।
(सभी ब्राह्मण प्रवेश द्वार के सामने खड़े हो जाते हैं)

ब्राह्मण 1 : वह देखिए। राजा अनन्तदेव स्नान संध्या करके वापिस लौट रहे हैं। आइए उनकी प्रतीक्षा करें।
(एक छत्रधारी और एक ध्वजाधारी के साथ अनन्तदेव का प्रवेश। सेवक भवन में प्रवेश करते हैं तथा अनन्तदेव ब्राह्मणों से वार्तालाप करते हैं)

सभी ब्राह्मण : राजा सुखी हों। प्रभु राज-गृह की व्याधि दूर करे।
अनन्तदेव : हे विजयेश्वर स्वामी ऐसा ही हो। कहिए क्या कहने आए हैं? यज्ञ का कोई संकल्प या किसी यात्रा का विचार?
वरिष्ठ ब्राह्मण : एक अशुभ समाचार के बाद दूसरी अशुभ बात सुनते हैं तो हृदय दहल जाता है। भय और त्रास हो जाता है।
ब्राह्मण 2 : मन अशांत हो जाता है। अब देवालयों तथा मंदिरों में पहले जैसी आवाजाही नहीं।
अनन्तदेव : कारण?
ब्राह्मण 3 : प्रजा शाहकुल के राजपुत्रों के कुकार्यों से त्रस्त है। घर से निकलने में भी उन्हें भय

लगता है।

ब्राह्मण 1 : सुना है कि सुन्दर बालाओं को वे बलपूर्वक उठा ले जाकर उनकी मर्यादा भंग करते हैं।

ब्राह्मण 2 : राजपुरुष और न्यायपालक भी प्रजा को किसी न किसी बहाने संकट में डालते हैं। उत्कोच दिए बिना किसी का कोई काम ही नहीं बनता।

अनन्तदेव : कोई सज्जन पुरुष, बलवीर अथवा देश और धर्म का हित-चिंतक कुछ नहीं कहता।

ब्राह्मण 1 : जब कथनी और करनी में साम्य न हो। कुल संस्कारों की ओर प्रवृत्ति न हो। राजन! मक्कारी के इस युग में सज्जनों, बलवीरों और ज्ञानियों की कौन सुने।

(पार्श्व में रुदन का स्वर। कुछ पुरुष तथा स्त्रियाँ रोते-बिलखते प्रवेश करते हैं)

सभी : हे माता! हे पिता! हे राजन! हे राजमाता!

एक स्त्री : अत्याचार राजन! अत्याचार!

एक पुरुष : हाहाकार राजन! हाहाकार!

(राजपुरुष इनको आगे बढ़ने से रोकते हैं)

अनन्तदेव : आने दीजिए इन्हें। किस पर अत्याचार हुआ है?

एक स्त्री : हे पिता! हम क्या खाएँ और अपने बच्चों को क्या खिलाएँ?

दूसरी स्त्री : अपने पशुओं को क्या खिलाएँ?

पुरुष 1 : राजन! हम यह समझ ही नहीं पा रहे हैं कि हमारा राजा कौन है?

पुरुष 2 : एक आता है तो राजघराने के लिए उपज का एक हिस्सा लेकर चला जाता है। दूसरा आता है तो देवस्थान या अग्रहार के लिए दूसरा भाग ले जाता है। आता है कोई तीसरा तो तलवार की नोक पर सारा कुठार खाली करके ले जाता है।

एक स्त्री : कोई चौथा तलवारी आकर स्त्रियों के सारे गहने उतार ले जाता है।

अनन्तदेव : परन्तु वे हैं कौन?

पुरुष 1 : जयानंद के कारिंदे आते हैं तो भय दिखाकर कोई भी वस्तु ले जाते हैं। वराहदेव के आदमी आते हैं तो, कपड़ा-लत्ता, शाल-दुशाले और पशमीना लेकर चले जाते हैं। तब अपनी जान बचाने की ख़ातिर उन्हें अपनी संचित वस्तु सौंपने के सिवा और कुछ सूझता भी नहीं है।

एक स्त्री : राजन! हम क्या करें?

पुरुष 2 : क्या करें राजन! हम अपनी जान बचाएँ, खेत-खलिहान में जाएँ या बेकार बैठे यम की प्रतीक्षा करें। क्या करें?

दूसरी स्त्री : क्या पाप हुआ है हमसे?

अनन्तदेव : पाप हम से हुआ है। शापग्रस्त मैं हूँ। किन्तु अन्याय प्रजा के साथ हो रहा है। कुछ न कुछ करना होगा।

पुरुष 1 : राजन! तब तक हम क्या खाएँ और परिवार को क्या खिलाएँ।

स्त्री 1 : जाड़ा आने को है। तापें क्या? ओढ़े क्या?

अनन्तदेव : शांत हो जाइए। अंधेरा हो चला है। आप सब लोग भीतर चलें और विजयेश्वर में वास करें। चलिए।

(सभी स्त्री-पुरुष भवन में प्रविष्ट हो जाते हैं। ब्राह्मणों का कोरस देखता रहता है)

अनन्तदेव : *(स्वगत)* अब मुझे ही कुछ करना होगा।

(अनन्तदेव पहले आकाश की ओर देखते हैं फिर पीछे मुड़कर विजयेश्वर की ओर देखने लगते हैं)

मैं ही कुछ करूँगा।

वरिष्ठ ब्राह्मण : राजर्षि क्या करेंगे? क्या है कोई युक्ति, कोई उपाय?

ब्राह्मण 2 : कलशदेव के पक्षधरों के साथ वैसा ही व्यवहार होना चाहिए जैसा कि वे पितामह के हितैषियों से करते हैं।

अनन्तदेव : *(पीछे मुड़कर)* कदापि नहीं। सहनशीलता हमारा धर्म है। एक ही उपाय है। राजा को बदलना होगा।

(सभी ब्राह्मण अनन्तदेव के आगे-पीछे एक वृत्त में खड़े हो जाते हैं)

सभी ब्राह्मण : क्या, राजा को बदल दिया जाएगा?

अनन्तदेव : हाँ। तन्वंग के पुत्रों को राज्याधिकार दे दिया जाए। वे ही कश्मीर-मण्डल का संकट दूर कर सकते हैं।

(ब्राह्मण अलग-अलग खड़े हो जाते हैं)

मुख्य ब्राह्मण : तो क्या आप कलशदेव से राज्याधिकार छीन लेंगे?

अनन्तदेव : इसके सिवा कोई उपाय भी तो नहीं है।

ब्राह्मण 2 : कलशदेव तथा शाहकुल के राजकुमार जयानंद, वराहदेव, आदि कहीं राजद्रोह न करें। अराजकता और अशांति न फैल जाए।

अनन्तदेव : उसका भी हम उपाय करेंगे।

ब्राह्मण 3 : अभिप्राय यह कि आप युद्ध करेंगे। उधर से वे और इधर से स्वयं आप?

सभी : युद्ध?

अनन्तदेव : हाँ युद्ध! और यह युद्ध निर्णायक होगा।

(विराम)

ब्राह्मण 2 : तन्वंग के पुत्रों में से किसको राज सौंपेंगे आप। यदि दोनों को राज्याधिकार दिया गया तो कहीं गृहयुद्ध न भड़क उठे।

ब्राह्मण 3 : अपने कुल को छोड़ दूसरे कुल को राज्य सौंप कर आप एक नई समस्याओं को जन्म न देंगे।

ब्राह्मण 1 : राजन! कलशदेव का पुत्र, राजकुमार हर्ष, युवावस्था पा गया है। क्या वह इस योग्य नहीं?

अनन्तदेव : उसे अपने पिता ने अपने ही घर बंदी बना कर रखा है। उसके चारों ओर सैनिक लगा दिए गए हैं।

ब्राह्मण 2 : उसे किसी युक्ति से यहाँ लाया जाना चाहिए, प्रहरियों को घूस देकर अथवा अन्य किसी यत्न से उसे मुक्त कराया जाना चाहिए। तब फिर उसका राज्याभिषेक हो।

अनन्तदेव : सुझाव तो अच्छा है किन्तु वह यहाँ आए कैसे। अतएव हमें वही करना होगा जो सोचा है।

ब्राह्मण 3 : क्या राजमाता सूर्यमती इससे सहमत होंगी?

अनन्तदेव : उन्हें इस निर्णय से सहमत होना ही होगा।

ब्राह्मण 1 : राजन! क्या डामरों, राजपुरुषों तथा आपके सगे-संबंधियों को यह निर्णय स्वीकार होगा?

अनन्तदेव : उन्हें हम मनाएँगे।

ब्राह्मण 2 : महाराज! हर्षदेव प्रजा में बहुत लोकप्रिय हैं। वह गुणी होने के साथ ही हर विद्या में निपुण है। कई भाषाओं का ज्ञाता है। पद तथा श्लोक रचने के कारण वह और भी लोकप्रिय हो गया है। उसके स्थान पर अन्य कोई सिंहासनारूढ़ हो तो प्रजा अप्रसन्न होगी।

अनन्तदेव : सत्य तो यही है कि हमारे तथा कलश के बाद कश्मीर-मण्डल का राज्याधिकारी वही है किन्तु उसे यहाँ अपने पिता से मुक्त कराकर कौन लाए।

ब्राह्मण 1 : राजन! कहीं हर्ष और कलश मिलकर विद्रोह न करें?

अनन्तदेव : ऐसे में प्रजा भी उनका साथ दे सकती है।

सभी ब्राह्मण : तो फिर उचित यही है कि इस पर पुनः विचार हो। सम्भवतः इस समस्या का कोई समाधान निकल आए।

(विराम)

वरिष्ठ ब्राह्मण : क्या ही अच्छा होता यदि आप मैं और कलशदेव में समता होती।

अनन्तदेव : कदाचित दोष मेरा ही है। कभी प्रजा का भला चाहा तो कभी गृह-कलह समाप्त करने की चेष्टा। कभी रानी के प्रेमालापों में बंध जाता तो कभी युवा पुत्र का पथप्रदर्शक बन उसका हाथ थामने को आकुल होता। किन्तु उसकी चाह, विचार और अभिलाषा कुछ और ही थी। परायों के साथ मिलकर राज-मर्यादा पर चोट करने की आह।

(मंदिर से सूर्यमती का प्रवेश)

(विराम)

अनन्तदेव : कितना बदल गया वह। कभी-कभी, अपनी संतान का आचरण माता-पिता भी नहीं परख पाते। कहीं यह सत्ता का मोह तो नहीं जो मनुष्य का स्वभाव, विचार और आचरण बदल देता है।

सूर्यमती : स्वामी! हर्षदेव तो नहीं आया?

अनन्तदेव : वह कैसे आएगा।

सूर्यमती : मैंने उसे संदेश भिजवाया है शीघ्र यहाँ आने का।

अनन्तदेव : कब?

सूर्यमती : पूरे पाँच दिन पहले। आपसे क्या सबसे छिपा कर कहलवाया कि उसके वात्सल्य में छाती भर आई है। उसे एक बार देखना चाहती हूँ।

अनन्तदेव : उसे कलशदेव कभी न आने देगा। यदि वह यहाँ आ भी गया तो कलश अवश्य कोई छल-बल रचेगा।

सूर्यमती : कलश जान गया है कि आप उसे राजगद्दी से हटा रहे हैं।

सूर्यमती : आशामती आई तो कहने लगी कि कलश ने राजधानी से हर्ष के निकलने के सभी मार्ग बंद कर दिए हैं।

अनन्तदेव : तब कहीं अनर्थ न हो जाए।

सूर्यमती : कैसा अनर्थ?

अनन्तदेव : हर्षदेव यदि राजधानी से निकलने का प्रयास करेगा तो सैनिक उस पर आक्रमण करेंगे। यदि वह अभिमन्यु के चक्रव्यूह जैसी स्थिति में पड़ा तो?

सूर्यमती : हे शम्भू!

अनन्तदेव : ऐसा होने से पहले ही मुझे तन्वंगराज के पुत्रों में से किसी एक को राज्याधिकार सौंपने की घोषणा करनी होगी।

सूर्यमती : क्या! ऐसा कौन-सा प्रलयकारी समय आ गया है जो आप राजसत्ता दूसरे कुल के व्यक्तियों को सौपेंगे। एक पौत्र को बाल अवस्था में ही लोहरकोट का राजा घोषित किया, दूसरा आज अपने पिता के पास बंदी बना बैठा है। तब भी आप दूसरे कुल के पुत्रों को राज्याधिकार देने की घोषणा करेंगे। अवश्य यह इन ब्राह्मणों का सुझाव होगा।

सभी ब्राह्मण : कदापि नहीं! हम उदासीन जन राजकार्य में क्या हस्तक्षेप करें।

वरिष्ठ ब्राह्मण : हम शास्त्रों और परंपराओं के आधार पर परामर्श देते हैं। निर्णय तो राजा का होता है, हमारा नहीं।

सूर्यमती : जानती हूँ। यह भी जानती हूँ कि यहाँ के लोगों का तब तक निवाला नहीं उतरता जब तक कि वे राजगृह की निंदा न करें। घाटों पर नित्य संध्या के साथ-साथ यही सब तो हो रहा है।

वरिष्ठ ब्राह्मण : राजमाता! हम राजघराने के शुभ की कामना करते हैं। हमारी चिंता और उदासी का कारण है राजगृह का कलह। यह विवाद शीघ्रातिशीघ्र दूर हो जाना चाहिए।

सूर्यमती : राज-परिवार के कलह से आप लोगों को क्या कष्ट है?

ब्राह्मण 3 : माता! राज कुटुम्ब का कलह, प्रजा का विश्वास डगमगाता है। माता, हम चिंतित हैं। हम उदास हैं।

शेष ब्राह्मण : प्रभु राज-परिवार की व्याधि हर ले। राजा और प्रजा सुखी हों।

(सभी ब्राह्मण द्वार के समीप आकर सीढ़ियों पर नमन करते हैं और फिर दर्शकों की ओर पीठ करके खड़े हो जाते हैं। अनन्तदेव और सूर्यमती अग्रमंच की ओर आते हैं)

सूर्यमती : यह सब आपके भोलेपन का परिणाम है। एकदम से किसी की भी बात पर विश्वास करते हैं आप।

अनन्तदेव : जब तक जीवित हूँ तब तक मेरे आंगन का द्वार प्रजाजनों के लिए खुला रहेगा। राजकुल के इस संस्कार की मैं अवमानना नहीं कर सकता। प्रजा यूँ ही आकुल नहीं। जो हमारा न हुआ वह प्रजा का क्या होगा। उसके अपकारों से मेरा माथा मलिन हुआ है। सारी प्रतिष्ठा जाती रही।

सूर्यमती : इस सबके दोषी आप स्वयं हैं।

अनन्तदेव : हाँ। राजकुल का अधिष्ठाता जो हूँ। इस कश्मीरमण्डल में केवल मैं निर्बल हूँ। दोषी हूँ। बाक़ी सभी पूजनीय हैं।

सूर्यमती : आपने कलशदेव को युवावस्था में भी राजश्री पाने न दी।

अनन्तदेव : क्योंकि तुम्हारे ही कहने पर मैंने उसका राज्याभिषेक किया था। उसे कश्मीरमण्डल का राजा घोषित किया था। किन्तु उसने राज-कार्य भी विलासता का एक साधन समझा।

सूर्यमती : वह तो केवल नाम का राजा था। सारा कार्य आप चलाते थे। उसके हर कार्य में हस्तक्षेप आप करते थे।

अनन्तदेव : तुम बिल्कुल भी नहीं? ओह! यह तुम्हारा त्रिया स्वभाव! कभी कुछ तो कभी कुछ। पहले उसे राजगद्दी पर बिठवा दिया। उसी दिन तुम और मैं राजा-रानी से अभ्यागत बन गए। फिर तुमने कहा कि उसे राजकार्य का अनुभव नहीं तो मैंने हस्तक्षेप किया। परिणाम क्या हुआ? न उसने मेरा मान रखा न मर्यादा को ही चलने दिया।

सूर्यमती : आपने भी उन पराये कुल के राजाओं को शरण न दी होती तो . . . कलशदेव को उनके ही राजकुमारों ने भ्रष्ट किया।

अनन्तदेव : तुम यह क्यों भूलती हो कि उन राजाओं को अपने देश से निष्कासित किया गया था। उनका राज-ताज सब छिन गया, क्योंकि परधर्मी शाह शक्तिशाली होने लगे जो एक के बाद दूसरा देश अपने अधीन कर रहे हैं। जो धर्मग्रंथों को जलाते हैं। मूर्तियाँ चूर-चूर करते हैं। मंदिरों का विनाश करते हैं। हमें अपनी सीमाओं की रक्षा के लिए शरणागत राजकुमारों के अनुभव का लाभ उठाना है। नहीं तो यह आग कश्मीर पर भी बरसेगी।

सूर्यमती : हूँ। देश की चिंता आपको रहती है। किन्तु अपने कुल-कुटुम्ब की? सारा दोष अपनी संतान पर?

अनन्तदेव : तुम्हारी संतान ने ऐसे कुकर्म किए जो किसी ने भी न किए हों।

सूर्यमती : आपने उसके मार्ग में बाधाएँ खड़ी कीं। वह सदा आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा में रहता।

(ब्राह्मणों का कोरस दर्शकों की ओर मुड़ जाता है)

अनन्तदेव : यह सब तुम्हारी ही सम्मति से हुआ था उसके हित के लिए। स्वामिनी तो तुम्हीं थी। मैं भी मंदिरों, देवालयों में दान-दक्षिणा के लिए तुम्हीं से माँगता था। राज्य का सारा कर उसके पास जाता था। अभी भी सारा कोष तुम्हारे पास है।

(ब्राह्मण धीरे-धीरे सूर्यमती और अनंतदेव की ओर आते हैं)

वरिष्ठ ब्राह्मण : हे पितामह! यह कौन-सा समय है पुरानी बातों को दोहराने का। इससे तो मन और आत्मा कष्ट पाएँगे।

(अचानक ब्राह्मण बाहर के प्रवेश द्वार की ओर देखने लगते हैं, उधर की तरफ मुड़ जाते हैं)

वह देखिए। कोई तेज़ी से हमारी तरफ़ आ रहा है।

ब्राह्मण 2 : सम्भवतः कोई राजपुरुष हो। लगता है राजकुमार हर्षदेव है।

सूर्यमती : अच्छा! हर्षदेव ही है ना! क्या वह सच में आ गया है। अब सारे कलह मिट जाएँगे।

(हर्षदेव तेज़ी से प्रवेश करता है। वह अनन्तदेव के चरण छूता है)

हर्षदेव : पितामह! पाद-प्रणाम।

(अनन्तदेव उसे उठाकर सीने से लगा लेते हैं। फिर सूर्यमती के पैर छूने लगता है)

हर्षदेव : पितामही! पाद-प्रणाम।

(कभी उसका मुँह तो कभी माथा चूमती है। सभी ब्राह्मण वृत्त बनाकर जय-जयकार करने लगते हैं)

सभी ब्राह्मण : अभिनंदन! राजकुमार हर्षदेव चिरायु हों।

हर्षदेव : पितामही! अपना अश्व मैं वेग की गति से लाया हूँ। इस समय मेरा पूरा शरीर ऐंठ रहा है।

(चाबुक एक ओर फेंकता है)

अनन्तदेव : सबसे बड़ा आनन्द तो यह है कि तुम कुशलपूर्वक आए।

सूर्यमती : अब कुछ विश्राम करो।

अनन्तदेव : हाँ। अपनी थकान उतारो, तुम्हें बहुत बड़ा उत्तरदायित्व निभाना है।

हर्षदेव : कैसा उत्तरदायित्व?

अनन्तदेव : हमने निश्चय किया है कलशदेव को हटाने का। तुम्हारे राज्याभिषेक का। यहीं, विजयेश्वर में।

हर्षदेव : पितामह! मेरा राज्याभिषेक करने का अधिकार तो मेरे पिता राजा कलशदेव को है। यह अधिकार आपने ही उनको दिया है। मेरी तो राजा बनने की अवस्था भी नहीं है। मैं कहाँ राजकार्य का भार संभाल सकूँगा।

(यह सुनकर अनन्तदेव ठहाका लगाते हैं। हर्षदेव सूर्यमती के समीप आता है)

अनन्तदेव : हा! हा! हा! . . . कहो, कहो इसे कि मेरी अवस्था क्या थी, जब मुझे गोद में लाकर राज-गद्दी पर बिठाया गया था। मुझे लगा था कि यह भी कोई धर्म-संस्कार है और तुम, तुम युवा होकर भी शंका करते हो। आश्चर्य है।

हर्षदेव : पितामह! माना कि मैं युवा हूँ। भुजाओं में बल है। कश्मीर की सभी भाषाएँ जानता हूँ। किन्तु क्या मैं राजा बनने योग्य हूँ? मेरे पास कौन-सी सेना है। कहाँ अश्वारोही हैं? कौन से साधन हैं? कौन-सा कोष है? किसी प्रकार भी मैं अपने पिता की समानता नहीं कर सकता।

अनन्तदेव : यह सारे कार्य मैं सिद्ध करूँगा। लोहर-कुल का कोष हमारे पास है। सभी बलवीर, युद्धवीर तथा ज्ञानी मेरे साथ हैं। वे सभी तुम्हारे सहयोगी होंगे। अब तुम अपने विश्वास को सुदृढ़ करो।

हर्षदेव : हाँ, किन्तु . . . फिर भी।

अनन्तदेव : कहो। कहो क्या कहना है।

हर्षदेव : नगर से मेरे जाने के पश्चात् राजा कलशदेव ने क्या निश्चय किया होगा, कोई नहीं जानता। उन्हें अपने साथी सामंतों तथा शाहकुल के राजकुमारों ने क्या मंत्रणा दी है, हम नहीं जानते। क्या वे राज्याभिषेक होने देंगे? वे सेना लेकर प्रयाण तो नहीं करेंगे।

अनन्तदेव : उसने पहले भी एक ऐसा ही प्रयास किया था। परन्तु इस बार हम उसका सामना करेंगे।

हर्षदेव : तो क्या मेरा राज्याभिषेक युद्ध और रक्तपात से होगा।

अनन्तदेव : मैंने ढिंढोरा पिटवा दिया है कि सारी प्रजा अपनी उपज का बारहवाँ भाग विजयेश्वर के कोठारों में भर दे। मैं तुम्हारी राजधानी विजयेश्वर बनवाने की घोषणा भी करूँगा।

हर्षदेव : राजकार्य के लिए राजमुद्रा की आवश्यकता होती है। वह महाराज कलशदेव के पास है। दीनार भी उनके नाम से बनते हैं जिनका चलन विजयेश्वर तक है।

अनन्तदेव : वह सब समाप्त हो जाएगा। मेरा पूरा कोष स्वर्ण और चाँदी से भरा पड़ा है। जब तुम राजा बनोगे तब न जाने कितने शिल्पी यहाँ बसने आएँगे। विजयेश्वर तथा कार्मराज

के डामर स्वयं ही कलश के प्रति विद्रोह करेंगे। वह अकेला पड़ जाएगा।

हर्षदेव : इसमें न जाने कितना समय लगे। राजा कलशदेव ने अपने चाटुकारों को उपहार दे देकर आपको कष्ट पहुँचाने की कई योजनाएँ पहले से ही बना रखी हैं।

अनन्तदेव : ऐसी संभावनाओं और शंकाओं का त्याग करो। तुम्हारे राज्याभिषेक से उसकी सभी योजनाएँ विफल होंगी।

सूर्यमती : मेरा मन कहता है कि वह आपको कष्ट पहुँचाने की अब कोई भी योजना नहीं बनाएगा। मैं उसकी माँ हूँ। उसकी मनोवृत्ति पहचानती हूँ। आप चिन्ता न करें।

हर्षदेव : जब वह जान जाएँगे कि मैं यहाँ आ गया हूँ तो व्याकुल होंगे। तब उनकी प्रकृति में बदलाव आएगा।

सूर्यमती : हर्षदेव ने अपनी प्रतिभा के अनुसार ही उपयुक्त बात कही है। कलश इसके यहाँ चले आने का समाचार पाकर अवश्य ही चंचल होगा। पुत्र का विछोह उसे विनम्र बनाएगा। वह यहाँ आपके चरणों में अपना शीश झुकाने आएगा। यदि संभल गया तो अच्छा यदि नहीं तो जैसा आपने सोचा है वैसा करें।

अनन्तदेव : वाह! आज पहली बार मेरे निर्णय को स्वीकृति मिली है। अब तक पुत्रप्रेम-वश, तुम सदा मेरे विचार का विरोध करती रही हो।

सूर्यमती : मुझे विश्वास है कि अब वह हमें भरमाएगा नहीं *(विराम)* रात का प्रथम प्रहर बीतने को है। चलिए भीतर चलते हैं। मैं भोजन का प्रबंध कराती हूँ।

(सूर्यमती तथा हर्षदेव भीतर जाते है)

अनन्तदेव : *(भीतर जाते-जाते ब्राह्मणों की ओर मुड़कर)* आप भी विश्राम करें तथा हमें रात्रि भोज की आज्ञा दें।

(अनन्तदेव सीढ़ियाँ चढ़ते हैं। सभी ब्राह्मण प्रस्थान करते हैं। तभी तीसरा ब्राह्मण वापिस आता है)

तीसरा ब्राह्मण : राजन! कृपया रुकें।

(बाक़ी ब्राह्मण वापिस आते हैं। राजा सीढ़ी के आख़िरी पायदान पर पहुँचकर मुड़ जाते हैं)

राजन! लगता है कुछ व्यक्ति इधर ही आ रहे हैं। जैसे कोई . . .

शेष ब्राह्मण : जैसे कोई ब्राह्मण हो।

अनन्तदेव : कौन से ब्राह्मण?

दूसरा ब्राह्मण : राजन! ये चक्रधर के पारिषद्-ब्राह्मण हैं।

(पारिषद्-ब्राह्मण दो लुकाठियाँ लिए प्रवेश करते हैं। उनके कंधों पर तह कर रखी लोइयाँ हैं। प्रत्येक के बाँए हाथ में एक कमण्डल भी है। वे एक स्वर में आह्वान करते हैं)

पारिषद-ब्राह्मण : रक्षा करें। हे चक्रधर स्वामी रक्षा करें! कृपा करें हे विजयेश्वर स्वामी कृपा करें!

(दोनों सारे मंच पर घूमते हैं। फिर घुटनों के बल बैठकर, राजा अनन्तदेव से संबोधन करते हैं)

पहला पारिषद-ब्राह्मण : हे राजर्षि! केवल आप ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो इस देश की भितराती नैया को किनारे लगा सकते हैं।

दूसरा ब्राह्मण : हे राजन! अब एक अश्वमेघ-यज्ञ जैसा कर्म करें। अपने राजपुत्र से संधि करें जिससे कि लोक अपवाद का अंत हो।

पहला पारिषद-ब्राह्मण : हे स्वामी! कैसे वर्णन करें कि भक्तजन कितने भयभीत हैं। वे मंदिरों, देवस्थानों एवं संघों में जाने से बचते हैं। शंकित हैं कि कहीं कोई किसी प्रकार की हानि न पहुँचाए।

दूसरा पारिषद-ब्राह्मण : अब हमारे मंदिरों में दान, दक्षिणा और चढ़ावा पहले जितना नहीं चढ़ता।

पहला पारिषद-ब्राह्मण : हे प्रजापालक! कुल-मर्यादा के अनुसार मनाए जाने वाले विवाहों, उत्सवों आदि में पहले जैसा उल्लास नहीं।

दूसरा पारिषद-ब्राह्मण : लोकपाल! अब तो केवल एक ही उपाय है। वह यह कि आप में और कलशदेव में मेल हो। यदि ऐसा न हुआ तो आने वाला समय राजा और प्रजा के लिए विकराल रूप धारण करेगा।

अनन्तदेव : हे पारिषद-ब्राह्मणो! हमने कौन-सा युद्ध किया है जो अब संधि करें। मैं यहाँ विजयेश्वर के चरणों में वृद्धावस्था के दिन पूरे कर रहा हूँ। आप यहाँ क्यों आए? यह सब उससे जाकर कहें जो कश्मीर का राजा है। कलशदेव के पास जाएँ।

(पारिषद-ब्राह्मण दो दिशाओं में जाते हैं)

पहला पारिषद-ब्राह्मण : पितामह! राजधानी में नगर के सभी ब्राह्मण राजभवन की ड्योढ़ी के सामने अनशन पर बैठे हैं। उन्होंने राजा से कहा है कि वह आपके चरणों में गिरकर प्रार्थना करें।

अनन्तदेव : तो क्या राज्य के ब्राह्मणों ने अनशन आरम्भ किया है? कलशदेव उनकी बात मानेगा? असम्भव!

दूसरा पारिषद-ब्राह्मण : अनशन पर बैठे ब्राह्मण अपने प्राण त्याग देंगे यदि कलशदेव यहाँ आकर आपके चरणों में गिर कर आपसे क्षमा माँग कर आपको राजधानी न ले चलें और हम . . .

अनन्तदेव : और आप . . ?

दोनों पारिषद-ब्राह्मण : हम भी आपकी ड्योढ़ी पर अनशन आरंभ करेंगे। जो तब तक ज़ारी रहेगा जब तक कि आप कलशदेव को क्षमा न करें। वापिस राजधानी न लौटें।

अनन्तदेव : हे पारिषद-ब्राह्मणों! किसने आपको उकसाया है या फिर उत्कोच लेकर आप यहाँ आए हो। मैंने कोई अपकार नहीं किया है। आप इस देवस्थान पर आकर अनशन क्यों आरम्भ करेंगे। जाइये अनशन का यह स्वांग कलशदेव के सामने रचाइए। प्रायश्चित उसे करना चाहिए जिसने अत्याचार किया हो। रात्रि हो चली है। किसी धर्मशाला में विश्राम करिए और कल सूर्योदय के साथ ही नगर की ओर प्रस्थान करें। विजयेश्वर स्वामी आपका कल्याण करें।

(अनन्तदेव मुड़कर भीतर जाने लगते हैं)

पहला पारिषद-ब्राह्मण : महाराज! जैसा हमने कहा वैसा ही करेंगे। अथवा आप, पिता-पुत्र प्रतिकूलता त्यागें। कलह दूर करें। नहीं तो हम अभी इसी क्षण अपना अनशन [illegible] करेंगे। निराहार राम-राम पट पहने यहीं बैठे रहेंगे।

दूसरा पारिषद-ब्राह्मण : ऊँ नमः शिवाय! ऊँ नमः शिवाय!

(पारिषद-ब्राह्मण यही मंत्र पढ़ते हैं। अपना-अपना कमंडल पटकते हुए अपनी-अपनी छड़ियाँ नीचे रखकर बैठते हैं। कोरस का प्रत्येक व्यक्ति दो पारिषद-ब्राह्मणों के ठीक पीछे खड़ा हो जाता है)

वरिष्ठ ब्राह्मण : राजा अनन्तदेव! आप पुरानी सब बातें भूलकर इन ब्राह्मणों का प्रयोजन सिद्ध करें।

अनन्तदेव : आप अनशन पर बैठें। सत्याग्रह करें या उपवास। निर्णय तो कश्मीरमंडल का राजा ही लेगा ना। अर्धरात्रि होने को है। मुझे अन्न-जल ग्रहण करने दें। क्यों मन और शरीर को पीड़ा देते हैं आप। जाइए, जाकर विश्राम कीजिए।

(अनन्तदेव भीतर जाते हैं। पारिषद-ब्राह्मण ऊँ नमः शिवाय शब्द का जाप प्रारंभ करते है। ऊँ के साथ-साथ ही नमः परमेश्वरायः भी कहते जाते हैं।

ब्राह्मणों का कोरस चिंतापूर्ण इधर-उधर घूमने लगता है। कुछ क्षणों पश्चात अश्व के टापों की ध्वनि सुनाई देती है। यह सुनते ही कोरस इकट्ठा होता है और बाहर झाँकने लगता है। जब अश्व के टापों की ध्वनि समीप से सुनाई देती है तो वरिष्ठ ब्राह्मण कुछ कहने को आगे बढ़ता है।)

वरिष्ठ ब्राह्मण : नाम जपना बंद कर दीजिए। यह ध्वनि सुनिए।

(ऊँ नाम का जाप बंद होता है)

दूसरा ब्राह्मण : कहीं कोई शत्रु तो नहीं आया है और हमारे द्वारपाल निद्रा में ही पड़े हैं।

तीसरा ब्राह्मण : सतर्क रहें। चेतें और सुनें।

(सारा कोरस प्रवेश द्वार की ओर देखने लगता है। पारिषद ब्राह्मण चिंताकुल एक दूसरे को देखने लगते हैं)

पहला ब्राह्मण : देखें। लूकाओं का प्रकाश इसी दिशा में बढ़ रहा है। संभवतः कोई राजपुरुष इधर ही आ रहा है। रक्षक और पैदल सैनिक साथ हैं।

दूसरा ब्राह्मण : अश्वारोही तथा रथी इसी दिशा में बढ़ रहे हैं। कोई आक्रमण तो नहीं। सम्भवतः रुक गए हैं। अश्वारोही अपने घोड़ों की पीठ से उतर रहे हैं। लूकाओं को संभाल कर इधर ही आने लगे हैं।

तीसरा ब्राह्मण : कोई छत्रधारी राजपुरुष इधर ही आ रहा है।

पहला ब्राह्मण : अरे! यह तो स्वयं राजा कलशदेव हैं।

पारिषद-ब्राह्मण : क्या राजा कलशदेव आ गए हैं?

शेष ब्राह्मण : वही हैं! वहीं हैं। स्वयं कलशदेव।

(कोरस एक तरफ़ खड़ा होता है। पहले दो सेवक लूकाएँ लेकर प्रवेश करते हैं और फिर राजा कलशदेव आते हैं। तदंतर भाला लिए कुछ रक्षक, छत्र लिए कुछ सेवक एवं क्षीरभूप प्रवेश करते हैं। कलशदेव दोनों हाथ ऊपर उठाये द्वार से ही बोलते हुए आते हैं)

कलशदेव : हे पिता! मेरे अपराध क्षमा करें। हे पिता! हे माता!

(विजयेश्वर की सीढ़ी के पायदान पर माथा टिकाता है)

कलशदेव : हे माता! म-ा-त-ा अपने एकमात्र पुत्र को क्षमा करें। अपराध क्षमा।

वरिष्ठ पारिषद-ब्राह्मण : हे कलशदेव! यदि आप अपने पिता के चरणों में नहीं गिरेंगे तो हम यहीं पर, अनशन पर बैठेंगे। तब फिर हमारी ब्रह्म-हत्या का पाप आप पर चढ़ेगा।

(क्षीरभूप भीतर जाता है)

कलशदेव : जो आप कहें वो मुझे स्वीकार है किन्तु आप मेरे देवस्वरूप पिता को राजधानी

लौटने के लिए मना लें। हे पिता! हे माता!

(वह अपना माथा फिर से सीढ़ियों पर रख देता है)

हे माता! अपराधी हूँ। मैंने आपकी नींद उचाट दी है। क्षमा। क्या मेरी पुकार आपके कानों तक नहीं पहुँच रही है? कोप त्याग दें और मेरी विनती सुनें। हे माता! मा . . . ता . . .

(रानी सूर्यमती अपनी सेविकाओं नोनिका और वल्गा के साथ प्रवेश करती हैं। ग़ुस्से में हैं। साथ में क्षीरभूप भी है)

सूर्यमती : कौन? कलशदेव! वे कुसंगी तुम्हारे मित्र कहाँ हैं? कौन-सा छल करने आए हो?

क्षीरभूप : माता! इन्हें अकेले ही यहाँ आने दिया गया है। इनके साथी सहयोगी संगम के उस पार हैं।

(सूर्यमती मध्य-मंच की ओर आती है)

कलशदेव : *(माता के चरणों पर सिर रखकर)* क्षमा माता क्षमा। मैं विनीत आपके चरणों में पड़ा हूँ। माँ! तुम्हारा पुत्र हूँ। मेरा हाथ पकड़ मुझे दिशा दें। राज और राजश्री छोड़ कहाँ इस धर्मशाला में बैठे हैं आप। राजधानी चलें।

सूर्यमती : कौन-सा अपराध क्षमा करें? राजा प्रजा-पालक होता है। जो आपके माता-पिता का पालन नहीं कर सकता वह प्रजा की रक्षा क्या करेगा।

कलशदेव : मुझे अनुचित सलाह मिलती रही। मुझे यूँ बेसहारा और असहाय न छोड़ें।

(कलशदेव अपना वक्ष और माथा पीटता है)

कलशदेव : हाय! कितना दुख दिया है मैंने आपको। पर माता मैं तुम्हारा पुत्र हूँ। माता, क्षमा करें।

सूर्यमती : क्षमा तुम्हें! जिसने राज-त्यागे पिता पर आक्रमण करने का साहस किया! तुमने ओछे व्यक्तियों को धन देकर हमारे सगे-संबंधियों के घरों पर हल्ला करवाया! राजा होकर भी तुम अपने अनाचार, दुराचार के लिए प्रजा में अप्रिय हो। तुम्हें क्षमा करें? एक अपराध होता तो क्षमा भी करते। कौन-सा अपराध क्षमा करें?

(सूर्यमती उत्तेजित हो, बोलते-बोलते, मंच की सभी दिशाओं में जाती हैं)

जो प्रजा का दुख-दर्द नहीं जाने। क्या वह राजा कहने योग्य है? जो राजा केवल विलासिता जानता हो क्या उसे राजा कहें?

(धीरे-धीरे बोलने लगती है और फिर रोने लगती है)

जो राजा सभी मर्यादाएँ तोड़कर, रीतियों, रस्मों, संस्कारों को तिलांजलि दे, कहो—क्या वह राजा हो सकता है?

कलशदेव : माता, मैं दोषी हूँ। मैंने कई अपराध किए हैं। आप अभी इसी क्षण मेरा गला घोंट दें। मैं उफ़ न करूँगा। न जाने कितने ब्राह्मण, चक्रधर, अवंतीपुर, परिहासपुर तथा श्रीनगर में अनशन पर बैठे हैं। माता, चलें वापिस चलें। घर चलें।

सूर्यमती : कैसा घर? घर वहाँ होता है जहाँ माता-पिता, बहू-बेटियाँ, बंधु-जन मिलकर अन्न-पानी लेते हों, हँसते-बोलते हों, उत्सव मनाते हों। मेरा घर वैसा कहाँ। जहाँ षडयंत्र रचे जाते

हों। जहाँ श्वास लेते समय भी जान हथेली पर रखनी पड़े। जहाँ अपनी इच्छा और विचार भी अपने वश में न हों। जहाँ झूठी चर्चाएँ, निंदा व दुराचार ने राजा की बुद्धि भ्रमित की हो उस राजधानी की ओर कौन लौटे? कहो कौन लौटे?

(सूर्यमती अपने अश्रु पोंछती हैं। दोनों दासियाँ आकर पास में बैठती हैं। कलशदेव सिर झुकाते हुए आता है और फिर से सूर्यमती के चरणों में अपना शीश रख देता है)

कलशदेव : माता! मैं तुम्हारे चरण पकड़ता हूँ। मेरा हर्ष घर छोड़ कर चला गया है। न जाने वह कहाँ होगा। कहीं कोई शत्रु उसे हानि न पहुँचाए।

(अनन्तदेव नंगी तलवार लेकर प्रविष्ट होते हैं। वे चुपचाप देखने लगते हैं। उनकी ओर किसी का भी ध्यान नहीं जाता)

सूर्यमती : आज तुम्हारे मन में पुत्र के जाने से टीस उठ रही है। तुम्हारे माता-पिता को भी तो इसी पीड़ा का दंश सहना पड़ा होगा। तुम्हारे पुत्र-मोह में तुम्हारी चिंता, शंका, कसमसाहट क्या हमारी पीड़ा से कहीं अधिक है। आज तुम्हें वेदना का अनुभव हो रहा है, क्योंकि तुम्हारा अपना पुत्र तुमसे दूर चला गया है। हमारा भी तो . . .

कलशदेव : माता, मेरा हर्ष कुशल से हो। उस पर कोई संकट न आने पाए।

सूर्यमती : हर्षदेव को तुम्हारे घर से आने के लिए मैंने ही संदेश भेजा था। उसका हम राज्याभिषेक करेंगे। तुम राजा बने रहने योग्य नहीं हो।

कलशदेव : क्या! . . . हर्षदेव यहाँ है। हे अमरेश्वर! हे महादेव! हे शम्भू!

(अनन्तदेव ठहाका लगाते हैं)

अनन्तदेव : हा-हा-हा . . . कश्मीरमण्डल का राजा अब प्रभु का नाम भी लेने लगा है।

कलशदेव : हे पिता! आपके चरणों में मेरा प्रणाम। शत-शत प्रणाम।

(अनन्तदेव धीरे-धीरे नीचे आते हैं)

अनन्तदेव : तुम्हें पुत्र कहूँ। शत्रु कहूँ कि मित्र कहूँ। क्या कहूँ? हाय मेरा दुर्भाग्य! कितने उत्साह से मुहूर्त विचार कर तुम्हारा नाम कलश रखा था। मंदिरों का शीर्ष। धर्म तथा न्याय का शेखर। गागर में सागर। किन्तु तुम क्या बने। संकट-कलश।

कलशदेव : हे पिता! जो भी चाहें कहें, मुझे पथ-भ्रष्ट किया गया। मैं अपने और पराये की पहचान खो बैठा। मैं याचक बन आया हूँ। क्षमा करें।

अनन्तदेव : कहीं तुम्हारी माता ने तुम्हें किसी गुप्त संदेश से तो नहीं बुलवाया है?

सूर्यमती : नहीं। मैंने कोई संदेश नहीं भेजा। मैं क्यों इसे बुलवाती?

अनन्तदेव : फिर यह यहाँ कैसे? यह तो हमारे साये तक से घृणा करता है।

कलशदेव : हे पिता! मैं ब्रह्महत्या का दोषी हो जाऊँगा। यदि अनशन पर बैठे किसी भी ब्राह्मण को कुछ हुआ। हे पिता! हे माता! आइए, घर लौट चलें।

अनन्तदेव : और जो हत्याएँ अब तक करवाते आए, उनका दोषी कौन होगा?

कलशदेव : मैं प्रायश्चित करूँगा। किन्तु आप मेरी बात पर विचार करें। घर चलें।

अनन्तदेव : कैसे तुम्हारी बातों पर विश्वास करें। जिस माता-पिता की शीतल छाया में तुम प्रजा-प्रिय बनते उस जनक-जननी को निष्कासित किया। कैसे तुम पर विश्वास करें। चापलूसों की मंडली से घिरे हो। उनसे मुक्त होते तो आते प्रायश्चित करने। आज क्यों

आए हो?

कलशदेव : क्षमा करें। यह मेरा मुकुट लें। जो स्वयं आपने मेरे सिर पर रखा था। आप जिसे चाहें उसका राज्याभिषेक करें। चाहे हर्ष को यह मुकुट दें या थकन को। मेरा उससे कोई सरोकार नहीं। परन्तु राजधानी लौट चलें। राजभवन आपके बिना सूना है। आपके चरणों में यह मुकुट रख रहा हूँ। आप मेरे अपराध क्षमा करें।

सूर्यमती : इस मुकुट की खातिर मैंने कितने ही दुख . . .

(सभी ब्राह्मण उठ खड़े होते हैं और तीन दिशाओं में बढ़ते हैं। वरिष्ठ ब्राह्मण मध्य में खड़े रहते हैं)

वरिष्ठ ब्राह्मण : हे पितामह! हे राजमाता! प्रायश्चित करने स्वयं चला आया है। अपराधों की क्षमा माँगने आया है। चरणों में पड़ा है। इसे क्षमा करें।

दूसरा ब्राह्मण : शरणागत को क्षमा करना आर्य-रीतियों के अनुकूल है।

तीसरा ब्राह्मण : देखिए। कैसे अपना मुकुट आपके चरणों में रखकर लज्जित है।

दूसरा ब्राह्मण : क्षमादान, महादान होता है। शांत मन से इसके अपराध क्षमा करें।

पहला ब्राह्मण : हे पितामह! करें क्षमा इसे तथा वापिस अपनी राजधानी श्रीनगर लौटने को उद्यत हों। इससे इन परिषद-ब्राह्मणों का अनशन समाप्त हो जाएगा।

अनन्तदेव : किसे क्षमा करूँ? उस पुत्र को जिसे राज और ताज सौंप आया था अथवा उस शत्रु को जिसने राजगृह त्यागने पर विवश किया। किसे क्षमा करूँ? किसे?

(अनन्तदेव तलवार आकाश की ओर उठाते हुए भीतर जाने लगते हैं। पारिषद ब्राह्मण और कोरस मंच का चक्कर लगाते हुए शांति पाठ पढ़ने लगते हैं)

राजस्वस्ति प्रजास्वस्ति देशस्वस्ति तथैव च यजमानगृह स्वस्ति . . .
ऊँ शान्ति। शान्ति ।। शान्ति ।।।

(प्रकाश धीरे-धीरे लुप्त होने लगता है)

अंक तीन

(विजयेश्वर मंदिर का वही चबूतरा। धर्मशाला का वही प्रांगण। प्रकाश होते ही दो घाट-मज़दूर (श्रमिक) भवन से बाहर आते हैं। वे अपने वस्त्र झाड़ते हैं। उनके कंधों पर तह लगी लोईयाँ रस्सी से बंधी हैं। टाँगों पर ऊनी पट्टियाँ लिपटी हैं। हाथों में सहारा देने वाली लाठियाँ हैं। लगता है जैसे वे अभी-अभी बहुत-सा सामान भीतर रख के आए हैं।)

घाट मज़दूर-1 : छः डोंगियों में लाया गया सामान तड़के से ढो रहे हैं। हम एक साथ नहीं होते तो यह सारा सामान धर्मशाला के तहखानों और कोठरियों में नहीं जाता।

घाट मज़दूर 2 : भई मुझे तो लगता है कि अब की बार ये लोग मरण-घड़ी तक यहीं रहेंगे। है ना?

घाट मज़दूर 1 : कहो। चुप क्यों हो गए?

घाट मज़दूर 2 : *(भीतर देखते हुए)* अरे यह अड़ंगा तो तीन पीढ़ियों का है। एक को राज त्यागने का दुख है तो दूसरा राजा होकर भी राज नहीं चला पाता। खुलकर मजे लूट रहा है। और तीसरा है कि गद्दी पर बैठने को उतावला।

घाट मज़दूर 1 : अरे बीच में उलझी पड़ी है रानी। न अपने पति को ही कुछ समझा पा रही है और न बेटे को ही। है भी तो जटनी जैसी। जैसी आवाज़ वैसी शक्ल। देव भाषा भी जानती है और देश भाषा भी। गुणी लोग आगे-पीछे डोलते हैं। मगर भाग्य का फेर कैसे मिटाएगी?

घाट मज़दूर 2 : असल बात तो यही है भैया, अगर राजघरों के लोग अलग-अलग नगरों में नहीं बसेंगे तो हम क्या करेंगे। हमारी कमाई कैसे होगी। हा! हा! हा!

(पोटली दिखाता है दोनों हँसते हैं)

घाट मज़दूर 1 : एक पहर में ही छः डोंगियाँ और एक भरी नाव खाली करके विजयेश्वर का यह भवन सोने-चाँदी से भर दिया है। क्यों मैंने ठीक कहा?

घाट मज़दूर 2 : हाँ। और फिर मूर्तियाँ, युद्ध-अस्त्र और कितना कुछ हमने ढोया। मैं तो हैरान हूँ कि यह लोग अगर इतना यहाँ लाए हैं तो, वहाँ राजधानी में कितना कुछ छोड़ आए होंगे।

घाट मज़दूर 1 : राजघराने की विभूति कभी राजभवन में घुसी भी है? नगर कभी देखा भी नहीं होगा और आज अपनी आँखों से इतना कुछ देखा। बोल, हिरस तो नहीं गया?

(दोनों हँसते हैं।)

घाट मज़दूर 2 : क्यों भला। अपना साग-भात चलता रहे बस उसी में मस्त हूँ?

घाट मज़दूर 1 : अरे चुप। वो देखो बतियाने वाले ब्राह्मण आ रहे हैं। बस अब चुपके से खिसक जाओ।

घाट मज़दूर 2 : हाँ, हाँ, चलो। कहीं ये किसी बेगार में लगाएँ तो मारे जाएँगे।

(ब्राह्मण प्रविष्ट होते हैं तो घाट-मजदूर प्रस्थान करने लगते हैं।)

वरिष्ठ ब्राह्मण : क्या तुम भीतर से आ रहे हो? कहो कौन-कौन आया है नगर से? सुना है पितामह अनंतदेव फिर से नगर त्याग आए हैं?

घाट मज़दूर 1 : महाराज, आपने ठीक ही सुना है। वे आए हैं, महारानी सूर्यमती आई हैं।

घाट मज़दूर 2 : तनवंगराज के दोनों बेटे . . . और कुछ राजपुरुष।

घाट मज़दूर 1 : हमें जानें दें। प्रभातकाल से घाट के फेरे लगा रहे हैं।

(प्रस्थान)

कोरस : जाओ। विजयेश्वर स्वामी तुम लोगों को बल दें।

ब्राह्मण 2 : ऐसी है राजघरों की स्थिति तो आम जनों का क्या होता होगा। जब पिता-पुत्र में भेद बढ़ता होगा। हम ब्राह्मणों ने भी अपने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था। हम अनशन पर बैठे थे। परन्तु क्या हुआ?

ब्राह्मण 3 : कलशदेव यहाँ माता-पिता से क्षमा माँगने आया। राजा और रानी से हमने विनती की कि उसे क्षमा करें।

ब्राह्मण 2 : परन्तु वह नट। झूठा, स्वांग रचैया। क्षमा माँगते समय आँसू बहाने लगा था। हाथों में मुकुट लिए गिड़गिड़ाया था।

ब्राह्मण 1 : तब उसने क्या-क्या नहीं कहा था। जैसा माता-पिता कहेंगे वैसा करूँगा। कुसंग

त्याग दूँगा। बिज्ज, पिठराज और जयानंद को देश-निकाला दे दूँगा।

दूसरा ब्राह्मण : प्रजा के दुख-दर्द मिटाने के कार्य करूँगा। धर्म कार्यों को प्राथमिकता दूँगा।

तीसरा ब्राह्मण : इतना झूठ! ऐसी छल-विद्या और स्वांग रचना सबको तो नहीं आता। यही है कलि-काल की चतुराई।

(सभी ब्राह्मण अलग हो जाते हैं)

ब्राह्मण 1 : याद तो होगा आपको कि कैसे आज से केवल ढाई मास पूर्व, इसी विजयेश्वर पीठ से पूरा राज-परिवार यात्रा के रूप में नगर की ओर लौट चला था।

ब्राह्मण 2 : प्रजा भी उस दिन कितनी प्रसन्न थी। हर दिशा से जयकार की गूँज हो रही थी। छोटे क्या बड़े, सभी घरों से निकल आए थे। मार्ग के दोनों ओर सभी खड़े थे। फूल, शीकनी और खील की वर्षा हो रही थी। संगम तक बस ऐसा ही दृश्य था।

ब्राह्मण 3 : इन बातों का स्मरण करने से क्या लाभ। यह जानने का प्रयास करें कि अनंतदेव अबकी बार राजधानी त्याग कर क्यों आए हैं?

ब्राह्मण 1 : किसे पूछें? कौन बताए? राजपरिवार का कोई व्यक्ति, राजा अनंतदेव के साथ रहने वाला कोई राजपुरुष या पक्षधर . . .

ब्राह्मण 2 : देखिए! भीतर से कोई बाहर आ रहा है। संभवतः थकन। तनवंगराज का पुत्र। हाँ वही है।

थकन : ब्राह्मणों को मेरा नमस्कार। सुनें! आज पितामह अनंतदेव और पितामही सूर्यमती तुलादान करेंगे। इस कारण आप विजयेश्वर के सभी ब्राह्मणों, दीन-दुखियों और अनाथों को सूचित करें कि वे संध्या से पहले ही यहाँ आएँ और झोली भर के धन ले जाएँ।

कोरस : क्या वे विजयेश्वर इसी प्रयोजन से आए हैं? सारी संपदा, संपत्ति और धन दान करने के लिए।

थकन : वे यहाँ सदा के लिए वास करने आए हैं। क्यों आप लोग जानते नहीं?

कोरस : महाराज, जानते तो फिर आपसे पूछते क्यों?

थकन : राजा कलशदेव, माता-पिता को राजधानी ले गए थे कि ब्राह्मणों का मान रहे और वे अपना अनशन तोड़ें। इस बहाने वे अपने माता-पिता को मृत्यु-पर्यन्त बंदी-गृह में रखना चाहते थे, ताकि राजकाज अपनी इच्छा अनुसार चला सकें। जयानंद जब उन्हें बंदी बनाने की योजना बनाने लगा तभी राजा अनंतदेव और महारानी सूर्यमती ने अपने पक्षधर सतर्क किए। रात के अंधेरे में सारी गृह-सम्पत्ति छः डोंगियों में लदवा कर राजभवन त्याग आए। उनसे सहानुभूति रखने वाले रथी और पैदल सैनिक वितस्ता के किनारे-किनारे छः दिनों तक चलते रहे। मनौति की थी कि विजयेश्वर पहुँचते ही तुलादान करेंगे। धन और दान ब्राह्मणों, दीन-दुखियों और अनाथों में बाँटेंगे।

सभी ब्राह्मण : हे विजयेश्वर स्वामी! इतना दुराचार, इतना अंधकार!! विश्वास और सत्य डगमगाने लगा है।

थकन : आप यही रुकें। मैं सारे विजयेश्वर में घोषणा करा दूँगा कि दरिद्र-जन आएँ और दान-दक्षिणा ले जाएँ।

(प्रस्थान)

ब्राह्मण 1 : दान करना भी एक सत्कर्म है।

ब्राह्मण 2 : वह धन पर्याप्त कहाँ जिसका व्यय न हो।

ब्राह्मण 3 : और यह राजत्यागी अनंतदेव यहाँ आकर वही कर रहे हैं जो धर्म-श्रेय है। तुलादान।

ब्राह्मण 1 : विजयेश्वर स्वामी इनके रक्षक हैं। उस स्वांग रचैया छद्मी से छुड़वाया। नहीं तो इस समय पाँव में बेड़ियाँ पहने बंदी-गृह में होते।

ब्राह्मण 2 : विजयेश्वर स्वामी की माया देखिए। भीतर से कोई बाहर आ रहा है। ओ, यह तो क्षीरभूप हैं।

क्षीरभूप : विजयेश्वर के ब्राह्मण अपना-अपना भोगाधिकार स्वीकार करें।

(दो चार सेविकाएँ छोटी-छोटी टोकरियाँ लेकर आती हैं)

जाओ और यह धन विजयेश्वर के घाटों, ढूंगरियों, गलियों, मार्गों और चौराहों पर बाँट कर आओ।

(ब्राह्मण अपनी-अपनी कमर से बंधा पट्टा खोलते हैं। उसमें मुट्ठी भर धन रखकर, पट्टा फिर से बाँधते है)

क्षीरभूप : *(सेवक-सेविकाओं से)* एक-एक मुट्ठी प्रत्येक दरिद्र को मिले। यदि कोई भूखा हो तो उसे बड़ी ड्योढी पर आने को कहें। वहाँ उन्हें तहरी और दाल मिलेगी।

(सेवक जाते हैं। क्षीरभूप ब्राह्मणों में एक-एक मुट्ठी मुद्राएँ बाँटते हैं। उसी समय तहरी (पीले चावलों) से भरे थाल और दाल से भरे पात्र लिए सेवक आते हैं)

हर एक श्रद्धावान पुरुष या स्त्री, छोटे अथवा बड़े में बाँटें। साथ ही देख लें कि कहीं कोई मित्र रूपी शत्रु तो नहीं घुस आया है।

(सेवकों का प्रस्थान)

(राजा अनन्तदेव और महारानी सूर्यमती प्रविष्ट होते हैं)

सूर्यमती : क्षीरभूप! क्या यह सारा धन दीनों, अनाथों और दरिद्रों में बँट गया?

(दो सेविकाएँ ख़ाली टोकरियाँ लिए प्रवेश करती हैं)

कोरस : विजयेश्वर स्वामी राजऋषि की व्याधि दूर करें। चक्रधर स्वामी राजऋषि का संकट दूर करें।

पहली सेविका : माता! विजयेश्वर के घाट पर सभी मांझियों, दासों और नाविकों में धन बाँटा। मलाहिनें ओढ़नी हाथों में उठा-उठा कर आशीष दे रही थीं तो दास और नाविक हाथ उठा-उठा कर आशीर्वचन बोल रहे थे।

दूसरी सेविका : हर दूसरे पग पुत्रियों की माताएँ मुद्राएँ लेने खड़ी थीं। ओढ़नियाँ फैला-फैलाकर उन्होंने सिक्के लिए।

कोरस : हे राजऋषि! प्रभु आपको मन की शांति दे और चित्त की दुविधा दूर करें।

सभी : तथास्तु!

(ब्राह्मणों का कोरस जाता है। तभी कुछ स्त्रियाँ व बालक रोते-बिलखते प्रवेश करते हैं)

क्षीरभूप : इस समय। यह किसका रुदन!

स्त्री-1 : महाराज अनर्थ!! हे परमपिता हम लुट गए हैं, हमारी रक्षा करें।

अनंतदेव : क्या हुआ! कैसा अनर्थ?

(सूर्यमती स्त्रियों के समीप आती हैं)

सूर्यमती : क्या हुआ है! बोलो? क्या हुआ है?

अनन्तदेव : हे महादेव! ऐसा किसने किया?

स्त्री-2 : माता क्या कहूँ। विधवा बनाया है मुझे। मेरे नवसर पति को ज़िंदा ही जलाया।

साथ आया पुरुष : पितामह! शाहकुमार पिट्ठराज के चाटुकारों ने इसके घरवाले को पेड़ से लटकाया और फिर जला डाला।

सूर्यमती : कौन? नाम क्या है? . . . कहाँ हुआ यह?

साथ आया पुरुष : माता! क्या कहूँ। किस मुँह से कहूँ। इसके पति और आपके प्रहरी भद्रदेव को दस लोगों ने घेरा। रस्सी से पूरा शरीर बाँध दिया। फिर घोड़े से लटका के नगर से उसके गाँव लाया और वहाँ पेड़ से उलटा लटका दिया। शरीर पर घास और लूकाएँ बाँधकर नीचे अलाव जलाया। और फिर सभी गाँव वालों को यह दिखलाने के लिए पुकारने लगे।

अनन्तदेव : . . . त्राहि . . . त्राहि!

सूर्यमती : कौन? ऐसा भद्रदेव? जो भरोसेमन्द था। सीधे स्वभाव का था, सज्जन सेवक था।

अनन्तदेव : उसका अपराध क्या था?

साथ आया पुरुष : महाराज, चिल्ला-चिल्ला कर उन लोगों ने पूरा गाँव इकट्ठा किया और कहने लगे देखो-देखो अनन्तदेव का पक्ष लेने का परिणाम। महाराज! उन्होंने भद्रदेव के मुँह में कपड़ा ठूँसा था। उस अग्निदाह में केवल भद्रदेव की छटपटाती टाँगें नजर आ रही थीं।

अनन्तदेव : वे परवंशी, शरणागत राजकुमार, मनुष्य हैं या महाकाल के दूत!

पुरुष : महाराज! वे कहते थे कि भद्रदेव ने आपको नगर से यहाँ आने में सहायता की थी।

स्त्री एक : हे राजन! पशुओं के लिए रखी हुई घास के अम्बार में भी आग लगा गए।

अनन्तदेव : आग लगाने और व्यक्तियों को मारने की यह युक्तियाँ इन्होंने परधर्मी दुष्टों से सीखी हैं, जिससे कि प्रजा आतंकित हो और उनके कुकर्मों के प्रति कोई एक शब्द भी न बोल सके।

क्षीरभूप : महाराज! इसी कारण वे राजधानी में आपका वास नहीं चाहते थे।

अनन्तदेव : *(एक वैरागी की भाँति)* यह कलशदेव है या कंस का प्रतिरूप! कौन वासुदेव कृष्ण जन्म लेगा और इससे मुक्ति दिलाएगा!

सूर्यमती : यह आप क्या कह रहे हैं? किनके सामने। निज शाहकुल के पुत्रों को आपने लाड़ से पाला है, यह उन्हीं का कृत्य है। कलशदेव को तो सुध तक नहीं होगी।

अनन्तदेव : क्या यह आठों पहर बेसुध पड़ा रहता है। उसके राज में दुष्ट अधिकारी क्या कर रहे हैं इसके उसे ख़बर ही नहीं। यदि नहीं खबर तो वह राजा कैसा।

स्त्री-2 : हाय! इन नादान, भोले बच्चों को लेकर कहाँ जाऊँगी। माता! इनका अब पालन कौन करेगा?

सूर्यमती : नोनिका! नोनिका!

(सेविकाओं में से एक सामने आती है)

नोनिका : राजमाता! आदेश।

सूर्यमती : भद्रदेव की पत्नी को एक सहस्र मुद्राएँ दो जिससे यह अपना घर संभाले। अपनी संतति का पालन कर सके।

नोनिका : माता! अभी लाती हूँ।

(प्रस्थान)

अनन्तदेव : क्षीरभूप! क्या दोष था भद्रदेव का? कौन-सा राजद्रोह किया था? राजधानी में हमारा प्रहरी था परन्तु वेतन कलशदेव से पाता था। उसका सेवक था। अपने ही सेवक को जलवाया। त्राहि! त्राहि!! हे विजयेश्वर स्वामी! क्या यही सब सुनने के लिए मैं यहाँ आया?

(जैसे सीढ़ियों पर गिरने लगे हों)

क्षीरभूप : राजन! शांत रहें।

अनन्तदेव : शांतिपूर्वक तुलादान किया। सोचा कि विजयेश्वर स्वामी की कृपा हो गई है। अब वृद्धावस्था के दिन सुख से कटेंगे, भक्ति में कटेंगे। किन्तु यहाँ संतप्त दुखी जन दुहाई देने आते हैं। *(गुस्से में मंच के दूसरी तरफ को जाते हैं।)* कैसे अपने अधिकार वापस लूँ? कौन-सा यत्न करूँ?

क्षीरभूप : पितामह! शत्रु, शत्रुता त्यागेंगे नहीं। इस कारण अब हमें विजय-क्षेत्र की रक्षा स्वयं ही करनी होगी।

अनन्तदेव : यही उचित होगा। क्षीरभूप आप, सूर्यचन्द्र, सेनट और क्षेमट अपने-अपने सेवकों को लेकर चारों दिशाओं का रक्षण करें। प्रजा से भी कहें कि वे अपनी सुरक्षा का ध्यान दें।

(अनन्तदेव फिर से सीढ़ियों पर बैठने लगते हैं, तभी नोनिका आती है।)

नोनिका : ये लीजिए एक सहस्र मुद्राएँ।

स्त्री-2 : मुझे छोड़ के जाने वाले मेरे भद्रदेव देख। तुम्हारे बलिदान की पूर्ति पा रही हूँ। अरे देख।

(रोने लगती है)

सूर्यमती : शांत हो जाओ। अपनी संतान का खयाल करो।

स्त्री-2 : हाँ करूँगी। राजघर की ड्योढ़ी पर खड़े रहते कैसे इनका पोषण होगा। राजपरिवार तो खुद भंवर में फँसा है। ऐ मेरे भरतार। किस पाप का दण्ड मिला है तुम्हें।

(नोनिका और सूर्यमती उसे सहारा देते हैं। मुद्राएँ देते हैं।)

(स्त्री पुरुष और बच्चों का प्रस्थान)

अनन्तदेव : यह देखने और सुनने से तो अच्छा था कि हम बंदी-गृह में पटुआ ओढ़े, नीरवता के गहन अंधियारे में आँसू बहाते, अपने कर्मों पर अनुपात करते। यहाँ और न जाने क्या-क्या देखना पड़े।

क्षीरभूप : हे राजन! आप हताश क्यों हैं?

अनन्तदेव : यह नरक-लीला देखकर विचलित होता हूँ। सारा मान और कीर्ति खण्ड-खण्ड हो जाती रही है।

क्षीरभूप : राजन! चलें। भीतर चलें। कुछ देर विश्राम करें।

(तभी खेमट, थक्कन और सेनट एक स्त्री और पुरुष को बंदी बनाये लाते हैं।)

सेनट और खेमट : जय हो राजऋषि!

पुरुष और स्त्री : जय हो, महाराज जय-जयकार!

अनन्तदेव : प्रणाम। यह किसको बंदी बना लाए हो?

सेनट : राजन! यह नट-नटी हैं। स्वांगी। किन्तु कैसे कहूँ कि यह कैसा स्वांग दिखा रहे थे।

अनन्तदेव : कैसा स्वांग?

सेनट : पितामह हमें लज्जा आती है।

क्षीरभूप : लज्जा तो पर्देदार करते हैं।

अनन्तदेव : अब पर्दे में रखने को रहा ही क्या है।

खेमट : यह दोनों आपको थक्क डामर जैसा और राजमाता को लड्डा धोवर-कन्या के जैसा प्रस्तुत करते हुए अपना स्वांग दिखा रहे थे। आपका उपहास कर रहे थे।

सूर्यमती : *(गुस्से में)* अच्छा! तो हम जीते जी ही लोगों के मनोरंजन के लिए इनके स्वांगों के पात्र बन गए हैं। क्या मैं लड्डा मांझिन जैसी हूँ?

स्वांगी : क्षमा माता। पिता क्षमा!

अनन्तदेव : इनके बंधन खोल दीजिए। यह कलावंत है। यदि इन्हें मैं थक्क डामर जैसा लगता हूँ तो जाकर इन्हें लोगों में इस बात का प्रचार करने दीजिए। जैसे हमारे कर्म और कृत्य होंगे वैसा ही तो यह कहेंगे। इन्हें जाने दीजिए।

सूर्यमती : नहीं। कभी नहीं। यदि हमारे जीवित रहते ऐसा नाटक खेला जा रहा है तो हमारे न रहते यह कैसा नाटक रचेंगे।

लोक कलाकार : *(पैरों में गिरकर)* माता! क्षमा! हमारा कोई दोष नहीं है।

सूर्यमती : यह झूठा स्वांग दिखा कर भी दोषी नहीं?

लोक कलाकार : माता! भय दिखाकर हमें राजभवन ले जाया गया और वहाँ आदेश मिला कि स्वांग रचाकर आपकी निंदा करें।

सूर्यमती : तो आप मान गए? प्रसन्न हो गए?

कलाकार : नहीं माता। हम माने नहीं थे। फिर उन लोगों ने हमें पीटना शुरू किया। हम तब भी नहीं माने। तब इतने कोड़े बरसाए कि पीठ पर निशान बन गए। ये देखिए।

(सेमट उसकी पीठ दिखाने लगता है)

तीरों की नोक चुभोई। जान बचाने के लिए जब हमने हाँ की तो बहुत-सा धन दिया और कहा, कि हम विजयेश्वर मेले में स्वांग रचाते हुए लड्डा मांझिन और थक्क डामर का बाज़ारी रूप आपकी नक़ल उतारते दिखाएँ।

नटी : भालाबरदार सैनिकों को हमारे पीछे लगा दिया। टोह लेने वाले गुप्तचर भी भेजे। हाय! हम क्या करते।

अनन्तदेव : क्या दिखाते थे?

नटी : वह बताने योग्य नहीं।

अनन्तदेव : वे गुप्तचर और भालाबरदार सैनिक कहाँ हैं?

कलाकार : महाराज! वे यहीं विजयेश्वर में छिपे बैठे हैं।

अनन्तदेव : छिपे रहने का कारण?

कलाकार : राजन! मेले में भाग लेने के लिए लोग कई स्थानों से आए हैं। हमारे साथ आकर वे गुप्तचर भी उन्हीं में मिल गए हैं।

सूर्यमती : ऐसे स्वांग कब से रचा रहे हो?

कलाकार : माता! केवल आज दिखाया। धन के लोभ में और सैनिकों के भय से।

सूर्यमती : और लोग हँस-हँस कर हमारी निंदा करते रहे होंगे?

कलाकार : माता! कहने लगे कि भगवतलीलाएँ बंद करके बस यही स्वांग दिखाओ।

अनन्तदेव : सेनट, खेमट और क्षीरभूप सावधान रहें। इन कलाकारों के साथ कलशदेव ने न जाने कितने कुकर्मी भेजे होंगे, जो अवश्य ही कोई न कोई हानि पहुँचाएँगे। सतर्क रहें।

सूर्यमती : *(नटी के पास जाकर)* क्या मैं लुड्डा मांझिन जैसी लगती हूँ? बोलो?

लोक कलाकार : आप राजमाता हैं। हम दीन-हीन, नट हैं। स्वांग दिखाकर अपना पेट पालते हैं। लेकिन जब तलवार की नोक पर राज्याधिकारी नाच नचाते हैं तो हम कला की सारी सूक्ष्मता भूल जाते हैं।

अनन्तदेव : इन्हें छोड़ दीजिए। यह जाकर भगवतलीलाएँ दिखायेंगे। आप लोग विजयक्षेत्र की रक्षा कीजिए।

(नट और नटी के बंधन खोले जाते हैं। सेनट, खेमट और क्षीरभूप का प्रस्थान)

कलाकार : हे राजन! हम आपके दास हैं। हमें क्षमा करें। सदा आपकी जय हो। महाराज अनन्तदेव और राजमाता सूर्यमती की जय हो!

(प्रस्थान)

सूर्यमती : हाय! कैसा दुर्भाग्य। रानी होकर लुड्डा मछुआरन का अपयश मिला है।

अनन्तदेव : हे विजयेश्वर स्वामी, अभी कितना अशुभ दृष्टिगत होना है। हे महेश्वर! हे शम्भू . . .

(प्रस्थान)

सूर्यमती : हे प्रभु! यह कैसे दुर्दिन! कितना अपमान! कल की महादेवी आज मांझिन।
(मंचाग्र पर आकर गुनगुनाने लगती है)

राज्ञी हो धीवर बनी मैं
शापों अपने ग्रस्त हुई मैं
भेद खुले हैं चौराहों पर
दो पाटन के बीच पड़ी हूँ

(दासियाँ पास आकर सहानुभूति दर्शाती जाती है)

नोनिका : राजमाता! बाहर कोई है जो संभवतः भीतर आने की चेष्टा कर रहा है।
(सभी सतर्क होते हैं। नोनिका बाहर जाती है)

नोनिका : राजमाता! यह दयवती है। यहीं आ रही हैं।

सूर्यमती : आने दो। आज मैं भी उस शंका का निवारण करूँ जो मुझे भीतर तक भेद गई है। आने दो।

(नोनिका उसे ले आती है। दयवती दूर से ही कहती है)

दयवती : देखो ना कैसे मिलना हुआ। त्राहि! त्राहि!!
(सूर्यमती, दूसरी दिशा से दयवती की ओर मुड़ती हैं)

सूर्यमती : कौन? ओ! यह तुम हो, दयवती!
दयवती : जब सुना चैन खो गया। ह्रदय तड़पने लगा।
सूर्यमती : ह्रदय क्यों तड़पने लगा? क्या सुना?
दयवती : यही कि कलशदेव आप लोगों को बंदी बनाकर रखना चाहता था, मगर . . .
सूर्यमती : कहो आज क्या माँगने आई हो?
दयवती : यह आप क्या कह रही हैं?
सूर्यमती : सीधे शब्दों में कहो कि क्या माँगने आई हो?
दयवती : बुरा हो आपके शत्रुओं का। ऐसी दशा पर आकर भी ऐंठ नहीं गई।
सूर्यमती : कैसी दशा पर आकर। नोनिका! उधा और वल्गा को बुला के लाना।
(नोनिका संकेत समझती है। सेविकाएँ नोनिका के साथ भीतर जाती हैं)

सूर्यमती : दयवती! अब यहाँ केवल मैं हूँ और तुम हो।
दयवती : हुं।
सूर्यमती : जो पूछूँ उसका उत्तर देना। कुछ भी मत छिपाना।
दयवती : हाय! मेरा दुर्भाग्य। मैं तो हितैषी बन आई थी . . . यह क्या मुझसे अपराधिन जैसा व्यवहार।
सूर्यमती : बोलो, यह कलशदेव तुम्हारा पुत्र है या मेरा?
दयवती : क्या ???
सूर्यमती : तुम्हारी कोख का जना या मेरी?
(दयवती कानों पर हाथ रखकर आकाश की ओर देखने लगती है)

सूर्यमती : बोलो, यह रहस्य केवल तुम जानती हो?
दयवती : क्या जानती हूँ। यही ना कि आपके पुत्र के लिए मेरे पुत्र की बलि चढ़ी थी।
सूर्यमती : यह तो तुम वर्षों से कहती आ रही हो। यही कहते-कहते तुम कितनी बार मेरे गले के स्वर्णहार लेती गई। किन्तु आज तुम्हें सत्य बोलना होगा।
दयवती : आप जैसी परिपक्व स्त्री यह आज कैसी बातें कह रही है। ऐसा तो कोई निरा मूर्ख भी नहीं पूछेगा।
सूर्यमती : प्रसव के पश्चात् जब मैं अचेत पड़ी थी तब प्रसन्नता के वेग में मेरे जातक को तुम्हारे पास ले जाया गया। तुमने भी उसी दिन एक पुत्र को जन्म दिया था। गूजरनी होने के कारण तुम्हें मेरे नवजात की दूध-माँ निश्चित किया गया। राजभवन में सभी लोग पुत्र जन्म का उत्सव मना रहे थे। दास और दासियाँ, सोना-चाँदी एकत्र करने में लगे थे। मैं प्रसविनी बेसुध पड़ी थी। मैंने बस इतना सुना कि राजकुमार जन्मा है। फिर चेतना लौटी तो सुना कि दो नवजात शिशुओं में से एक की मृत्यु हुई है। सारे भवन में कोलाहल था। बोलो, जिस शिशु को तुम्हें सौंपा गया था क्या वह कलशदेव है या वह जिसको तुमने जन्म दिया?
दयवती : आप जानती हैं कि आप पूछ क्या रही हैं?

सूर्यमती : तुम्हारा कि मेरा?

दयवती : जिसको मैंने जन्म दिया उसको विधाता मुझसे छीनकर ले गया और जिसे पाला वह आपका है।

सूर्यमती : याद है तुम्हें, तुमने बोला था कि एक शिशु की मृत्यु होते ही तुम कुछ क्षणों के लिए अचेत हुई थी और जब चेतना लौटी तो उनमें से एक गोतमनाग ले जाया गया था। कहो, वह किसका पुत्र था?

दयवती : वह मेरा था और राजा कलशदेव आपका है।

सूर्यमती : अपने पुत्र को राजकुमार बनाने की अभिलाषा ने तुम से सदा यही कहलवाया। अपने लाल को राज-लक्ष्मी दिलाने के लिए तुम यही कहती रही हो। आज तो सच बोलो।

दयवती : हाय! मैं मर क्यों नहीं गई। इस अवस्था में आकर आज यह लाँछन तो न लगता।

सूर्यमती : किन्तु कलशदेव का आचरण देख, आज प्रजा शंकित है। बोलो तुम्हारा या मेरा?

दयवती : मरते दम तक यही कहूँगी कि कलशदेव आपका पुत्र है। आपका।

सूर्यमती : तुम तो जानती हो ना मैं राजपूत स्त्री हूँ। यदि सत्य न कहा तो इस कटार से घायल कर दूँगी।

(सूर्यमती अपनी कमर से कटार निकालती है और भय दिखाते हुए दयवती के समीप आती है)

बोलो। तुमने वर्षों से इस रहस्य को गाँठ लगा के रखा है। केवल इस कारण कि तुम्हारा पुत्र राज-सत्ता का अधिकारी बने।

दयवती : छोड़ो मुझे। सत्य तो मैं भी नहीं जानती। प्रसवोत्तर दशा में जब मैं सचेत हुई तो देखा कि एक शिशु राज-वस्त्र धारण किए मेरी छाती से लगा है। दूसरे को वे ले गए थे।

सूर्यमती : तुम यह पहचान नहीं सकी कि कौन किसका था?

दयवती : समय ही नहीं मिला पहचानने का। मत करो शंका।

सूर्यमती : ओ! तुमने अनिष्ट किया है।

दयवती : मैंने उसे दूध पिलाया है। मेरे दूध को दूषित मत करो। अपना लाल तुम्हारे पुत्र के भेंट चढ़ाया। उसे तीन वर्ष तक दूध पिलाती रही। आज पूरे चालीस वर्ष बाद मुझे कलंकित मत करो। वह रात्रि मैं भूली नहीं हूँ जब संदेश मिला कि मेरा पुत्र नहीं रहा। सारी रात आहें भरती रही, अश्रु बहाती रही। कितनी बार मूर्छित हुई। ऐसे में किस नवजात का मुख ध्यान में रखती।

सूर्यमती : क्रोध और संताप से मेरी काया में कंपन होने लगी है। आज सत्य प्रकट करो। वरना . . .।

दयवती : वरना . . .?

सूर्यमती : नहीं तो अभी इसी समय घायल कर दूँगी . . . कहो!

दयवती : जो सच था वह कहा। इससे आगे क्या कहूँ।

सूर्यमती : तुम झूठ बोल रही हो। . . . क्या तुम मुझे कलशदेव की बाल्यावस्था में उसके सभी धर्म-संस्कार कराने और युवा होने से पहले ही उसके विवाह के लिए प्रेरित नहीं करती रही। उसे राज सौंपने को उकसाती नहीं रही। तुमने उसके प्रति, हर बार, मुझसे अधिक स्नेह नहीं दिखाया? बोलो? उसके जन्मदिन की ताक लगाती, प्रभात काल में ही चली आती थी और मुझे बधाई देती।

दयवती : अपना रोम-रोम वार दिया था उस पर। भले आपने जन्म दिया हो लेकिन तीन वर्ष तक मैं पालती। रही उसके बाद भी उसका कल्याण चाहती रही और आप हैं कि शंका कर रही हैं, क्यों?

सूर्यमती : तुम्हारा छल-छिद्र कितना तीव्र है यह मैं आज जान गई। तुम्हें अपना हितैषी समझकर कभी यह तो कभी वह उपहार देती रही। सोने के भण्डार भर दिए। तुम्हारा उद्देश्य तो पूरा हुआ। अब कहो यह तेरा है कि मेरा?

दयवती : न जाने किसने क्या कहा है।

सूर्यमती : क्या तुमने कभी भी यह बात अपनी सखी-सहेली, बहन-भौजाई से नहीं छेड़ी है? तुम भी स्त्री हो, मैं भी स्त्री हूँ। मुझसे क्या छिपाना।

दयवती : क्या पूछ रही हैं आप! पाप और शाप का तो भय करो।

सूर्यमती : शापित को शाप से क्या भय। संतान वहाँ और पति यहाँ। न घर। न घर की सुख-समृद्धि। रानी हो भिक्षुक बनी। नगर के घाट से उतर विजयेश्वर के घाट चढ़ी। ऐसे में तुम भी मुझसे सत्य छिपा रही हो।

दयवती : ऊपर वाला मुझसे मेरा प्रसव ले गया। जीवित होता तो आज यह सब सुनना न पड़ता।

सूर्यमती : यदि यह सत्य होता तो लोग हमारा उपहास न करते। छीः छीः न करते।

दयवती : प्रभु यदि उसके बाद भी मेरी गोद भरते तो मैं कदापि कलशदेव के आगे पीछे न मंडराती। इसी कारण आपकी शंका गहन होती जा रही है।

सूर्यमती : शंकाएँ बिना कारण जन्म नहीं लेतीं। आज ढके हुए के ऊपर के दुराव हटाने का समय आ गया है। आ ये देख, विजयेश्वर स्वामी सामने हैं। इनकी तरफ़ देख...चल . . . आ इनके सामने और बता कि कलशदेव तेरे गर्भ का उद्गम है या मेरे?

(सूर्यमती उसकी भुजा पकड़कर उसे सीढ़ियों की ओर ले जाती है। उसका मुख विजयेश्वर के द्वार की ओर कराती है। तभी सामने से अग्नि दिखती है। बाहर कोलाहल सुनाई देता है। चिल्लाहट होती है। 'आग! आग!! अरे जला डाला। घबराया हुआ कोरस प्रवेश करता है। भीतर से नोनिका और वल्गा भागी-भागी आती हैं)

नोनिका : राजमाता! आग। आग लगाकर चले गए। हर तरफ से आग लगा गए हैं।

वल्गा : कोठारों, पशुशालाओं और फूस की छतों में आग लगा दी है।

नोनिका : उन मढ़ियों में कोई अबोध शिशु न हो।

(सूर्यमती जड़ हो जाती है। कुछ क्षणों बाद दयवती का हाथ छोड़ती हैं। और फिर नोनिका, वल्गा तथा अधा को चिल्लाकर बुलाती हैं। दयवती बैठ जाती है)

सूर्यमती : नोनिका! वल्गा! हाय! कहीं सब भस्म न हो जाए।

(सूर्यमती सेविकाओं सहित अंदर चली जाती हैं। ब्राह्मणों का प्रवेश।)

कोरस : हाहाकार। हाहाकार मच गया है। शत्रुओं के अग्नि-चक्र में विजयेश्वर हर दिशा से घिर गया है।

वरिष्ठ ब्राह्मण : ऐ ब्राह्मणों! यहाँ क्या करें। चलो अपनी-अपनी कुटी की ओर चलें। अगिया गए हैं। हे विजयेश्वर स्वामी! हम पर दया करें। इस अग्निकाण्ड में हमारी रक्षा करें।

(दयवती धीरे-धीरे उठती है)

दयवती : यह आग कैसी प्रभु।

(दयवती का प्रस्थान। नेपथ्य से कोलाहल जारी। अग्नि की लपटें आकाश की ओर उठती दिखाई देती हैं)

अंक चार

(विजयेश्वर के आँगन में विपत्ति में घिरे प्रजाजन सिर झुकाए इधर-उधर बैठे हैं। हर तरफ से धुआँ उठ रहा है। कोरस भी लोगों के साथ ही बैठा है। तभी वरिष्ठ ब्राह्मण बाहर आते हैं।)

वरिष्ठ ब्राह्मण : हे विजयेश्वरवासियो! धैर्य धरो। यह हमारा दुर्भाग्य है जो एक ही रात्रि में सारा विजयेश्वर नगर हमने अपनी आँखों के सामने अग्निसात् होते देखा। किसने यह अपकार्य किया होगा। किसने निर्दोष विजयेश्वरवासियों को निराश्रय बना दिया।

(ब्राह्मणों का कोरस अपने-अपने स्थानों से उठ खड़ा होता है)

ब्राह्मण 2 : अग्निकाण्ड में केवल घर और घर की वस्तुएँ ही नहीं भस्म होती हैं, धर का भेद भी चौराहे पर आ जाता है।

ब्राह्मण 3 : बेघर होने पर क्या दशा होती है, किसे कहें और कौन सुने?

ब्राह्मण 1 : बर्तनों की चंगेरी, वस्त्रों की पोटली, बची हुई ओढ़न-बिछावन और बाल-बच्चे लिए हुए हर कोई गृहस्वामी अनवस्थ-सा सिर छिपाने को जगह ढूँढ रहा है। हवा, आँधी और हिम-वर्षा से स्वयं को बचाने का स्थान खोज रहा है।

ब्राह्मण 2 : कौन-सा स्थान है जो इस अग्नि में नष्ट-भ्रष्ट न हुआ हो। सभी पथ और वीथिकाएँ राख और कंकड़ के नीचे दबी पड़ी हैं।

ब्राह्मण : कोयला बनी देहरियाँ। हर दिशा मटियामेट है। गृहस्वामी उजड़े नगर में अपने परिवारों के साथ विलाप कर रहे हैं।

(सभी लोग हाय-हाय करने लगते हैं।)

वरिष्ठ ब्राह्मण : अधजले ठूँठ। ईंटों के टुकड़े। मिट्टी के ढेले। टीले और गड्ढे। यही है आज का विजयेश्वर। विध्वस्तनगर में केवल एक विजयेश्वर मंदिर है जो इस सब पर जैसे अट्टहास कर रहा हो। हे विजयेश्वरवासियो! धैर्य धरो। उठ खड़े होकर चल पड़ो।

(वहाँ बैठे विजयेश्वरवासी केवल हाय-हाय करते हैं। वे जाते नहीं हैं। वरिष्ठ ब्राह्मण के समीप आते ही सभी अपना सिर उठाकर ध्यान से सुनने लगते हैं।)

वरिष्ठ ब्राह्मण : हे विजयेश्वरवासियो! कब तक तुम घरौंदा खो जाने का शोक मनाते रहोगे। उठो। वह देखो। वहाँ इस समय थक्कन धन बाँट रहा है।

(सभी अपना सिर उठाकर ध्यान से सुनने लगते हैं)

लोगों में से एक : कैसा धन? जो धन-सम्पत्ति संचित थी वह अग्नि में स्वाहा हो गई। थक्कन का धन किधर से आया?

वरिष्ठ ब्राह्मण : सुनिए! जब वह धर्मशाला, जिसमें राजमाता रहती थीं, जलकर भस्म हुई तब

राजमाता ने राख में टटोला और रत्न-जड़ित एक शिवलिंग पाया। वह वैसे का वैसा ही था। उसे उन्होंने तनवंगराज के पुत्र थक्कन को दिया। थक्कन ने उस शिवलिंग को टक्कदेशीय व्यापारी के हाथ सत्तर लाख दीनार में बेच दिया। राजमाता ने 50 लाख दीनार विजयेश्वरवासियों में वितरित करने का आदेश दिया ताकि सभी अपने घर फिर से बनाएँ। अग्नि से हुई हानि की पूर्ति करें। उठो और जाकर अपना-अपना बाँट प्राप्त करो।

(वे सभी आशीर्वचन कहते हुए प्रस्थान करते हैं)

लोग तथा कोरस : विजयेश्वरस्वामी! राजमाता और राजा अनन्तदेव का शुभ करें!

वरिष्ठ ब्राह्मण : दृढ़ बनो। अपने आपको व्यवस्थित कर अपने घर बसाने प्रारंभ करो।

(भीतर से अनन्तदेव का सेवक गंगाधर प्रवेश करता है। राख और कोयले की धूल में विलेपित।)

गंगाधर : कौन? वरिष्ठ ब्राह्मण! महाराज प्रणाम! मैं गंगाधर हूँ। आप राजर्षि को बता दें कि मैंने ईंट-मिट्टी में गढ़ा उनका सारा संचित धन निकाला है। स्वर्ण और चाँदी वैसी की वैसी है। मूर्तियाँ, उनका शृंगार और आभूषण भी वैसे के वैसे हैं। केवल किसी-किसी मूर्ति में धुएँ के धब्बे उभर आए हैं। धर्मशाला के ऊपर का पूरा खण्ड नीचे आ गया है। यह सारा उसके नीचे दब गया था, इसी कारण सुरक्षित रह पाया है।

वरिष्ठ ब्राह्मण : राजर्षि कहाँ हैं? मैं भी तो उन्हें देखने भीतर गया था। क्या वे यहाँ नहीं हैं?

गंगाधर : नहीं। इस अग्नि-रात्रि को देख वे एक वैरागी की भाँति वितस्ता के उस पार चले गए। वहाँ एक पर्णकुटी में वास कर रहे हैं।

कोरस और लोग : राजा अनन्तदेव पर्णकुटी में हैं। आश्चर्य!

गंगाधर : जो लोकपति रंग-पीठिकाओं पर बैठ चाँदी के थालों में भोजन करते थे वे आज फूस के बिछौने पर सकोरों में अन्न ग्रहण करते हैं। अन्न भी क्या करते हैं बस नाममात्र कुछ ले लेते हैं। खोई नजरों से इस अग्निसात् नगर को घंटों तक देखते रहते हैं।

(भीतर से एक और सेवक दंडक का प्रवेश)

दंडक : गंगाधर! गंगाधर!!

गंगाधर : आ दंडक आ। क्या बात है?

दंडक : ईट-मिट्टी के नीचे से मैंने सारी शस्त्र-शाला खोज निकाली है।

गंगाधर : दंडक! क्या यह सच है?

दंडक : हाँ! हाँ! आ देख, लगता है ऊपर का पूरा खण्ड गिरकर नीचे आ गया है, जिसने सारी शस्त्र-शाला को ढंक दिया है। सब कुछ मिट्टी के नीचे आ गया है। किसी-किसी शस्त्र में त्रुटि आई है किन्तु वो ठीक हो सकते हैं।

गंगाधर : चल यह समाचार राजर्षि को देते हैं। वे प्रसन्न हो जाएँगे। उनमें नई शक्ति संचित होगी।

(दोनों का प्रस्थान। सारे नगरवासी भी जाते है)

वरिष्ठ ब्राह्मण : सच ही उनमें नई शक्ति आ जाएगी। वे अपने सभी सेवकों और सैनिकों को एकत्र करेंगे। वे विजयेश्वर का नव-निर्माण करेंगे। सारा संचित धन सुरक्षित है तो यह कार्य कुछ ही ऋतुओं में पूरा होगा।

(उसी समय नोनिका और वल्गा का सहारा लेती हुई सूर्यमती का प्रवेश। सूर्यमती जैसे विलाप

करने ही वाली हैं।)

सूर्यमती : हाय! सब कुछ नष्ट हुआ। कुछ भी शेष न बचा। चंदन के दीवट। अखरोट की लकड़ी से बनी शय्याएँ, चौकियाँ, काष्ठ की मूर्तियाँ। सब भस्म हुआ। कैसे-कैसे वसन। शीघ्र ही शिशिर मास आएगा। पशमीना और रोमपट कहाँ से लाऊँगी। क्या पहनें और क्या पहनाएँ। कोई षड्यंत्र है। मेरे शत्रुओं की शत्रुता कम नहीं हुई। क्या दशा कर दी मेरी! मैं राजरानी! आज भिक्षुकी बनी बैठी हूँ। कपोलों पर अश्रु गिरते हैं। पोंछती हैं।

वल्गा : माता! संभालिए। सब कुछ फिर से प्राप्त होगा। यदि यह अग्नि, हमारी निद्रावस्था में लगाई जाती तो हम सब का दहन होता।

वरिष्ठ ब्राह्मण : हे माता! चित्त को दृढ़ करें। आपने प्रजा का सामर्थ्य बढ़ाना है। उनका भी तो सब कुछ नष्ट हुआ पड़ा है।

दूसरा ब्राह्मण : मेले में यात्री बने बैठे रहे यह नगरदाहक। जलते लुकाष्ठ फूस की छतों और पुआलों पर फेंकते चले। सारा नगर अग्नि में झोंक गए।

वल्गा : ऐसी अग्नि जो हर किसी के संताप का कारण बनी। जो यहाँ यात्रियों को शरण देते थे वे स्वयं शरणागत हो गए हैं। विजयेश्वरवासी संतापित हैं।

सूर्यमती : नोनिका! क्या थक्कन धन बाँट रहा है?

वरिष्ठ ब्राह्मण : कुछ देर पहले सुना था कि वे नगरवासियों को नवनिर्माण के लिए दीनार बाँट रहे थे। माता! उसके बाद यह समाचार भी आया कि महाराज की संचित संपत्ति, सोना-चाँदी बिना किसी हानि के निकाला गया है।

सूर्यमती : यह सत्य है किन्तु कुछ क्षति तो हो ही गई है?

वरिष्ठ ब्राह्मण : अस्त्र-शस्त्र भी निकाले गए हैं।

सूर्यमती : यह भी सत्य है।

नोनिका : माता! आपके स्वर्ण आभूषण भी निकल आएँगे। आग में सारे का सारा स्वर्ण नष्ट न होगा। कुछ तो प्राप्त होगा।

(अनन्तदेव, गंगाधर और दंडक का प्रवेश)

कोरस : राजर्षि के चरणों में हमारा प्रणाम्! विजयेश्वर स्वामी आपको सामर्थ्य दें।

(सूर्यमती भावुक होकर अनन्तदेव के समीप आती है, उनके वक्ष पर अपना मुँह रखती हैं। अनन्तदेव उसके कंधों पर अपना हाथ रखते हैं।)

सूर्यमती : यह आपने क्या किया। अग्निसात् हुए विजयेश्वर नगर को निहारने वितस्ता के उस पार चले गए?

अनन्तदेव : हूँ। यह केवल प्रारंभ है उस युग का जो आएगा। जब बलवान, ज्ञानी, गुणी, मूर्तिकार, शिल्पी, चित्रकार और कलाविद् कश्मीर छोड़ दूसरे देशों की ओर भागेंगे। जिस देश के घरों में कलह हो वहाँ वे क्या करें। जहाँ राजा दृष्टिहीन हो। जो प्रजा और देश का भविष्य न आँक सके। जिसका उद्देश्य, नगर अग्नि में भितरा कर, प्रजा को अन्न और धन से वंचित कराना हो। कौन उसके राज में सुख से यापन करे। अग्नि में विध्वस्त इस नगर को निहारने से यही दृष्टिगत हुआ। आने वाला कल बड़ा विकट होगा सबके लिए। मेरे लिए। तुम्हारे लिए।

कोरस : पितामह! नगर को नए सिरे से बसाने का यत्न करें। दुखी विजयेश्वरवासियों का मनोबल बढ़ाएँ।

सूर्यमती : अशुभ मुहूर्त पर घर से निकलने का यह फल है।

अनन्तदेव : जब मनुष्य को अपने जीवन और मान की सुरक्षा के लिए भागना पड़ता है तब वह नक्षत्र और वेला कहाँ देखता है। सगे संबंधियों से पूछे बिना ही केवल भागता है। ऐसा स्वाभिमानी त्रस्त रहता है। वह भागता है। अपनी पोटली सिर पर उठाए जंगल-जंगल फिरता है। अपने छिपने का स्थान बदलते रहते अज्ञातवास में रहता है। फिर वह कश्मीर-मण्डल का सर्वाधिकारी राजा ही क्यों न हो।

(कोरस राजा अनन्तदेव के आगे पीछे घुटनों के सहारे बैठता है)

कोरस : बस करें पितामह! बस करें! आपके लिए हम ऐसे कई नगर बलिदान करेंगे। विजयेश्वर नगर क्या हम अपना जीवन देंगे। यदि शस्त्र उठाने पड़े तो वे भी उठाएँगे। आपकी इच्छापूर्ति के लिए युद्ध भी करेंगे।

(वे उठ खड़े होते हैं और विभिन्न दिशाओं में जाते हैं)

सूर्यमती : हमें आपकी निष्ठा पर विश्वास है। किन्तु हमारे पास जो था वह इस नगर-दाह में खो गया। अब जब तक हम जीवित हैं . . . तब तक . . .

(तभी कुछ राजपुरुष, नगर-दाहकों को रस्सी से बांध कर ले आते हैं।)

क्षीरभूप : प्रणाम महाराज!

अनन्तदेव : क्षीरभूप, यह कौन हैं?

क्षीरभूप : देव! ये उन नगर दाहकों में से हैं जिन्होंने इस नगर को भस्म किया।

सूर्यमती : अच्छा! इनके दूसरे साथी?

क्षीरभूप : माता वे विभिन्न दिशाओं में भाग गए हैं। यह भी छोटी नौकाओं में भाग रहे थे कि हमने इन्हें संगम के पास धर-दबोचा।

अनन्तदेव : यह कहाँ के वासी हैं?

क्षीरभूप : बोलो! कहाँ से आए हो?

नगर-दाहक 1 : हमें क्षमा करें। मैं सुरेश्वर का वासी हूँ और यह आंचार झील के पास रहता है।

अनन्तदेव : करते क्या हैं?

नगर दाहक 2 : राजन! हम झील की घास से चटाईयाँ बनाकर बेचते हैं और ऐसे अपने परिवार का पालन-पोषण करते हैं।

अनन्तदेव : क्षीरभूप! इन्हें यहाँ किसने भेजा है?

नगर दाहक 2 : राजन! हमें . . . हमें . . .

क्षीरभूप : कहो! *(कोड़े बरसाता है।)* बोलते क्यों नहीं।

अनन्तदेव : इस देवस्थान पर न शस्त्र न चाम-प्रहार। पूछें इन्हें कि किसने भेजा है?

नगर दाहक 2 : राजन! हमें जयानंद ने भेजा। वह गाँव-गाँव गया और ढूँढ-ढूँढ कर हमें ले आया।

क्षीरभूप : कहो-कहो।

अनन्तदेव : पूछे इन्हें कि उत्कोच दिया या पारिश्रमिक।

नगर दाहक : राजन! सारे परिवार के साथ हमें बंदी बनाकर, ढोंगियों में राजमहल ले गए। वहाँ सभी को बंदीगृह में डाल दिया। फिर चटाईयाँ बेचने यहाँ भेज दिया। इस आदेश के साथ कि जब तक विजयेश्वर में आग न लगा दें तब तक वे सारे परिवारों को मुक्त नहीं करेंगे।

कोरस : त्राहि! त्राहि!! राजधर्म में दया धर्म मिट रहा है।

नगर दाहक 2 : राजन्! यही आदेश था और उसी आज्ञा का हम पापियों ने पालन किया। हमें दंड दें। हमारे ये हाथ काटें।

क्षीरभूप : पितामह! यह झूठ बोल रहे हैं। स्वांग रचा रहे हैं। वह कृपण कलशदेव, जयानंद और पिट्ठराज कितने दिनों तक बंदीगृह में खिलाएँगे।

अनन्तदेव : इस देवस्थान पर झूठ नहीं बोलेंगे।

नगर दाहक 1 : हम कुकर्मी हैं।

क्षीरभूप : इस नगर का संहार किया। सहस्रों घर उजाड़ दिए हैं।

नगर दाहक 2 : क्षमा करें राजन! हमने पाप किया है कलशदेव के भय से। एक-एक हज़ार दीनार का लोभ दिया गया था।

नगर दाहक 1 : यदि वे हमारे माता-पिता, बालक-बालिकाओं को बंदी न बनाते हम कभी भी ऐसा पाप न करते।

नगर दाहक 2 : मेरे वृद्ध माता-पिता को बंदी बनाया और उन पर कोड़े मार-मार कर प्रहार किया। तभी मैंने विवश होकर यहाँ आने की हामी भरी। महाराज! कौन पुत्र अपने माता-पिता को बंदी बना देख सकता है।

(अनन्तदेव पहले एक ठहाका लगाते हैं फिर संजीदा हो जाते हैं)

अनन्तदेव : *(हँसकर)* हा! हा! हा! क्षीरभूप। इन्हें जाने दो। *(सूर्यमती से)* सुना? कह रहा है कौन पुत्र अपने माता-पिता को बंदी बना देख सकता है। केवल हमारा पुत्र। महारानी सूर्यमती और महाराज अनन्तदेव का पुत्र। और कौन। इन्हें मुक्त करो।

क्षीरभूप : हे पितामह! यह आप क्या कह रहे हैं। हमने इन्हें बड़े प्रयत्न से धर-दबोचा है। इन्होंने सारा विजयेश्वर नगर अग्नि में झोंक दिया है। इन्हें ऐसा दंड मिले कि दूसरे भय खाएँ। इन्हें मुक्त करना उचित न होगा।

अनन्तदेव : इन्हें यहाँ कलशदेव ने भेजा है। जयानंद ने भेजा है। वे हमसे शत्रुता रखते हैं। यह नहीं। इनके कुटुम्ब बंदीगृहों में हैं, इन्हें जाने दो।

(विराम)

हे विजयेश्वर स्वामी! कौन पुत्र अपने माता-पिता को बंदी बना देख सकता है! कौन पुत्र!!
(अनन्तदेव भीतर जाते हैं। सूर्यमती गंगाधर, दंडक नोनिका और वल्गा भी उनके पीछे-पीछे जाते हैं। नगर-दाहकों के बंधन खोल दिए जाते हैं)

क्षीरभूप : राजपुत्र अपने राजत्यागी-पिता का शरणालय अग्निसात करने के लिए दाहक भेजता है तो राजपिता इन्हें क्षमा करते हैं।

वरिष्ठ ब्राह्मण : समय का क्रूर अनुभव यही है। एक त्याग, क्षमा और दान करते हैं तो दूसरा ध्वंस। एक पालक तो दूसरा विनाशक।

नगर दाहक 1 : जो अपराध हमने किया उसके लिए तो हमें मृत्यु दण्ड ही मिलता।

नगर दाहक 2 : या दोनों हाथ काट दिए जाते।

नगर दाहक 1 : परन्तु राजा अनन्तदेव ने हमें क्षमा किया। वे लोमर्ष ऋषि सी लम्बी आयु पाएँ।

दोनों नगर दाहक : हमने अनिष्ट किया है। हे जगदंम्बा! हमारे राजा अनन्तदेव और राजमाता सूर्यमती पर सदा अपनी अनुकम्पा रखना। आप सभी को हमारा प्रणाम!

(नगर-दाहक सभी को नमन करते हुए क्षीरभूप के साथ जाते हैं)

कोरस : कैसा कुसमय! यह लोग अनन्तदेव और सूर्यमती को जीवित जलाने के लिए भेजे गए थे। हे विजयेश्वर स्वामी! अपना ही जाया यह कैसा कर्म करवाता है।

वरिष्ठ ब्राह्मण : यह समय ऐसा है तो आगे का समय कैसा होगा? दान, धर्म, परोपकार इनका क्या अर्थ होगा?

दूसरा ब्राह्मण : संस्कार नष्ट हो जाएँगे। संस्कृति का नाश होगा। रीतियों और मर्यादाओं का अंत होगा। कुटिलता, व्यभिचार और दुराचार जीववृत्ति का आधार बनेंगे।

तीसरा ब्राह्मण : स्वभाव बदल जाएँगे। शब्दों के अर्थ बदल जाएँगे। जीवन-दर्शन बदल जाएगा।

दूसरा ब्राह्मण : संबंध बदल जाएँगे। वर्ण बदल जाएँगे। कुलाचार बदल जाएँगे। वर्ण संकरों की बढ़ोत्तरी होगी।

वरिष्ठ ब्राह्मण : परन्तु इस समय यह कौन आ रहा है? कोई रथी ही है? यह अश्व के टापों और रथ के पहियों की ध्वनि? आइये देखते हैं।

(कोरस द्वार के पास जाकर प्रतीक्षा में देखने लगता है।)

हर्षदेव : मेरे पितामह और पितामही कुशल से तो हैं ना?

थक्कन : वे कुशल से हैं। किन्तु हमारा नगर राख का ढेर हो गया है।

हर्षदेव : जब सुना कि मेरे पिता ने नगर को जलाने की योजना बनाई है तो मैं भी रात के अंधेरे में प्रहरियों को उत्कोच देकर भाग आया। फिर भी देर हो गई। पहले पहुँचता तो यह सब न होता।

थक्कन : हम समझ ही न पाए। किसी ने चेताया भी नहीं। इस अग्निकाण्ड की किसे खबर थी?

वरिष्ठ ब्राह्मण : राजकुमार! क्या कहें कि मेले में कितना उत्साह था। और जब संध्या ढलते ही सभी लोग सामूहिक प्रार्थना के लिए मंदिरों की ओर चले गए तभी दाहकों ने फूस की छतों पर जलते हुए ढेले फेंके, कुछ ही क्षणों में आग ने नगर को सभी दिशाओं से घेरा।

हर्षदेव : मेरे आने में विलम्ब हुआ।

वरिष्ठ ब्राह्मण : राजकुमार! जो होना था सो हो गया।

हर्षदेव : पूरा पक्ष यदि रंगग्रह में नट, नर्तकियों और संगीतज्ञों के साथ व्यस्त न रहता तो . . .। मैं राग-रागनियाँ और वाद्यों का चयन कर रहा था तो उधर मेरे पिता विजयेश्वर को अग्निसात् करने की योजना में लगे थे।

वरिष्ठ ब्राह्मण : राजकुमार! आपको इस षड्यंत्र के बारे में कैसे सूचना मिली?

हर्षदेव : मैं यों ही बंदी गृह की ओर गया तो बंदियों ने मुझे देखकर विलाप किया। कहा कि उनके युवा पुत्रों को विजयेश्वर का दहन करने भेजा गया है। जब उनके पुत्र विजयेश्वर से लौटेंगे तभी उन्हें मुक्त किया जाएगा। मैं अपने पिता, राजा कलशदेव की प्रतीक्षा करता

रहा कि उन बंदियों को छुड़वा सकूँ। किन्तु मेरी प्रतीक्षा सफल न हुई। संदेश मिला कि राजा कलशदेव भी विजयक्षेत्र की ओर गए हैं। राजभवन से बड़ी युक्ति से आनंद को अपने साथ लेकर छिपते-छिपाते यहाँ पहुँचा हूँ।

आनन्द : राजकुमार! ऐसे अविश्वसनीय समय में आपको अकेले कैसे आने देता।

थक्कन : राजकुमार! आईये देखें विजयेश्वर मंदिर आज धर्मशालाओं के बिना कैसे अकेला खड़ा है। आपके पितामह और पितामही यहीं इस विनिष्ट संसार में किसी पुरातन संचित वस्तु को ढुँढवा रहे होंगे।

हर्षदेव : चलें?

(हर्षदेव, थक्कन और आनन्द का प्रस्थान)

वरिष्ठ ब्राह्मण : राजर्षि और राजमाता कितने प्रसन्न हो जाएँगे जब राजकुमार को देखेंगे।

दूसरा ब्राह्मण : विश्वास ही नहीं होगा कि वे हर्षदेव को देख रहे हैं।

तीसरा ब्राह्मण : राजमाता के नयन भर आएँगे। अश्रु धाराएँ फूट पड़ेंगी। स्नेह उमड़ पड़ेगा।

दूसरा ब्राह्मण : किन्तु जिस राजकुमार से वे इतना स्नेह रखते हैं उसे आज किस पीठिका पर बिठाएँगे?

तीसरा ब्राह्मण : कौन से पात्र में परोसेंगे?

पहला ब्राह्मण : शरणागत राजर्षि, आज कौन-सी स्वर्ण-चौकी पर बिठा कर चरण-सेवा करवाएँगे।

वरिष्ठ ब्राह्मण : संपत्तिवान अनन्तदेव को भी आज, इस अग्नि ने आकुंठित किया है। स्वयं जिसने छप्पर में शरण ली हो वह राजकुमार हर्ष को कहाँ वास कराए।

तीसरा ब्राह्मण : इस अंधियारी में जब केवल चंद्रमा का धुंधला-सा प्रकाश है तो कितना कुछ दिखा पाएँगे वे, इस विध्वस्तनगर को। इस विनाश को देख तीनों प्रलाप करेंगे। कौन सांत्वना देगा।

वरिष्ठ ब्राह्मण : हे विजयेश्वर स्वामी! निष्पाप, निश्छल और स्वाभिमानी जनों की रक्षा करें।

(प्रस्थान करने लगते हैं। तभी कुछ नगरवासियों के साथ सेनट तथा क्षेमट भीतर आते हैं)

सेनट : हे यजुवर! कहें कि राजा अनन्तदेव कहाँ है? यहाँ हैं या वितस्ता के उस पार?

वरिष्ठ ब्राह्मण : राजा अनन्तदेव और महारानी सूर्यमती कुछ देर पहले विजयेश्वर के पिछले आँगन से होते हुए भीतर गए हैं।

क्षेमट : राजधानी से यह राजा कलशदेव के दूत आए हैं। पितामह और पितामही के लिए आज्ञा पत्र लेकर।

वरिष्ठ ब्राह्मण : क्या! राजाज्ञा!! यह केवल पितामह और पितामही के लिए है या सभी प्रजा-जनों के लिए?

दूत : यह केवल राजा अनन्तदेव और राजमाता के लिए है।

सेनट : आप यहीं पर रुकें, मैं जाकर राजर्षि को आपके आने का संदेश देता हूँ।

(प्रस्थान)

दूसरा ब्राह्मण : क्या है राजाज्ञा? आप तो जानते ही होंगे?

दूत : नहीं। मुझे आदेश है कि यह पत्र मैं केवल राजा अनन्तदेव को ही दूँ।

तीसरा ब्राह्मण : राजा कलशदेव ने अवश्य ही विजयेश्वरवासियों की सहायता और नगर के पुनर्निर्माण के लिए धन देने की सूचना भेजी होगी।

वरिष्ठ ब्राह्मण : नहीं। यह स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का पत्र होगा।

दूसरा ब्राह्मण : विजयेश्वर के संहार पर पछतावा कर रहे होंगे। यह उनका पश्चाताप-पत्र होगा।

तीसरा ब्राह्मण : जब सुना होगा कि नगरवासियों के घर नहीं रहे तब पश्चाताप किया होगा। अपने पिता और विजयेश्वर वासियों से क्षमादान माँगा होगा।

(सूर्यमती और नोनिका का प्रवेश)

सूर्यमती : क्षेमट! नगर से कौन आया है? सेनट, हर्षदेव के साथ मंदिर के घाट से वितस्ता के उस पार चला गया है। सकोरो में हम सभी के लिए भोजन लाने। कहो यह कौन आया है नगर से?

क्षेमट : राजमाता! यह दूत राजर्षि के लिए राजा कलशदेव का आज्ञापत्र लेकर आया है।

सूर्यमती : राजधानी से? या फिर उस स्थान से जहाँ कलशदेव रुका हुआ है?

दूत : राजमाता! मेरा पाद-प्रणाम स्वीकार करें। मुझे जो-जो कहा गया है वही कहता हूँ।

सूर्यमती : कहें! क्या है संदेश?

दूत : राजमाता! वह तो इस अंबर-पत्र पर लिखा है।

सूर्यमती : मुझे दें।

दूत : नहीं माता। मुझे आदेश है कि यह मैं केवल राजा अनन्तदेव को ही दूँ।

सूर्यमती : क्या?

(पीछे मुड़कर ब्राह्मणों से कहती है)

हे ब्राह्मणों! प्रदोष काल बीतने को है। चौदस का चन्द्रमा प्रकट हुआ है। जाइए जाकर अन्न-जल ग्रहण कर विश्राम करें।

कोरस : देवों के देव महादेव रक्षा करें! हे विजयेश्वर स्वामी राजा और प्रजा का शुभ करें!

(प्रस्थान)

(सूर्यमती दूत के पास जाती है)

सूर्यमती : यह आज्ञापत्र मुझे दीजिए।

दूत : नहीं माता। मुझे आदेश हुआ है कि यह पत्र मैं केवल राजा अनन्तदेव को ही दूँ।

सूर्यमती : क्या! मेरा कोई अधिकार नहीं?

दूत : माता! ऐसा मैंने कब कहा।

सूर्यमती : तो फिर दे दीजिए यह पत्र मुझे। मैं भी तो देखूँ कि कलशदेव ने क्या आदेश दिया है।

दूत : नहीं माता। राजा अनन्तदेव के सिवा यह पत्र मैं किसी को नहीं दूँगा।

सूर्यमती : क्या? मेरा मान, मेरा सम्मान कुछ भी नहीं। क्या लिखा है इस आज्ञापत्र में? जिस कलशदेव की वाणी मुझसे प्रलाप करते कंपित रहती, उसकी आज्ञा मेरे सामने मत प्रकट करो, दे दो मुझे यह राजपत्र।

(दूत, डरते-डरते आज्ञापत्र छिपाता है। सूर्यमती पत्र छीनती है। सूर्यमती दूसरी ओर जाकर

लुकाठी के प्रकाश में पत्र पढ़ती है। पत्र पढ़ते-पढ़ते कोप चेहरे पर प्रकट होने लगता है)

सूर्यमती : उसकी बुद्धि फिर गई है। वह कैसे हमें दोषी ठहरा सकता है। अपने कुकर्मों का उत्तरदायी हमें बनाता है। यह आदेश देने वाला वह कौन है कि विजयेश्वर में पुनर्निर्माण के लिए शिल्पी उसकी आज्ञा लें। लोग यात्रियों के आराम के लिए मार्गों पर पेड़ लगाते हैं। तब क्या वे राजा से आज्ञा लेते हैं। क्या फिर से निर्माण के लिए हमें उससे आज्ञा लेनी होगी? धिक्कार है ऐसे राजा पर! उसके मन में यह कुविचार आया कैसे? जाओ और जाकर बताओ उसे कि विजयेश्वर के नवनिर्माण की योजना मैंने बनाई है। धन भी मैं ही खर्च करूँगी। कहो उसे कि वह अपनी बुद्धि से काम ले। क्यों वह उन परदेशी षड्यंत्रकारियों की बातों में आ जाता है? उन्होंने अपने देश, राज्य और कुल को तो हानि पहुँचा ही दी है अब इसे भी उकसा रहे हैं। अभी, इसी चंद्र-रात्रि में चल पड़ो और कहो उसे कि यहाँ कोई आदेश न भेजे। राजत्यागी पिता से उसे क्या भय। जाओ लौट जाओ!

दूत : माता, मैं आपका संदेश दूँगा—परंतु!

सूर्यमती : परन्तु क्या?

दूत : मैं यह राजपत्र राजा अनन्तदेव को न दे सका।

सूर्यमती : मुझ में और उनमें क्या अंतर है? जो कुछ इस आज्ञा पत्र के अंत में लिखा है वह मैं किसे कहूँ। किसी को नहीं! इतना असत्य। हे परमेश्वर! उसे यह क्या हुआ है।

(आज्ञापत्र दूसरी दिशा में फेंकती है, तभी राजा अनन्तदेव प्रवेश करते हैं। उनके साथ थक्कन भी है। सूर्यमती संभलने लगती है।)

क्षेमट : प्रणाम राजन! पाद-प्रणाम!!

दूत : राजा अनन्तदेव को राजा कलशदेव के दूत का प्रणाम।

अनन्तदेव : दूत! कश्मीर-मण्डल के राजा कलशदेव का दूत। प्रणाम, क्या संदेश है? कहाँ है राजपत्र? दीजिए।

सूर्यमती : मैंने इसे उत्तर दे दिया है। *(दूत से।)* जाइए आप और जो कुछ भी मैंने कहा है वह उसे कहिए।

दूत : प्रणाम।

क्षेमट : राजर्षि की जय।

(दोनों का प्रस्थान। सूर्यमती पीछे को जाती है और राजाज्ञा को छिपाने का प्रयास करती है।)

अनन्तदेव : कहाँ है संदेश पत्र? क्या है संदेश?

(सूर्यमती आज्ञापत्र उठाती है और उसे जल्दी-जल्दी लपेटती है।)

अनन्तदेव : क्या लिखा है इसमें? क्या संदेश है?

सूर्यमती : कुछ नहीं। मैंने उत्तर दे दिया।

चौदस का चंद्रमा प्रकट हुआ है। आइये वितस्ता के तट पर चलकर भगवत भजन करें।

अनन्तदेव : इसमें क्या लिखा है?

(सूर्यमती अपनी कमर के पीछे आज्ञापत्र छिपाती है।)

सूर्यमती : कुछ भी नहीं। यह केवल एक अंबर-पट ही तो है।

अनन्तदेव : इस अंबर-पट पर संदेश क्या लिखा है? उसे क्यों नहीं पढ़तीं?

सूर्यमती : क्या पढ़ूँ। जब तक सेनट और हर्ष हमारा भोजन लेकर आते हैं तब तक आप विश्राम करें।

अनन्तदेव : जितना-जितना इस आज्ञापत्र पर लिखे अक्षर मुझसे छिपाने की चेष्टा करोगी उतनी ही इसको जानने की इच्छा बढ़ती रहेगी या फिर मुझे दे दो।

(अनन्तदेव सूर्यमती के हाथों से आज्ञापत्र छीनने का प्रयास करते हैं। अंबर-पट का एक कोना अनन्तदेव के हाथ लगता है और दूसरा सूर्यमती के।)

सूर्यमती : छोड़िए इसे। मेरा विश्वास कीजिए। यह कोई आदेश या आज्ञा नहीं है।

अनन्तदेव : छोड़ दो। ऐसा क्या है इसमें जो आज छिपाना है।

सूर्यमती : यह आपके पढ़ने योग्य नहीं है। हाय . . .

(अनन्तदेव आज्ञापत्र ले लेते हैं।)

अनन्तदेव : थक्कन, जरा पढ़ो कि इसमें क्या लिखा है।

(थक्कन लुकाठी के प्रकाश में खड़े होकर पढ़ने लगता है।)

थक्कन : यह सुनकर कश्मीर-मण्डल के राजा कलशदेव को बड़ा कष्ट हुआ कि विजयेश्वर के देवस्थान और नगर को जलवाया गया है। प्रजा को यह संदेह है कि विजयेश्वर का संहार एकांतवासी राजा अनन्तदेव के कहने से हुआ है।

अनन्तदेव : वाह! वाह!! सुनती हैं आप। यह संहार मेरे कहने से हुआ है। वाह मेरे कुलदीपक! पढ़ो थक्कन, आगे पढ़ो।

थक्कन : इस कारण राजा कलशदेव की आज्ञा के बिना विजयेश्वर नगर का पुनर्निर्माण नहीं होगा। तब तक जब तक अनन्तदेव कश्मीर त्याग कर . . .

(वह पढ़ना रोककर अनन्तदेव की ओर देखता है)

अनन्तदेव : पढ़ो।

थक्कन : जब तक राजा अनन्तदेव कश्मीर त्यागकर पुँछ जाकर वास न करें।

अनन्तदेव : क्या . . .!!

थक्कन : कोई शिल्पी राजा कलशदेव की आज्ञा के बिना विजयेश्वर में कोई निर्माण कार्य नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसा करेगा तो दण्ड पाएगा।

(थक्कन पढ़ते-पढ़ते रुक जाता है)

अनन्तदेव : आगे पढ़ो। और क्या लिखा है?

थक्कन : यह आज्ञापत्र, राजा अनन्तदेव के कश्मीर निष्कासन की राजाज्ञा है। राजा कलशदेव।

अनन्तदेव : सुना? धरती पर आँखें गड़ाये क्यों अनुसना कर रही हो। मुझे कश्मीर-निष्कासन का आदेश मिला है। पुँछ में वास करने को कहा गया है। यह नगर मेरी आज्ञा से जला है। सुना . . .!!

(थक्कन उदास हो सीढ़ी पर सिर झुका कर बैठता है। अनन्तदेव क्रुद्ध हो जाते हैं।)

ऐ अनन्तदेव! धिक्कार है उस राजा पर जो अपने जीते जी राज्य शासन का सब अधिकार अपने पुत्र को दे दे। धिक्कार है उस राजा पर जो अपनी रानी के मोह-जाल में फंस कर अपने पुत्र को राज-ताज सौंप दे। धिक्कार है उस राजा पर जो किंवदन्तियों की परवाह

न करे। धिक्कार है उस राजा पर जो स्त्री-आज्ञा शिरोधार्य कर त्रिया-चरित्र को परख न सके। अनन्तदेव धिक्कार है तुझ पर जिसने अपना मान, यश, वीरता, बुद्धि तथा पौरुष इस रानी के पीछे खो दिया।

(सूर्यमती के चेहरे पर क्रोध के भाव झलकने लगते हैं)

कौन पुत्र ऐसा होगा जो अपने वृद्ध पिता को निष्कासन का आदेश दे? क्या ऐसा पुत्र उसकी उत्पत्ति हो सकता है? कदापि नहीं।

(अनन्तदेव थक्कन का सहारा लेने लगते हैं। सूर्यमती उठ खड़ी होती है। कुपित होकर वह ऊँचे स्वर में बोलने लगती है)

सूर्यमती : चुप हो जाइये। चुप हो जाइए। आपको इस बात का भी ज्ञान नहीं कि आप कह क्या रहे हैं? न लाज न लज्जा। सोचे-समझे बिना ही बोले जा रहे हैं। क्या हानि होगी यदि हम पर्वतों के उस पार पुंछ में वास करने जाएँ?

अनन्तदेव : क्या होगा? वही चाहती हो न जो कलश चाहता है . . . मेरी अर्धांगिनी भी वैसा ही चाहती है जैसा उसका पुत्र चाहता है। मुझ वितस्ता-पुत्र को निष्कासित कर पर्वतों के पार भेजना चाहती है। हे विजयेश्वरस्वामी सुनें। सुनें इस त्रिया के वचन। इसका आज्ञाकारी बनकर मैंने क्या-क्या न खोया। साधारण लोग स्त्री को उपभोग की वस्तु समझते हैं किन्तु सत्य तो यह है कि अंत में पुरुष को ही स्त्री के खेल का उपकरण बनना पड़ता है। जो रमणियाँ बनकर कैसे-कैसे तपस्वियों का तप भंग करती हैं। ऐसी स्त्रियाँ बूढ़े पति को बोझ समझकर अपने पुत्रों का हठ पूरा करती हैं। स्त्रियों के इन दोषों को जानते हुए भी मैंने कभी इसका तिरस्कार नहीं किया। सदा यही मुझे आज्ञा देती रही। अपना प्रभुत्व बनाए रखती थी। अब जब मेरे सारे शरीर में झुर्रियाँ पड़ी हैं, केश श्वेत हो गए हैं, मृत्यु समीप आने वाली है, ऐसे में मुझे विजयेश्वर जैसा स्थान त्याग कर कहाँ जाना चाहिए? मेरे सिवा किसका होगा ऐसा पुत्र जो मुझे इस पवित्र तीर्थ से निर्वासित कर किसी कुमार्ग पर मेरी मृत्यु चाहता हो। मेरी इस रानी ने, जिसके गुणों से सदा प्रभावित था, दूसरे कुल में उत्पन्न पुत्र को राजमहल में पाला, ऐसी निंद्य बातें आज मुझे सत्य प्रतीत होती हैं। जिस पुत्र के आचार व्यवहार और आकृति पिता के विपरीत हो। जो अपने बंधुजनों से द्वेष रखता हो, ऐसे पुत्र को किसी दूसरे मनुष्य से उत्पन्न समझना चाहिए या उसकी जान लेनी चाहिए।

(अनन्तदेव सूर्यमती को लात मारते हैं। वह गिरती है और थक्कन उसे उठाता है। वह भी क्रोधित है)

सूर्यमती : इस मूर्ख वृद्ध को अब इस बात का भी ज्ञान नहीं कि कब क्या कहना है। जिसके वस्त्र, सिंहासन, यहाँ तक कि ठाकुरद्वारे की सामग्री तक बंधक रखी गई थी। जिसके पास स्नान करने के समय पहनने के लिए वस्त्र नहीं होता था, उसने मुझ से विवाह के पश्चात् क्या-क्या नहीं पाया। सारी प्रजा जानती है। इस अकर्मण्य वृद्ध को अपने पुत्र ने देश निकाला दिया है। अब पत्नी भी त्याग दे तो लोग क्या कहेंगे। इसी बात से डरती हूँ नहीं तो कौन-सा भय था मुझे। जीवन भर बात करने का साहस नहीं जुटा और आज भाषण देने लगे। सब इसे त्यागते रहे। केवल मैं हूँ जो सदा संग चली। ऐसा न करती तो

लोक-निंदा का पात्र बनती। सभी कहते वृद्ध पति को छोड़ राजमहल में पुत्र-सुख भोगने चली। मैं, मैं न साथ रहती तो निर्धन अभागे की तरह इधर-उधर सकोरा हाथ में लिए माँगते फिरते।

(अनन्तदेव अति क्रुद्ध होकर चिल्लाते हैं)

अनन्तदेव : बस कर। बस कर सुभट्टा। जा, जाकर अपने पुत्र के साथ राजधानी में वास कर। वहाँ राजश्री मिलेगी। हे विजयेश्वरस्वामी! हे चन्द्रशेखर! मुझे इस देह-पीड़ा से मुक्त करो। मुझे मुक्त करो। देख! देख मेरा प्रायश्चित . . . हे . . . शम्भु!

(अनन्तदेव अपनी पीठ दर्शकों की ओर करते हुए दोनों हाथों में छुरा लिए तुरंत अपने पेट में भोंकते हैं और तब सीढ़ियों पर गिर जाते हैं।)

थक्कन : हे पितामह!

(अनन्तदेव को अपनी गोद में लेता है)

थक्कन : राजमाता! अनर्थ! राजा अनन्तदेव ने . . .

(सूर्यमती कनखियों से अनन्तदेव को देखती है।)

सूर्यमती : चुप! चुप रहो!

थक्कन : हे पितामह! हे पितामह!

(अनन्तदेव का सिर उठाते हुए उनके कान में पढ़ने लगता है)

शिव शिव शंभु! हे महादेव शंभु

(अनन्तदेव का सिर नीचे रख कर राजमाता से कहता है)

थक्कन : राजमाता! अनन्तदेव ने अपने शरीर में छुरा भौंक दिया है।

(उधर की ओर देखकर सूर्यमती चिल्लाती है)

सूर्यमती : हाय! यह क्या हुआ!

थक्कन : देखिए कितना रक्त बह रहा है।

सूर्यमती : यह इसने क्या किया? मेरी प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिला दिया।

(वह अनन्तदेव के समीप आती है। उसके शरीर को निहारती है। छुरा उठाकर एक तरफ फेंकती है। अपनी कमर पर लिपटा पट्टक खोलकर उसे अनन्तदेव के पेट पर बाँधती है। थक्कन सहायता करता है।)

सूर्यमती : किसी से न कहना इसने क्या किया। चलो घास पर छोड़ आएँ। न जाने क्यों अपनी भेंट चढ़ा दी।

(नोनिका, वल्गा और गंगाधर का प्रवेश)

नोनिका : यह क्या? क्या हुआ इन्हें? क्या हुआ?

वल्गा : यह क्या हुआ? हे पितामह!

गंगाधर : यह मुझे छोड़ के नहीं जा सकते। हे राजन! यह क्या हुआ है?

(सूर्यमती अनन्तदेव का मृत शरीर थक्कन और गंगाधर के पास छोड़कर भावुक हो आभूषण उतारने लगती है। हर्षदेव, आनन्द और सेनट परातों में भात-भरे सकोरे लेकर प्रवेश करते हैं)

हर्षदेव : पितामही! हम आप सभी के लिए भोजन लाए हैं।
(वह थक्कन और फिर अनन्तदेव के शव को देख लेता है)

हर्षदेव : पितामही! यह क्या?
(सीढ़ियाँ चढ़कर वह शव के पास आता है। आनन्द और सेनट परातें नीचे रखते हैं। सभी चुप, निष्प्राण शव के आगे-पीछे खड़े हो जाते हैं। नोनिका और वल्गा सूर्यमती के पास आती हैं)

हर्षदेव : गंगाधर, यह क्या हुआ है? यह रक्त में लिप्त क्यों हैं?
सूर्यमती : हर्षदेव! इन्हें रक्तातिसार हो गया।
(हर्षदेव उठ खड़े होकर सामने से छुरा ढूँढ़ लाता है। फिर आवेश में सूर्यमती से पूछता है।)

हर्षदेव : किन्तु यह क्या है? यह घायल कैसे हो गए? किसने इतना साहस जुटाया कि इन पर वार करे? या फिर स्वयं ही इन्होंने इसे भौंक दिया है?
सूर्यमती : राजघरानों में न जाने कैसे-कैसे रहस्य छिपा कर रखे जाते हैं।
हर्षदेव : और यह संदेश मेरे पिता को भेजा गया कि नहीं?
सूर्यमती : भिजवाएँगे। किन्तु तुम कभी भी अपने पिता पर विश्वास न करना। *(विराम)* लिटा दो इन्हें घास पर। नोनिका, सिर की ओर दीप जला दो। कल संध्या से पहले इनका दाह-संस्कार करेंगे। उसी समय मैं भी इनके साथ सती हो जाऊँगी।
हर्षदेव : नहीं पितामही। मैं आपको सती नहीं होने दूँगा।
(सूर्यमती अपने आंचल में रखे आभूषण फेंक देती है। उठ खड़ी होती है और हर्ष को अपने सीने से लगाती है। आनन्द भीतर जाता है।)

सूर्यमती : जिस महामना के साथ सारा जीवन बिताया, उसके साथ सती होना ही मेरा धर्म है। यह शापित काया, इनके बिना इसका क्या मोल। जिस राज्ञी को कलह और अपकीर्ति ने पहले ही भस्म किया हो, वह क्या करे जीवित रहकर। जिसका घर होते हुए भी घर नहीं, जिसकी सत्ता होते हुए भी सत्ता नहीं। वह क्या करे जीवित रह कर।
(भीतर से आनन्द घास का गट्ठर तथा जलता हुआ दीपक लिए प्रवेश करता है)

हर्षदेव : पितामही! मेरे लिए अपना निर्णय बदल लें।
(सूर्यमती कुछ नहीं कहती है)

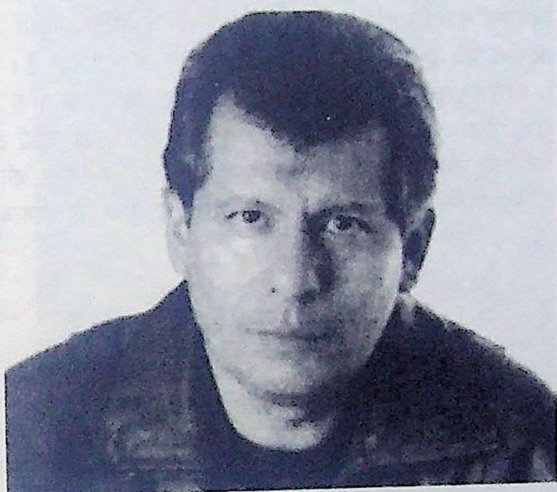
मोतीलाल क्येमू : रंगमंच, रेडियो एवं टेलीविज़न के लिए लिखते रहे हैं। कई नाटक हिन्दी में अनूदित। कश्मीर लोक नाट्य परम्परा को पुनः जीवित करने का श्रेय। साहित्य अकादेमी तथा संगीत नाटक अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित। जम्मू में रहते हैं।

गौरीशंकर रैणा : बीस वर्षों से कश्मीरी एवं अंग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवाद। फ़िल्मों के लिए संवाद लिखे तथा रेडियो के लिए रूपांतर किया है। दूरदर्शन में नाट्य निर्देशन के लिए बर्लिन तथा सिंगापुर से प्रशिक्षण। लघु नाटकों का एक संकलन भी प्रकाशित है। वृत्तचित्र के लिए लोक सेवा प्रसारण पुरस्कार से सम्मानित। संस्कृति मंत्रालय से सीनियर फ़ेलोशिप मिली है। दिल्ली दूरदर्शन में कार्यक्रम अधिकारी हैं।

विश्व रंगमंच दिवस का संदेश

27 मार्च, 2006

विक्तोर ऊगो रास्कोन बांदा (नाटककार, मेक्सिको)



विक्तोर ऊगो रास्कोन बांदा

हर दिन विश्व रंगमंच दिवस माना जाना चाहिए क्योंकि पिछली बीस सदियों में दुनिया के किसी-न-किसी कोने में रंगमंच की ज्योति लगातार जलती रही है।

रंगमंच के अस्तित्व को हमेशा चुनौती मिली है—ख़ासकर सिनेमा, टेलीविजन और अब डिजिटल मीडिया के उदय से। टैक्नोलॉजी ने मंच पर हमला कर मानवीय आयाम को ख़त्म करने और एक नक़ली रंगमंच बनाने की कोशिश की—एक चलती-फिरती पेंटिंग, जिसने बोले हुए शब्द को ख़त्म कर दिया। संवादों, प्रकाश-बिन्दुओं, अभिनेताओं के बिना नाटक मंचित किए गए, जिनमें तरह-तरह की रोशनी में दिखाए जाने वाले मॉडलों और गुडियों का इस्तेमाल था।

टैक्नोलॉजी ने रंगमंच को आतिशबाज़ी के किसी प्रदर्शन या मेले के रंगों में बदलने की कोशिश की।

अब हम दर्शकों के सामने अभिनेताओं की वापसी के साक्षी हैं। आज हम मंच पर शब्दों की वापसी देख रहे हैं।

रंगमंच ने जन-संचार को नकारते हुए उसकी स्वाभाविक सीमाओं को पहचाना है; अनुभूतियों, भावनाओं, सपनों और आशाओं को सम्प्रेषित करते हुए दोनों एक दूसरे का सामना कर रहे हैं। दृश्य कला कथा-कथन के मुक़ाबले वैचारिक विमर्श को महत्व दे रही है।

रंगमंच छूता है, उजागर करता है, बेचैन और परेशान करता है, उत्साहित, उद्घाटित और उत्तेजित करता है, रूढ़ियों को तोड़ता है। यह समाज के साथ संवाद है। रंगमंच ऐसी पहली कला है, जो ख़ालीपन, परछाँइयों और मौन से मुठभेड़ करती है, ताकि शब्दों, गति, प्रकाश और जीवन को आगे बढ़ा सके।

रंगमंच एक सजीव प्राणी है और सृजन के समय ही अपने को नष्ट कर देता है लेकिन राख में से उठ खड़ा होता है। यह एक जादुई सम्प्रेषण है, जिसमें सब लोग कुछ देते और पाते हैं और यह उनका रूपान्तरण करता है।

रंगमंच मानवता की वेदना को प्रतिबिम्बित करता है और इंसान के हालात बदलता है। रंगमंच के माध्यम से इसके सर्जक नहीं वरन उस समय का समाज बोलता है।

रंगमंच के दुश्मन साफ़ हैं : बचपन में कला शिक्षा की कमी, जिसके कारण इसे समझने और इसका आनन्द उठाने में बाधा होती है; ग़रीबी की मार जो दर्शकों को दूर ले जाती है; और सरकारों द्वारा प्रोत्साहन के स्थान पर उदासीनता व उपेक्षा।

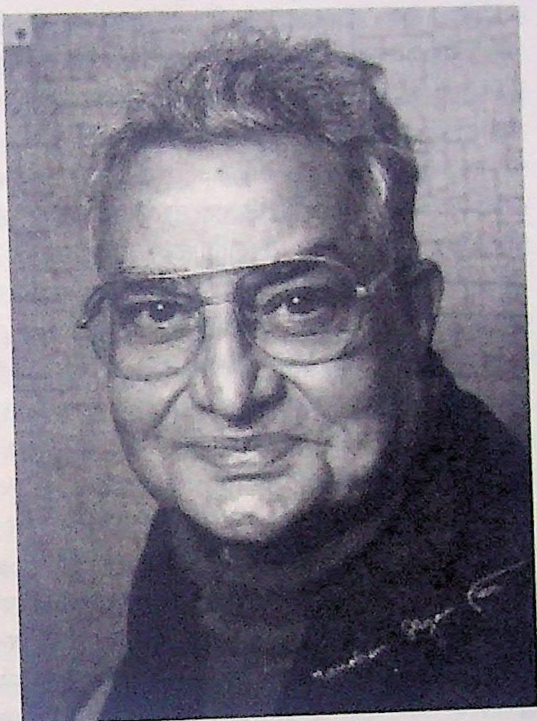
पहले देवता और मनुष्य मंच पर एक-दूसरे से बात करते थे लेकिन अब यहाँ इंसान आपस में बात करते हैं। इसलिए रंगमंच को जीवन से बड़ा और बेहतर होना चाहिए। रंगमंच विवेकहीन दुनिया में बुद्धिमत्तापूर्ण शब्द के प्रति आस्था की गतिविधि है। यह उन लोगों में आस्था का प्रदर्शन है, जो अपनी नियमि के मालिक हैं।

हमें रंगमंच के अनुभव की ज़रूरत है ताकि समझ सकें कि हमारे साथ क्या हो रहा है, ताकि उस पीड़ा और दुख को प्रकट कर सकें, जो हमारे चारों ओर है। साथ ही अपनी रोज़मर्रा की जिन्दगी की उथल-पुथ्ल और दुःस्वप्नों के बीच आशा की किरण चमका सकें।

रंग-संस्कार के सहभागी ज़िन्दाबाद! रंगमंच ज़िन्दाबाद!

अस्तित्व के अंधेरे पक्षों से मुँह क्या चुराना

अजित राय की बातचीत


मनोहर श्याम जोशी

[यह मनोहर श्याम जोशी का संभवतः आख़िरी इंटरव्यू है, और यह 19 मार्च, 2006 को जोशी जी के निवास (ए-53, साकेत, नई दिल्ली) पर ही लिया गया है। अजित राय ने इसे ***रंग प्रसंग*** *को भेजते हुए याद किया है कि "जोशी जी को मैंने इंटरव्यू के लिए 19 मार्च की सुबह फ़ोन किया तो उन्होंने कुछ सोचते हुए कहा कि—शाम को पाँच बजे फ़ोन करके आ जाओ। आज रात मुझे अपने बेटे को छोड़ने एयरपोर्ट जाना है। उससे पहले आठ बजे कहीं और जाना है। पर, कोई बात नहीं हम दोनों किसी कोने में दो घंटे बैठ जाएँगे। जब मैंने पाँच बजे फोन किया तो उनके बेटे ने बताया कि वे आराम कर रहे हैं। मेरे यह बताने पर कि जोशी जी ने मुझे पाँच बजे फ़ोन करने को कहा है, उनके बेटे ने उनसे पूछकर कहा, 'आप अभी आ जाइए।' अजित राय यह भी याद करते हैं कि बातचीत के बीच जोशीजी ने उनसे गुजिया खाने का आग्रह किया, और उस शाम की अन्य व्यस्तताओं के रहते हुए सभी सवालों के जवाब अपनी ख़ास शैली में विचारपूर्वक और खुलकर दिए। साढ़े सात बजे ही उन्हें भीतर से बुलावा आने लगा। आठ बजे उन्होंने उठते हुए कहा, "मुझे अब जाना है। मैं यह इंटरव्यू जल्दी पूरा करा दूँगा। तुम्हें खुद फ़ोन करके बुलाऊँगा और तुम्हारा ठीक से सत्कार भी करूँगा।" पर, वह अवसर ज़ाहिर है कि फिर नहीं आया। लेकिन जोशी जी का यह इंटरव्यू अपने वर्तमान रूप में भी, साहित्य, रचना, पत्रकारिता और हमारे समय के कई सवालों से, अनोखे ढंग से रूबरू कराता है, इसका अनुभव पाठक इस इंटरव्यू से गुज़रते हुए स्वयं करेंगे।—संपादक]*

आपको साहित्य अकादेमी पुरस्कार की फिर से बधाई। बात यहीं से शुरू करें। साहित्य के लिए आपको बहुत कम पुरस्कार मिले हैं। इतने दिनों बाद इस महत्वपूर्ण पुरस्कार को पाकर कैसा लगा?

मैं जो कहने जा रहा हूँ, उस पर तुम हँसोगे। लेकिन इससे पहले दो बातें। एक जैसाकि

मैंने उस दिन साहित्य अकादेमी में अपने लेखकीय वक्तव्य में कहा भी—कि मेरे मित्र सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कहा करते थे, जो लाख समझाने के बावजूद लिखता ही चला जाए उसे कभी-कभी इस ढिठाई के लिए भी पुरस्कृत कर दिया जाता है। तुम ठीक कहते हो साहित्य का यही एक बड़ा पुरस्कार मुझे मिला है। मुझे खुशी भी हुई। अंततः बात यहाँ टूटती है कि निर्णायक कौन-कौन थे। आम सहमति से फ़ैसला हुआ या नहीं। बहुधा होता यह है कि निर्णायक मंडल में कुछ लोग पहले से तय करके आते हैं कि—'इस जन्म में फलाँ को पुरस्कार नहीं देंगे।' मैं यह इसलिए जानता हूँ कि साहित्य अकादेमी पुरस्कार के निर्णायक मंडल में मैं भी कई बार रहा हूँ। इस चक्कर में कोई तीसरा पुरस्कार पा जाता है। यह अजीब है कि वहाँ निर्णायक मंडल को अकादेमी एक सूची थमाकर कहती है कि किसी को चुन लो। इस बार हालाँकि जिन लोगों ने मेरे नाम का फ़ैसला किया वे तीनों तटस्थ थे, विवादास्पद नहीं थे, उनका कोई मठ या नामवर सिंह या अशोक वाजपेयी की तरह कोई गुट नहीं था—नंद किशोर आचार्य, गोविंद मिश्र और विश्वनाथ प्रसाद तिवारी।

अब एक क़िस्सा सुनो। पुरानी दिल्ली के चाँदनी चौक में एक बैंड मास्टर ने कोई अनाम सा पुरस्कार साहित्य कला संस्कृति के लिए शुरू किया। बाद में मध्य प्रदेश के एक ट्रांसपोर्टर ने उस पुरस्कार का अधिग्रहण कर लिया। वे कांग्रेस को काफ़ी चंदा देते थे। उन्होंने केंद्र सरकार के दो-दो कैबिनेट मंत्रियों को बुला रखा था पुरस्कार वितरण समारोह के लिए। चूँकि उनमें से एक सूचना और प्रसारण मंत्री थे तो दूरदर्शन, रेडियो और अख़बारों के पत्रकारों की भीड़ थी। पुरस्कार में पैसा तो था नहीं, कोई ढंग का प्रतीक चिह्न भी नहीं था। लकड़ी की तख्ती पर पुरस्कार का नाम नीचे पतली पन्नी से चिपका दिया गया जिस पर लिखा था—मनोहर श्याम जोशी, 'लिटरेचर'। थोक के भाव पुरस्कार बंटे। उस समय दूसरे चैनल थे नहीं। दूरदर्शन समाचारों में मुझे भी दिखाया गया। मित्रों के बड़े फ़ोन आए कि चेक कितने का मिला। पुरस्कार पाने वालों में एक उत्तर छायावादी कवि सम्मेलनी मशहूर कवयित्री भी थी जिनका अब महत्व सिर्फ़ इसलिए था कि उनकी दो सुंदर बेटियाँ थीं। एक अंग्रेज़ी अख़बार के रिपोर्टर ने मुझसे पूछा कि 'इस महिला का साहित्य में क्या योगदान है?' मैंने जवाब दिया—'ये अभी तक जीवित चली आ रही हैं, यह योगदान क्या कम है?' तो पुरस्कारों की यही हालत है।

आपने साहित्य अकादेमी पुरस्कार पाने के बाद अपने वक्तव्य में कहा था—'साहित्यकार बन बैठने के बाद मुझे अपना साहित्य और अपनी क्रांतिकारी भूमिका दोनों ही व्यंग्य के पात्र प्रतीत होने लगे।' इसका क्या मतलब है? क्या आपका इशारा मार्क्सवादी विचारधारा के असफल या विघटन की ओर है?

देखो, विचारधारा तो अब भी ठीक है। हमारा खुद को क्रांतिकारी होने का दावा करना पाखंड है। आप अपने रोज़मर्रा के जीवन में सामंती मानसिकता छोड़ नहीं पा रहे हैं और वामपंथी बनते हैं। यह कैसे संभव है? हमारे यहाँ कुछ ज़्यादा 'चाहते' हैं। अधिकतर लेखक गाँव से दौड़कर दिल्ली आए—उन्हें भोग की सारी सुविधाएँ कार, बंगला, पैसा चाहिए था—तो क्रांतिकारिता कैसी? न केवल आचरण क्रांतिकारी नहीं है, बल्कि उनके साहित्य से भी क्रांति नहीं हो रही है। मैं तुम्हें बताऊँ जैसे हमारे ज़माने में मलयालम में एक नाटक लिखा गया जिसका शीर्षक था—*तुमने मुझे कम्युनिस्ट बना दिया*। उस नाटक को देख केरल में हज़ारों लोग कम्युनिस्ट बने थे। तुम बताओ, हिंदी में कौन-सी ऐसी कृति है जिससे आप हिल जाएँ।

आपने यह भी कहा है कि 'मेरी और मेरे मित्रों की प्रयोगधर्मिता पश्चिम से आयात की हुई है और क्रांति कामना बुर्जुआ आत्मदया से उपजी भावुकता पर है।'

हिंदी लेखक आज मध्यवर्गीय हिंदुस्तानी है जिसके पास अपनी दुखद स्मृतियाँ—माँ गुज़र गई, पिता भले आदमी थे जैसी हैं। रघुवीर सहाय ने लिख दिया था न 'यही मैं हूँ।' तो आप भावुक बुर्जुआ हैं और फ़ालतू का महान होने का दावा कर रहे हैं। आप सीधे-साधे दुनियादारी के धंधे में हैं, आपको फ़ेलोशिप, पुरस्कार, विदेश यात्राएँ चाहिए। आप बोहेमियन तक तो हो नहीं पाए, क्रांतिकारी होना तो दूर की बात है। आप आधुनिक भी नहीं हो पाए हैं जैसे यूरोप में होते हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना मज़ाक़ करते थे कि यदि आपने सच-सच संघर्ष लिख दिया तो आपका बायोडाटा डल हो गया। शैलेश मटियानी पश्चिम में होता तो बर्तन माँजने और बकरा काटने के लिए ही पूजा जाता। जब हिंदी लेखकों ने कोई नई खोज वास्तव में की ही नहीं तो गर्व काहे का।

मैं यह नहीं कहता कि पश्चिम में लेखक बड़बोले नहीं होते। पर, वे वैसा सचमुच का जीवन जीते हैं। एक तो उन्होंने कुछ नया किया होता है, दूसरे जनता को अधिकार होता है कि वह उनका मज़ाक़ उड़ाए। हेमिंग्वे बड़बोले थे तो वैसी सचमुच की छवि बनाई—मर्दाना छवि, शिकार करना, चला दिया कि नए लोग उन्हें 'पापा' कहें तो भक्तमंडली 'पापा' कहने लगी। जैसे हमारे यहाँ अज्ञेय के लिए लोगों ने 'भाई' शब्द चलाया था जो नहीं चला। प्रसिद्ध अख़बार *न्यूयार्कर* के संस्थापक-संपादक एलेन रास की बेटी लिलियन रास हेमिंग्वे का इंटरव्यू करने गई। उस समय वे एक महिला के साथ नौका-विहार पर जाने को तैयार थे। चेलों ने कहा कि 'पापा' साहित्य के मूड में नहीं हैं। जब उसने जिद की तो हेमिंग्वे ने उसका मज़ाक़ उड़ाते हुए कहा—'तुम सुंदर तो हो ही और बुद्धिमान भी इसमें संदेह है तो साथ चलो नौका विहार पर।' उस इंटरव्यू ने तहलका मचा दिया था। लिलियन रास ने उसमें हेमिंग्व को धोकर रख दिया। उसने एक शब्द नोट नहीं किया। सब कुछ वह दिमाग़ में नोट करती गई। मैंने भी ऐसा ही एक इंटरव्यू आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का लिया था जो कि उन्होंने दिया नहीं था और *आलोचना* में छपते ही हंगामा हो गया था। आपको पता ही होगा कि हेमिंग्वे अपनी आत्मछवि से इस हद तक आक्रांत थे कि बुढ़ापा आते ही गोली मारकर आत्महत्या कर ली। हिंदी में सब बनते हैं, एक हेमिंग्वे वे भी नहीं बन सके।

तो क्या यह मान लिया जाए कि हिंदी साहित्य में कोई मौलिक काम नहीं हुआ। नई कहानी, नई कविता, प्रयोगवाद आदि. . .।

(बीच में रोककर) बस! बस! बस! क्या बात करते हो? जिसे 'नई कहानी आंदोलन' कहा जाता है उसके तीन प्रमुख नाम जिनमें से एक गुज़र गए (मोहन राकेश), दो अभी हैं, राजेंद्र यादव और कमलेश्वर। तीनों मेरे मित्र। खुद को स्थापित करने के लिए आंदोलन चलाया, एक-दूसरे से श्रेय छीनने के लिए लड़ते रहे। क्या कभी इस आंदोलन का कोई घोषणापत्र छपा? नहीं। नई कविता की बात लो। कैसी नई कविता? क्या इससे जुड़े कवियों ने कभी लिखकर बताया कि उनकी कविता पहले से क्यों और कैसे भिन्न है? जैसे फ़्रांस में कविता में प्रतीकवाद आंदोलन चला तो अब हिंदी में भी प्रतीकवाद। हिंदी लेखकों की सारी प्रयोगधर्मिता पश्चिम से उधार ली गई है।

मैं कहना यह चाहता हूँ कि न हम पश्चिमी क़िस्म के लेखक बन पाए, न वैसा आंदोलन

चलाया, फिर भी हमारे यहाँ आत्मकीर्ति या आत्म गौरव का चक्कर कुछ ज़्यादा ही है। यदि आप कुछ अलग क़िस्म का होने का दावा करते हैं तो आपका जीवन और साहित्य वैसा सचमुच में होना चाहिए। हिंदी लेखक का पूरा जीवन निम्न मध्यवर्ग से उच्च मध्यवर्ग तक का सफ़र करने में बीत जाता है। जो उनकी प्रेरणा है वह आत्मदया से है। आजकल पापड़ बेलने की भी यश-गाथाएँ गाई जा रही हैं। सहज स्वीकृति नहीं है। सर्वेश्वर जब मूड में आते थे तो कहते थे—'ये जेनुआइन नहीं है।'

अभी हिंदी में जादुई यथार्थवाद पर बड़ी बहसें हो रही हैं। कुछ लोग मानते हैं कि आपकी आख्यान शैली इससे जुड़ती है। क्या यह सच है?

पश्चिम में भी आधुनिक कला-साहित्य के बारे में यह मान्यता है कि वह उस युग की देन है जिसमें पश्चिम सामंतवाद से औद्योगिक शक्ति बन रहा था। उसे मैं कहता हूँ कि वहाँ 'वैश्यक्रांति' हो रही थी। उस कथा-साहित्य ने यथार्थ का चित्रण करके दूर-दराज़ के पाठकों के लिए ऐसे देश एवं काल निरूपित किए—कैसे संसार रचे जिनसे वे या तो अवगत न थे या जिनमें उनकी पैठ असंभव थी। जैसे 'पेरिस की रंगीन रातें'। जो कभी पेरिस गया ही नहीं उसके लिए खींच दिया पेरिस का ऐसा रंगीन चित्र कि वह उस रस में डूब जाए। तो इसी का नाम यथार्थवाद पड़ा। यदि किसी पाठक ने कोठा न देखा हो और पेरिस के कोठे का लेखक वर्णन करे तो उसके लिए यह भारी चीज़ हुई कि नहीं? जबकि पहले साहित्य में देवी-देवता, परी-कथाओं, सामंती जीवन आदि का चित्रण होता था। आज से चार सौ साल पहले स्पानी में सर्वांतीस ने *दोन किहोते* जैसा उपन्यास लिखा। वैश्य वर्ग की पत्नियों को पढ़ने को चाहिए था क्योंकि वे खाली-ऊबी हुई होती थी।

जब पश्चिम में अख़बार आ गया जो रोज़ विचित्रताओं से भरा होता था तो ऐसे यथार्थवादी उपन्यासों के लिए मुश्किल होने लगा तो प्रयोगवाद आया। क़िस्सागोई ख़त्म होने लगी। तुम्हें बताऊँ कि जिसे उत्तर आधुनिक या जादुई यथार्थवाद कहा जाता है—उसका सबसे पहले प्रयोग साहित्य में नहीं आर्किटेक्चर में हुआ। लेकिन इसका भी कोई विधिवत घोषणापत्र नहीं आया।

एक सज्जन हुए होर्जे लुई बोर्हेस (हिंदी वाले ग़लत पढ़ते हैं—जार्ज लूई बोर्खेज)। उनका सारा आरंभिक जीवन यूरोप में बीता। बहुभाषी थे। स्वदेश लौटे तो लायब्रेरी में रख दिए गए। क्रमशः अंधे होते गए। पहले एक अख़बार में साहित्यिक कॉलम लिखकर प्रसिद्ध हुए। उन्होंने स्थापना दी कि जो यूरोपीय साहित्य दृष्टि है वह ईसाई यहूदी परंपरा की जीवन दृष्टि से आक्रांत है। जब तक आप काफ़िर नहीं होंगे, इस दृष्टि से मुक्त नहीं होंगे, तब तक आप मौलिक साहित्य नहीं लिख सकते। डंके की चोट पर उन्होंने कुछ विचित्र कहानियाँ भी लिख दीं जिनमें स्थानीय वीर गाथाएँ और पूरब के साहित्य का अनुकरण किया गया था।

हमारे मित्र श्रीकांत वर्मा जो उन दिनों कांग्रेस के बड़े प्रभावशाली नेता थे—यह 1969-70 का दौर होगा—उन्हें खुश करने के लिए कई लोग विदेशों से नई-नई किताबें लाकर भेंट करते थे। उन्हीं के यहाँ से मैं बोर्हेस की किताब 'फिचीमोने' लाया था जिसका हिंदी में अर्थ है 'गल्प'। मैंने शमशेर बहादुर सिंह को दिखाया तो वे चमत्कृत रह गए। मैंने कई लेखकों से इसका अनुवाद करने को कहा। किसी ने दिलचस्पी नहीं ली। तब तक मैं भ्रमवश मात्र 'बोर्जे' समझता रहा। मैंने *साप्ताहिक हिंदुस्तान* में अपने स्तंभ में लिखा। आप यह न समझें कि मैंने बोर्हेस की नक़ल की। यदि हिंदी में कुछ भी चला दो तो नाम हो जाता है। मुझे यह आख्यान पद्धति एक

मुक्ति का मार्ग लगा। मुझे तो इस बात में आनंद आया कि जादुई यथार्थवाद से जुड़े सारे लेखक कम्युनिस्ट थे और ऐसा लिखते थे।

पर हिंदी में आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता, जादुई यथार्थवाद का कोई असर दिखता है?

जब हिंदी में सही मायने में आधुनिकता और यथार्थवाद ही नहीं आया तो उत्तर आधुनिकता और जादुई यथार्थवाद कैसे आ सकता है। जैसा कि मैंने पहले कहा हमारे यहाँ आधुनिकता पश्चिम से आयात की हुई है। आते ही हमारी प्रतिक्रिया दो स्तरों पर हुई। पहली कि 'आधुनिक होने दो हमें क्या करना हम तो पहले से ही महान हैं। क्या कभी यह आंदोलन होता है कि 'हम भ्रष्ट है' हमें आधुनिक हो जाना चाहिए। तो दूसरी प्रतिक्रिया कि हम यथार्थ से घबराते रहे पर लोक आख्यान शैली से भी परहेज करते रहे। हमने बीच का रास्ता चुना—आदर्शोन्मुख यथार्थवाद। यानी न आदर्शवादी न यथार्थवादी। हमारे यहाँ संस्कृत का घोटा लगाए पंडित और मार्क्स का घोटा लगाए तथाकथित क्रांतिकारी दोनों को स्वीकृति प्राप्त है। यदि कोई लेखक सेक्स की वेश्याओं की, हिजड़ों की, समलैंगिकों की बात लिख दी तो उसे दोनों खेमा अस्वीकृत कर देगा। स्वयं मार्क्स की टिप्पणी है कि 'आदर्श यथास्थितिवादी होता है जिस पर लीपापोती करने से अच्छा है तोड़-फोड़ करना।'

हिंदी में क्या हालत है, इसके लिए एक उदाहरण देता हूँ। मैंने एक कहानी काफ़ी पहले लिखी थी *चौकीदार का बेटा* जिसमें हल्का-सा यौन प्रसंग था। प्रगतिशील लेखक संघ के प्रकाशचंद्रजी को दिखाया तो उन्होंने कहा 'बकवास है। यह क्या सेक्स-वेक्स की बात। ख़बरदार जो कभी ऐसा लिखा।' उन्होंने वह कहानी फाड़कर फेंक दी। उन्होंने मुझे 'लूंपेन प्रोलितारियत' कहा। तो हमारे यहाँ यथार्थवाद उस अर्थ में आया ही नहीं जैसा पश्चिम में आया। हमारे यहाँ अखिलेश या शिवमूर्ति ऐसा लिखते हैं तो 'बहुत ढेर' माना जाएगा। उत्तर आधुनिकता पर केवल सुधीश पचौरी ने दो-चार प्रवचन दिया है बस। तो यह हिंदी में 'आउट ऑफ कोर्स' है। हमने इन अवधारणाओं को स्वीकार ही नहीं किया।

आपके लेखन पर अश्लीलता का आरोप लगाया जाता रहा है। ख़ासतौर पर हमजाद उपन्यास पर। हालाँकि इसे उदय प्रकाश हिंदी का पहला ऐसा महत्वपूर्ण उपन्यास मानते हैं जिसमें 'पापुलर कल्चर' की आलोचना की गई है जो आज हमारे चारों ओर अराजक रूप में पैठ जमा चुका है।

हमजाद को लिखते समय मेरे दिमाग़ में आदमी के अस्तित्व को लेकर कई बातें थीं। मैं उसके अंधेरे पक्षों की ओर गया। आदमी के अस्तित्व में ही जो घटियापन, दुष्टता या 'एविल' है, दूसरे रचनाकारों, कलाकारों के भीतर भी 'एविल' है और तीसरे खुद लेखक यानी मैं जो उसका एक पात्र है, जो कहानी कहता है—उसके भीतर भी 'एविल' शैतानियत है। *हमजाद* पर विजयमोहन सिंह ने लिखा—'मनोहर श्याम जोशी उन अमेरिकी लेखकों की तरह हैं जो 'पोर्न' (अश्लील साहित्य) लिखकर नाम और पैसा कमाते हैं।' मुद्राराक्षस की सुनिए। 'भांग की पकौड़ी' और *हमजाद* में अंतर नहीं।' बटरोही ने *हरिया हरक्युलिस की हैरानी* उपन्यास को धारावाहिक प्रकाशित करने वाली पत्रिका *इंडिया टुडे* के संपादक को लिखा—'इसे पढ़कर मुझे उल्टी हो गई, बंद कीजिए।' मैंने एक पारिवारिक महिला मित्र को इसे उपहार दिया (हँसते हुए एक लेखक तो अपनी किताबें ही उपहार दे सकता है) तो उन्होंने पढ़ने के बाद फ़ोन किया 'बकवास है।'

मैं विद्यानिवास मिश्र जी का बड़ा आदर करता था। उनको *हमजाद* पढ़ने को दिया। पुस्तक पर लिखकर 'बहुत संकोच और भय के साथ।' उन्होंने पढ़ने के बाद बहुत गंभीरतापूर्वक कहा—'तुम्हें यह नहीं लिखना चाहिए था।'

मैंने पूछा—'क्या यह उपन्यास अश्लील है?'

उन्होंने कहा—''नहीं। पर यह हिंदीभाषी समाज की मानसिकता से मेल नहीं खाता। यदि यह मराठी, बांग्ला या मलयालम में लिखा गया होता तो ठीक था।'' मैंने मन ही मन कहा 'यह क्या बात हुई।' पर, आज मुझे लगता है कि उनकी बात में दम है। हिंदी वाले आज भी चुटकुले, लतीफा, आत्मप्रवंचना ही पसंद करते हैं। कटु बात को स्वीकार नहीं कर सकते। मैं मानता हूँ कि मैंने कुछ भी अश्लील नहीं लिखा। यदि आपका आशय कि इशारे से भी सेक्स की बात अश्लील है, वर्जित है तो मैं इसे नहीं मानता। एक ज़माने में द्वारका प्रसाद जी के दो उपन्यास इसी कारण चर्चित हो गए थे—*मम्मी बिगड़ेगी* और *घेरे के बाहर*। आप बताइए कि *चित कोबरा* में ऐसा क्या था कि उसकी लेखिका मृदुला गर्ग को जेल भिजवाने पर लोग तुल गए थे। हम हिंदी वाले क्या कोई दुनिया से न्यारे हैं। मुझे इन आरोपों से ज़रा सी भी परेशानी नहीं। मैं हिंदी में कुछ भी लिख दूँगा तो मुझे कुछ ख़ास मिलना नहीं है—न बड़ा पाठक वर्ग न पैसा। मुझे हिंदी की सीमा का पता है।

मैं एक बात और साफ़ कर दूँ कि लोकप्रियता के लिए मेरी रचनाओं में जान-बूझकर सेक्स प्रसंग कतई नहीं आता। हिंदी में केवल मैं और दूसरे राजेंद्र यादव हैं जिन्होंने दुनिया भर का सारा पोर्न लिटरेचर पढ़ रखा है। हम चाहें तो कमाल का अश्लील साहित्य लिख सकते हैं। मुझे पता है कि जनता कैसे प्रसन्न होती है। आप मेरे सीरियल देखिए। मैं चाहता हूँ कि एक ज़बरदस्त किस्म का पापुलर उपन्यास, एक प्रेम कथा, एक जासूसी उपन्यास लिखूँ जो हंगामा मचा दे।

तो इन दिनों किन किताबों-उपन्यासों पर काम कर रहे हैं? आपके कई उपन्यास अधूरे पड़े हैं?

एक तो *कपीश जी* जिसकी तुम बार-बार चर्चा करते रहते हो। उसका अमेरिका वाला हिस्सा बच गया है। एक दूसरा उपन्यास है कम्बोडिया की पृष्ठभूमि पर *गिनुआ* जो *सोच* पत्रिका (पंकज सिंह) में छपेगी। एक लिख रहा हूँ *किस्सा पौने चार यार*। पश्चिम बंगाल में तुमने सुना होगा कि 'भुवाल सन्यासी केस'। उस पर फ़िल्म-धारावाहिक की पटकथा लिखी थी। वह शीघ्र *कौन* नाम से आ जाएगी। मैं कुछ वैज्ञानिक कथा-साहित्य लिखना चाहता हूँ। भूपेंद्र अबोध नाम से एक लेखक ने एक सत्यकथा लिखी थी, जिस पर कल्पना लाजिमी के लिए डेढ़ लाख रुपये लेकर *कजरी* नाम से एक स्क्रिप्ट लिखा था। उस पटकथा को छपवाना चाहता हूँ। अधूरे उपन्यास दर्ज़नों पड़े हैं। पता नहीं लिख पाऊँगा या नहीं। पर *कपीश जी* को लेकर मैं गंभीर हूँ। यह मेरी एक महत्वपूर्ण रचना बनेगी। अच्छा अब बाक़ी बातें अगली बार। मैं तुम्हें खुद फ़ोन करूँगा। उस दिन तुम्हारा ठीक से सत्कार करूँगा। आज तो बेटे को छोड़ने एयरपोर्ट जाना है। वह अमेरिका जा रहा है। . . .

एक 'मेगा-ऑथर'

उदय प्रकाश

मनोहर श्याम जोशी बड़े लेखक थे। रोलां बाथ जिसे 'मेगा ऑथर' कहा करते थे—'महा लेखक'। अगर ध्यान से देखें तो *हम लोग* और *बुनियाद* भी मनोहर श्याम जोशी द्वारा टेलीविजन के परदे पर लिखे गए हिंदी के महत्वपूर्ण उपन्यास ही थे। उनकी सारी बनावट उपन्यास की थी। भले ही रमेश सिप्पी, भास्कर घोष और मनोहर श्याम जोशी पर ये आरोप लगाए गए हों कि उन्होंने दूरदर्शन को लोकप्रिय बनाने के लिए किसी मेक्सिकन सोप ऑपेरा से 'आइडिया' लिया था, लेकिन गहराई से देखें तो *हमलोग* और *बुनियाद* के सारे पात्र किसी सोप ऑपेरा के पात्र नहीं, किसी महत्वपूर्ण साहित्यिक उपन्यास के ही पात्र थे। इनमें जो आख्यान या 'नैरेटिव' था, वह किसी महाकाव्यात्मक भारतीय उपन्यास का नैरेटिव था।

कहा जाता है कि उपन्यास को पहचानने का सबसे प्रमुख लक्षण है उसमें से हमेशा झलकने-कौंधने वाली 'ऐतिहासिकता'। हर उपन्यास अनिवार्यतः इतिहास से टकराता है। वह या तो उसका निषेध करता है या उसे स्थगित करता है या फिर उसे व्यक्त करता है। यानी नए सिरे से उसकी पुनर्रचना करता है। इस अर्थ में उपन्यास हमेशा अपने समय तक के इतिहास की 'एंटीथीसिस' होता है। शायद यही कारण है कि कोई भी महत्वपूर्ण उपन्यास इतिहास से अधिक मौलिक और प्रामाणिक हुआ करता है। उपन्यास और कुछ नहीं, इतिहास के किसी अंश का साधारणीकरण और मानवीकरण है। उपन्यास इतिहास का लोकतंत्र है और एक अकेले नागरिक या मनुष्य की डायरी। मनोहर श्याम जोशी (इसे उनके साथ काम कर चुके पुष्पेश पंत, अमिताभ श्रीवास्तव, शुतापा इरफान और मेरे समेत कई लेखक अच्छी तरह से जानते हैं) कुछ भी लिखने के पहले शोध (रिसर्च) को हमेशा बहुत महत्व देते थे।

पाँच-सात वर्ष पहले वे सुप्रसिद्ध कन्नड़ कथाकार भैरप्पा के उपन्यास *दाटु* (उल्लंघन) की पटकथा लिख रहे थे। उपन्यास कालक्रम के लिहाज से बहुत अराजक और आगे-पीछे था। इसकी 'आधार कथा-रेखा' का छोटा-सा काम उन्होंने मुझे सौंपा। कहने की जरूरत नहीं कि उस काम के दौरान मुझे दक्षिण भारतीय राजनीति और उसकी जातीय टकराहटों का अच्छा-खासा इतिहास समझना पड़ा।

हम लोग और *बुनियाद* को पहले प्रसारण के दौरान जैसी लोकप्रियता मिली थी, उससे कई बार तो 'प्रिंट एज' की शुरुआत की घटनाएँ याद आती हैं। उस समय जब अखबार बिल्कुल नई चीज हुआ करता था और जब तोप के 'मुकाबिल' अखबार निकालने का मुहावरा बना था। उस दौरान एलेक्जेंडर ड्यूमा और विक्टर ह्यूगो के सीरियल उपन्यासों का पाठक उसी तरह बेसब्री से इंतजार करते थे, जैसा *हम लोग* और *बुनियाद* की अगली कड़ियों का। शर्तें और बाजियाँ लगती थीं कि अब अगली कड़ी में नन्हें या बड़की या मंझली का क्या होगा। क्या यह एक अलग अध्ययन का विषय नहीं है कि जोशी जी के ये दोनों 'इलेक्ट्रॉनिक उपन्यास' इतने ताकतवर थे कि उनमें अभिनय करने वालों की समूची पहचान, बाद में उन पात्रों से कभी अलग नहीं हो पाई और धारावाहिक के समाप्त होते ही वे परदे के पार के अंधेरे में पता नहीं कहाँ विलुप्त हो गए। मुझे नहीं लगता कि हमारे समय में हिंदी का कोई दूसरा

लेखक समूचे भारतीय उपमहाद्वीप में इस तरह प्रख्यात, लोकप्रिय और जाना-पहचाना रहा हो।

कुछ अरसा पहले जब मनोहर श्याम जोशी ने *हरिया हरक्यूलीज की हैरानी* (हम लोग इसे मजाक में 'ह ह है' कहा करते थे) लिखा तो, (जिसका उन्हें और हम सबको अंदाजा था) तथाकथित 'हिंदी समाज' में भरपूर बवाल हुआ। *इंडिया टुडे* को चिट्ठियाँ भेजी गईं। निंदा अभियान चलाया गया। लेकिन इस विनम्र सत्य को स्वीकार किया जाना चाहिए कि मनोहर श्याम जोशी जैसे बड़े रचनाकार के हास्य और गाली के पीछे भी वह प्रचंड पवित्र आधुनिक प्रतिभा सदा उपस्थित रहती थी, जो हमेशा इतिहास और मिथक के मूल सवालों को अपनी रचना की आँख से ओझल नहीं होने देती थी। जो लोग समाजविज्ञान, लोक-संस्कृति (फोकलोर) और नृतत्त्व विज्ञान (एंथ्रोपोलॉजी) से जुड़े हुए थे, 'हरिया हरक्यूलीज' ने उन्हें एक नई दृष्टि दी। मनोहर श्याम जोशी का यह 'हल्का-फुल्का', 'मल-मूत्र' वाला उपन्यास भी जाति, कुटुंब, गोत्र और क्षेत्रीयता के हाथों गढ़े जाते किसी दंतकथा के नायक की व्युत्पत्ति का एक अनोखा उत्तर-आधुनिक गल्प है।

कुछ वर्ष पहले, जोधपुर में दिवंगत कोमल कोठारी ने इस पर बातचीत के दौरान कहा था कि *हरिया हरक्यूलीज* को समझने के लिए रवींद्रनाथ ठाकुर के प्रसिद्ध लेख *पहला राजा* और लुई वेग्नर द्वारा संपादित *मॉर्फोलॉजी ऑफ फोकटेल* को पढ़ना चाहिए। जाहिर है, किस साहित्यकार की कौन-सी कृति किन लोगों द्वारा पढ़ी जा रही है, इसे समझना अब बहुत जरूरी हो गया है। वरना निर्मल वर्मा, अज्ञेय, धर्मवीर भारती, मुक्तिबोध और अब मनोहर श्याम जोशी की रचनाओं के प्रति 'सामूहिक-समन्वित' आचरण की रोक-थाम भविष्य में भी नहीं हो पाएगी। अमेरिका में वर्जीनिया विश्वविद्यालय के दक्षिण एशियाई अध्ययन केंद्र के विभागाध्यक्ष और हिंदी के सुप्रसिद्ध विद्वान और अनुवादक रॉबर्ट ए ह्यूक्सटेड ने *ह ह है* और *ट-टा प्रोफेसर* का अनुवाद किया और इस अनुवाद को ब्रिटेन का महत्त्वपूर्ण 'क्रॉसवर्ड' पुरस्कार भी मिला। (मुझे नहीं पता कि हिंदी समाज के पुरस्कार-तंत्र के दिग्गजों को इसका पता भी होगा)।

रॉबर्ट की अगली योजना *क्याप* के अनुवाद की थी, जिसके लिए जोशी जी से उनकी बात भी हो चुकी थी। तीन दिन पहले जब मैं उन्हें जोशी जी के न रहने की सूचना दे रहा था, जेएनयू की वह पाँच साल पहले की शाम लगातार याद आ रही थी, जब *ह ह है* और *ट-टा प्रोफ़ेसर* पर लंबी बात हुई थी और *कसप* के नायक डीडी के बारे में इतनी रोचक जानकारियाँ मिली थीं कि उनका जिक्र फिर कभी। अभी, जब मैं यह टिप्पणी लिख रहा हूँ, वर्जीनिया से उनके अनुवादक और मेरे मित्र रॉबर्ट का पत्र आ गया है :

'ओह! कितना बड़ा आघात! किसी दिन उनकी मृत्यु होगी, इसका विचार तक मेरे दिमाग में कभी नहीं था। वे हमेशा कितने युवा और जीवंत लगते थे। खासतौर पर अपने सोच और रचनाओं में। पिछली गर्मियों में जब वे यहाँ अमेरिका में थे, मैं उनसे मिलने नहीं जा सका था क्योंकि मैं दुर्भाग्य से उन दिनों बहुत अधिक व्यस्त था और तब मुझे हल्का-सा अंदेशा भी नहीं था कि मैं उन्हें अब कभी नहीं देख पाऊँगा। इतनी जल्द! मैंने अभी-अभी उनके बेटे को पत्र भेजा है, जो यहीं के एक शहर में है। यहाँ से कार द्वारा सिर्फ चार घंटे की दूरी पर। हो सकता है वह अभी वहाँ हो।'

कसप हिंदी की पहली शुद्ध आधुनिक औपन्यासिक प्रेमकथा है। एक कामयाब प्रेम-उपन्यास। न *गुनाहों का देवता* जैसा अर्ध-छायावादी और घनघोर हिंदी पट्टी वाली भावुकता से लबलबाता

दूसरे दर्जे का असफल उपन्यास, न *शेखर—एक जीवनी* जैसा जटिल, जो 'इंसेस्ट सेक्सुअलिटि' से लेकर क्रांतिकारिता तक की तमाम कौड़ियाँ बटोरता है। *कसप* पूरे खिलंदड़ेपन, हास्य और संवेदना से भरा हुआ एक बेहद पठनीय प्रेमाख्यान है। शायद हिंदी का अकेला आधुनिक प्रेम-उपन्यास। इस उपन्यास में मनोहर श्याम जोशी अपने पूरे सृजनात्मक फॉर्म में हैं। अपने बर्बाद फ्रीलांसर इंटेलेक्चुअल युवा प्रेमी डीडी के प्यार से हारी हुई नायिका 'बेबी' अंत में विवाहिता हो जाने के बाद भी पहली बार समर्पण में जो वाक्य बोलती है, उसे जोशी जी के अलावा कोई और नहीं लिख सकता था। वह वाक्य था, 'आ, भोग लगा ले मेरा।'

आख्यान के भीतर किसी घटना के आविष्कार का ऐसा कौतुक, कोई दूसरा रचनाकार ही जान सकता है, कि यह कितना कठिन और असाध्य होता है। *कसप* में डीडी और बेबी की पहली भेंट तब होती है और प्रेम का पहला बीज उन दोनों के हृदय में उस समय पड़ता है, जब नायक टॉयलेट जाना चाहता है और उसके पाजामे के नाड़े में 'ब्रह्मगांठ' लग गई है। उस गाँठ को बेबी नाखून और दाँत से खोलती है। प्रेम का यह उद्दीपन प्रसंग और घटना-संदर्भ किसी औसत रचनाकार के बस की बात नहीं। ऐसी कल्पनाशीलता और विदग्धता हिंदी के जिस दूसरे कथाकार में थी और जो अपनी तरह से गल्प का दूसरा सिद्ध उपन्यासकार था, उसका नाम था—हजारीप्रसाद द्विवेदी। *अनामदास का पोथा* में तरुण रैक्व के हृदय में भी प्रेम का पहला बीज ऐसे ही अनोखे वैचित्र्य से भरे प्रसंग से होता है।

अभी जोशीजी के न रहने का आघात बहुत गहरा है। पिछले महीने भर में उनसे हुई मुलाकातें और उनका हँसता हुआ चेहरा बार-बार सामने आता है। वाणी प्रकाशन के अरुण माहेश्वरी द्वारा उनके सम्मान में घर की छत पर आयोजित 'मित्र-मिलन' और फिर दरियागंज में 'होली मिलन'। ओम थानवी ने निकट भविष्य में ऐसा ही आत्मीय-सा अनौपचारिक आयोजन राजस्थान में उनके जन्म-स्थान अजमेर में करने की योजना बनाई थी और जोशी जी इसके लिए बहुत उत्सुक थे। उन्हें जल्द ही मेरे घर की छत पर भी आना था।

उस शाम जब आयोजन समाप्त होने को था, यह एक संयोग ही था कि तीन लोग एक जगह उस कक्ष में एक साथ देर तक रह गए थे। जोशीजी, 'सराय' के रविकांत और मैं। और उन्होंने हँसते हुए कहा था, 'देखो, हिंदी साहित्य के 'लुंपेन प्रोलितेरिएत' इस हाल में भी अंत में एक जगह इकट्ठा हैं।' इसके बाद वे त्रिनेत्र जोशी की बिटिया के विवाह की रात मिले। वहाँ भी वही 'विट' और प्यार। 'तुम डांस नहीं करोगे? अपनी पत्नी या किसी फ्रेंड के साथ?' वे सचमुच एक महान 'प्रोलेतेरिएत' थे। सामंती अभिजात और बुर्जुआ पाखंड की धज्जियाँ उड़ाने वाले मेहनतकश लेखक।

मुझे गहराई से यह लगता है कि स्वतंत्रता के बाद उत्तर औपनिवेशिक भारत में आख्यान की जो एक दूसरी परंपरा निर्मित-विकसित हुई, जिसके निर्माण में हजारीप्रसाद द्विवेदी, अमृतलाल नागर, श्रीलाल शुक्ल और एक हद तक फणीश्वरनाथ रेणु की महत्वपूर्ण सृजनात्मक भूमिका थी, मनोहर श्याम जोशी आख्यान की उसी दूसरी परंपरा के अप्रतिम कथाकार थे। एक जीनियस मेगा-ऑथर। उनका वास्तविक मूल्यांकन तब हो पाएगा जब हिंदी की अकादेमिक आलोचना में पीढ़ी परिवर्तन होगा और इसके रुग्ण सामंती चेहरे की बजाय इसका एक ताजा आधुनिक चेहरा हमारे सामने उपस्थित होगा।

उदय प्रकाश : कवि, कथाकार, उपन्यासकार, फ़िल्मकार भी है। *तिरिछ, और अंत में प्रार्थना, रात का हारमोनियम* प्रसिद्ध कृतियाँ। पत्रकारिता के बाद अब स्वतंत्र लेखन, दिल्ली में रहते हैं।

मनोहर महक

मधुकर उपाध्याय



मनोहर श्याम जोशी तिहत्तर साल तक एक निर्लज्ज समाज में रहे। गए तो वही समाज छोड़ गए। निर्लज्ज। वह नहीं बदला। उनकी सारी कोशिशों के बावजूद। बदले जोशी भी नहीं। कोशिश करते रहे। आखिरी दिन तक।

हमारे बीच एक मनोहर श्याम जोशी थे। यह कहना गलत होगा। इस वाक्य में सिर्फ 'थे' सही है। एक तो वे कतई नहीं थे। कई थे। अनेक मनोहर श्याम जोशी। अपना अनेकत्व साथ लेकर चलते हुए। उपन्यासकार, व्यंग्यकार, टेलीविजन धारावाहिकों के लेखक, फ़िल्म पटकथा लेखक। और गजब के जुमलेबाज़। एक से दूसरे जोशी में सहजता से बदलते हुए। हर क्षेत्र में उनकी अलग छाप भी। सबसे जुदा अंदाजे बयां। इसमें एक साझा सत्त था। समाज की विद्रूपता। उसमें लगातार बढ़ती निर्लज्जता। वही हमेशा निशाने पर रही। जोशी जी ने उसे कभी नहीं बख्शा। उनके अंदर के सारे जोशी वही रहे। कोई नहीं बदला।

अभी पंद्रह दिन पहले दिल्ली के दरियागंज में एक जलसा हुआ। होली के ठीक एक दिन पहले। मौका होली मिलन का था और मनोहर श्याम जोशी के सम्मान का भी। उन्हें कुछ दिन पहले साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। जलसे का आयोजन अरुण माहेश्वरी ने किया। उसमें सभी आए। नामवर सिंह, अशोक वाजपेयी, कुंवर नारायण, राजेंद्र यादव, केदारनाथ सिंह, निर्मला जैन, धीरू भाई शेठ। जलसे में जोशीजी अपने स्वभाव के विपरीत लगभग चुपचाप बैठे रहे। एकाध चुटकी ली और फिर चुप हो गए। किसी ने उनकी तारीफ में कहा, 'जोशी पचास साल में एकदम नहीं बदले।' मुस्कराकर उन्होंने जवाब दिया, 'मैं तो नहीं बदला, तुम जरूर बदल गए।' उनकी एक अदा थी, किसी को सीधे नाम से न बुलाने की। किसी को वे वीर बालक कहते थे, किसी को मातादीन। मुझे उन्होंने हमेशा मधुकर श्याम कहा, अपना एक तिहाई नाम मुझे सौंप दिया। बिना माँगे।

मनोहर श्याम जोशी भाषाविद् थे। प्रशिक्षण से नहीं। प्रकृति से। भाषाओं, बोलियों पर गजब की पकड़। इसी ने उनकी दिशा बदल दी। बनना परमाणु वैज्ञानिक चाहते थे। पढ़ाई उसी की की। लेकिन लेखक बन गए। भाषाविद बनने के लिए उन्हें प्रयास नहीं करना पड़ा। यह गुण उनमें शायद जन्मजात था। कोई भी भाषा उसकी पूरी बारीकियों के साथ पकड़ना और उसे जस का तस कागज पर उतार देना उनके लिए खेल था। *बुनियाद* की पंजाबी, *कक्काजी कहिन* की अवधी और *कसप* की कुमाऊँनी। पढ़कर लगता ही नहीं कि तीनों एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं। यह मनोहर श्याम जोशी की ताकत थी। वह भाषा को धारदार हथियार की तरह

इस्तेमाल करते थे। समाज की निर्लज्जता पर हमले के लिए।

एक बार उन्होंने कहा था, 'व्यंग्य उस समाज में होता है, जहाँ कुछ पर्दादारी हो। सब खुल्लमखुल्ला हो तो व्यंग्य नहीं होगा। लिखा गया तो वह वीभत्स व्यंग्य हो जाएगा। बुश, ब्लेयर, वाजपेयी, लालू और राबड़ी जैसे बोलते हैं, उससे लगता है कि अलग से व्यंग्य की जरूरत ही नहीं। वास्तविकता व्यंग्य से बड़ी हो गई। व्यंग्य खत्म हो गया। हम एक निर्लज्ज समाज में रहते हैं। इसे व्यंग्य से क्या फर्क पड़ेगा।'

मनोहर श्याम जोशी ने इसी निर्लज्ज समाज में तिहत्तर साल गुजारे। इस पीड़ा के साथ। इसी निर्लज्जता पर लिखते रहे। इसी को संवेदनशील बनाने में मुब्तिला रहे। *कसप, क्याप, कुरु-कुरु स्वाहा, कैसे किस्सागो, हरिया हरक्यूलीज की हैरानी, ट-टा प्रोफेसर* और *नेताजी कहिन* इसके छपे हुए प्रमाण हैं। *हे राम, अप्पू राजा, पापा कहते हैं* और *भ्रष्टाचार* फ़िल्मों में भी उन्होंने यही कहा। कहानियाँ उनकी नहीं थीं। संवाद थे। पर बात वही थी। टेलीविजन धारावाहिक *हम लोग* और *बुनियाद* में भी बुनियादी कहानी यही रही। *कक्काजी कहिन* और *मुंगेरीलाल के हसीन सपने* में वह थोड़ा और मुखर होकर बोले। उन्होंने होली मिलन वाले दिन कहा, 'मैं एक और उपन्यास लिख रहा हूँ। पूरा ही समझो।' मैंने हँसते हुए पूछा, 'उसका नाम भी 'क' से है?' जोशी ने ठहाका लगाया, कहा 'हाँ!' उसका नाम रखा है—*कपिशजी*। मनोहर श्याम जोशी के लिए पंद्रह दिन कम नहीं होते थे। लेकिन इसमें से पिछले कुछ दिन हटाने पड़ेंगे। उस समय वे अस्पताल में थे। लिख नहीं रहे थे।

मनोहर श्याम जोशी का जाना समाज से बेबाकी का जाना है। राजस्थानी ठाठ का जाना है। कुमाऊँनी लंतरानी की विदाई है। इतनी साफगोई उनके आसपास के किसी लेखक में नहीं दिखती। कमलेश्वर ने जोशी के निधन को हादसा कहा है। यह शायद ठीक है। यह एक ऐसा हादसा है, जिसका असर तत्काल मालूम नहीं पड़ेगा। समय लगेगा। यह समझ पाने में कि हिंदी ने क्या खो दिया है। मनोहर श्याम जोशी बीमार होकर अस्पताल पहुँचने तक लिखते रहे। और लिखा भी खूब। लेकिन एक फक्कड़पन के साथ। मुगालता उन्हें कभी नहीं हुआ। न अपने बारे में, न समाज के बारे में।

जोशीजी के कई रूप थे। पत्रकार, लेखक, भाषाविद्। और मन से वैज्ञानिक। उन्होंने एक अरसे तक *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* का संपादन किया। *वीक एंड रिव्यू* के संपादक रहे। *ईवनिंग न्यूज* का कामकाज देखा। धारावाहिकों और फ़िल्मों का जिक्र हो ही चुका है। वह उनके लेखन का क्षेपक था। लेकिन प्रभावशाली। भारत में टेलीविजन धारावाहिकों का इतिहास लिखा जाएगा, तो मनोहर श्याम जोशी का नाम उसमें सबसे ऊपर होगा। उन्होंने वर्षों चलने वाले सोप ऑपेरा लिखे, जब भारत में कोई उनका नाम भी नहीं जानता था। *हम लोग* में बड़की की शादी होनी थी तो सड़कें खाली हो गई थीं। सब घर पहुँच कर शादी देखना चाहते थे। वह पहला धारावाहिक था, जिसने लोगों को न केवल छुआ बल्कि बाँध कर रखा।

एक दिन मनोहर श्याम जोशी से बात हो रही थी। इस बारे में कि अब वे धारावाहिक क्यों नहीं लिखते। जोशी जी ने कहा, 'मुझे छोड़ कर सब बदल गए हैं। टेलीविजन कारखाना हो गया है। जो कारखाने का मालिक चाहता है, लेखक वही लिखता है। मालिक चाहे तो एक ही चरित्र सिंदूर लगा कर मंगलसूत्र पहने साड़ी लपेटे पाँव छूने वाली महिला का होगा और उसी दिन वह स्विम सूट में भी दिखाई देगा। यह मानसिक दिवालियापन है। मेरी जगह कहाँ है?

मनोहर श्याम जोशी का जाना मन में एक अवसाद भर गया है। यह अवसाद इसलिए और ज्यादा है कि अब हिंदी में निर्लज्जता को आईना दिखाने वाला कोई नहीं रह गया। कुछ का साहित्य सब कुछ उघाड़ कर रचा जाता है तो कुछ अन्य का निर्लज्जता ढाँप कर। भाषा का वह खिलंदड़ापन अब कहाँ दिखेगा। होली से एक दिन पहले उनको देख कर लगता ही नहीं था कि वे किसी कोने से बीमार हैं। बल्कि हमेशा यही लगा कि उन्हें देख कर दूसरों को बीमारी हो जाए। या ठीक हो जाए। उनकी बेबाकी के डर के मारे। उस रोज दरियागंज में मनोहर श्याम जोशी चुपचाप उठकर दरवाजे के पास खड़े हो गए। जलसा चलाचली के दौर में था। दरवाजे के बगल में मेज पर एक टोकरी रखी थी। गुलाब की पंखुड़ियाँ भरी हुई थीं। वे मुट्ठी भर गुलाब उठाते और बाहर निकलने वाले आदमी पर डालते। उन गुलाबों में दोहरी खुशबू थी। थोड़ी-सी अपनी। ज्यादा मनोहर श्याम जोशी की।

मधुकर उपाध्याय : बी.बी.सी. की हिन्दी सेवा में रहे। 'भाषा' संवाद एजेंसी के बाद फिलहाल *लोकमत समाचार* नागपुर के संपादक है। कवि-पत्रकार-स्तंभकार हैं।

जोशीजी का 'वार एंड पीस'

प्रियदर्शन

हम लोग और *बुनियाद* जैसे धारावाहिकों ने मनोहर श्याम जोशी को भले एक प्रसिद्ध सोप ऑपेरा लेखक बना डाला, लेकिन हिंदी का साहित्य और समाज उन्हें एक महत्वपूर्ण उपन्यासकार के रूप में याद रखेगा। 1980 में जब *कुरु-कुरु स्वाहा* प्रकाशित हुआ तो यह उपन्यास-लेखन के पारंपरिक यथार्थवादी चौखटे के बाहर ऐसी छलांग की तरह देखा गया जिससे उपन्यास की दुनिया कुछ आगे बढ़ी, कुछ नए क्षेत्रों में दाखिल हुई। इत्तिफाक से इसी के आसपास विनोद कुमार शुक्ल का उपन्यास *नौकर की कमीज* भी छप कर आया। ये दोनों उपन्यास प्रेमचंद, जैनेंद्र, यशपाल और रेणु की परंपरा के बाद हिंदी में एक नई तरह का आख्यान रच रहे थे जिसे बाद में दोनों उपन्यासकारों ने अपने-अपने ढंग से और आगे बढ़ाया।

कुरु-कुरु-स्वाहा में मनोहर श्याम जोशी ने खुद को तिहरे चरित्र की तरह प्रस्तुत किया। उनकी देह में तीन आत्माएँ बसती हैं। एक प्रचंड बौद्धिक जोशीजी हैं जिनकी तमन्ना 'एक ठो वेस्टलैंड' और एक ठो 'वार एंड पीस' लिख डालने की है, दूसरा वह मनोहर है जो बात-बात पर भावुक हो जाता है और तीसरा वह पत्रकार है जिसकी खुर्राट चालाक निगाहों में 'सब कुछ चलता है'। एक व्यक्तित्व के अलग-अलग आयामों को पकड़ती हुई चुटीले ढंग से लिखी गई यह कथा मनोहर श्याम जोशी की प्रतिभा के विस्फोट की तरह सामने आई। पूरे उपन्यास में उनकी भाषा के रंग, आंचलिकता की अलग-अलग रंगतों को पकड़ने का उनका वैशिष्ट्य अपनी तरह से हिंदी में विलक्षण रहे। *कुरु-कुरु-स्वाहा* के बाद आया *कसप,* जिसमें एक प्रेम कथा बिलकुल वहाँ से शुरू होती है जहाँ प्रेम की कल्पना से पहले किसी ज्यादा बड़ी कुदरती जरूरत का खयाल आता है। एक अस्थायी तौर पर बने संडास में खड़े होकर नाड़ा बाँधते प्रेमी की पहली मुलाकात होती है अपनी प्रेमिका से और फिर कहानी आगे बढ़ती है।

दरअसल, यह खिलंदड़ी दुस्साहसिकता मनोहर श्याम जोशी के लेखन में जगह-जगह पसरी है। लेकिन *कुरु-कुरु स्वाहा* के मनोहर श्याम जोशी की तरह इस दुस्साहसिकता की भी तीन परतें हैं। सबसे ऊपर खिलंदड़ापन है, उसके नीचे एक गंभीर विमर्श और उसके नीचे किसी अतल में बसी करुणा जिसका एक छोर कभी *कुरु-कुरु स्वाहा* का मनोहर दिखा जाता है, कभी *हरिया हरक्यूलीज* का हरिया। *हरिया हरक्यूलीज की हैरानी* के प्रकाशन के साथ मनोहर श्याम जोशी की यह बीहड़ यात्रा एक नए इलाके में दाखिल होती है—उस उत्तर आधुनिक विमर्श में जिसके सच के कई भाष्य हैं, पाठ के कई मायने।

करीब चार-पाँच साल पहले *बहुवचन* में पहली बार प्रकाशित *क्याप* एक तरह से इस हैरानी का विस्तार है जिसमें कथा अपने अंत में कई छोर प्रस्तावित करती हुई खत्म होती है। लेकिन जोशीजी की दुस्साहसिकता का चरम दिखाई पड़ता है उनके उपन्यास *हमजाद* में। उर्दूनिष्ठ हिंदी की एक अलग तरह की छटा प्रस्तुत करने वाले इस उपन्यास का नायक एक ऐसा शख्स है जो शायद दुनिया की सभी जानी-पहचानी बुराइयों का पुलिंदा है। कथा साहित्य के आम पाठकों को *हरिया हरक्यूलीज* पढ़ते हुए नाक-भौं सिकोड़ती हैरानी के जिस अहसास से गुजरना पड़ा, उनके लिए तो *हमजाद* वितृष्णा को छूती गहरी यातना से कम नहीं रहा

होगा।

लेकिन मनोहर श्याम जोशी होने का मतलब शायद एक ऐसी शख्यसित का होना था जिसके लिए नैतिकता के पारंपरिक तकाजे ज्यादा मायने नहीं रखते थे। उनका लेखन बताता है कि उन्होंने काफी दुनिया देखी, कई भाषाएँ जानीं-समझीं और हिंदी के शायद सबसे बहुपठित लेखकों में वे एक रहे। ऐसा लेखक किन्हीं बने-बनाए खाँचों का मोहताज होकर रह भी नहीं सकता था—चाहे वे नैतिकता के खाँचे हों या फिर शिल्प के।

लेकिन इन सबके बावजूद मनोहर श्याम जोशी अंततः उसी मध्यवर्गीय भारतीयता के लेखक रहे जो अपनी मुश्किलों और अपने अभावों के बीच, अपने संशय और सवालों के बीच अपने विचार और सरोकार के नए क्षितिजों की तलाश करती दिखाई पड़ती है। उपन्यासों से बाहर जब उन्होंने टेलीविजन जैसे लोकप्रिय माध्यम को अपनी रचनात्मकता का जरिया बनाया तो सबसे पहले ठेठ निम्नमध्यवर्गीय भारतीय समाज में जाकर अपने चरित्रों की तलाश की। *हमलोग* की सफलता और व्यापक लोकप्रियता का राज सिर्फ यह नहीं था कि वह भारत में पहली बार पसर रहे दूरदर्शन केंद्रों का पहला सोप ऑपेरा था, बल्कि यह भी था कि उसके चरित्रों में आम लोगों ने खुद को देखा, उनकी मुश्किलों में वे अपनी मुश्किलें पहचानते रहे और उनकी छोटी-छोटी हसरतों में अपनी हसरतें।

शायद यह तुलना किसी को अतिशयोक्तिपूर्ण लग सकती है, लेकिन प्रेमचंद ने *गोदान* के जरिए ग्रामीण भारत के प्रतिनिधि चरित्रों के रूप में जिस तरह हमें होरी और धनिया दिए, उसी तरह मनोहर श्याम जोशी ने *हमलोग* के जरिए शहरी भारत के बशेसरनाथ और पल्लू ओढ़े चुप-चुप सी 'हाँ जी, ना जी' करने वाली उनकी पत्नी को प्रस्तुत किया। यह अनायास नहीं है कि आज भी जब टीवी धारावाहिकों की चर्चा होती है तो सबसे पहले *हमलोग* का खयाल आता है और उसी के साथ याद आता है—बड़की, मंझली, छुटकी और नन्हें का वह परिवार जिसमें सारे अभावों के बीच अपनी कातर ममता के साथ बच्चों को पाल रही माँ है, दुनिया की तल्खियों से टूटा, शराब में डूबा और अपनी हसरतों को गाता पिता है और बूढ़े दादा-दादी हैं जो किसी पीपल की तरह घर को छाँव देते हैं।

मनोहर श्याम जोशी ने इसके बाद भी काफी सफल धारावाहिक लिखे, फिल्में भी लिखीं—*बुनियाद* जैसे धारावाहिक और *अप्पू राजा* जैसी फ़िल्म को भुलाया नहीं जा सकता। लेकिन यह सच है कि *कुरु-कुरु स्वाहा* के जोशीजी जो एक ठो *वार एंड पीस* लिखना चाहते थे, वह *हमलोग* ही था—भारतीय टीवी चैनलों में बढ़ते 'वेस्टलैंड' में अपनी तरह की अनूठी शुरुआत, जिसका आज भी कोई सानी नहीं है। मनोहर श्याम जोशी के व्यक्तित्व के और भी पहलू रहे। लंबे अरसे तक उन्होंने पत्रकारिता की और *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* जैसी पत्रिका का संपादन भी किया। लोग उन्हें व्यंग्यकार के तौर पर भी पहचानते रहे। *कक्का जी कहिन* जैसा सीरियल उनके व्यंग्य संग्रह *नेताजी कहिन* पर ही बना। *मुंगेरी लाल के हसीन सपने* भी उनकी कलम से निकला। इन सबके बावजूद मूलतः वे उपन्यासकार रहे। उनके न रहने पर उनके होने की जरूरत का अहसास कुछ ज्यादा शिद्दत से साल रहा है।

प्रियदर्शन : कथाकार, साहित्य समीक्षक और पत्रकार। सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों के अध्येता और टिप्पणीकार। एक अरसे तक *जनसत्ता* दैनिक के साथ जुड़े रहे हैं। अब एन.डी.टी.वी. चैनल से संबद्ध हैं। दिल्ली में रहते हैं।

मनोहर श्याम जोशी का जाना

देवेन्द्र राज अंकुर



मनोहर श्याम जोशी

कभी-कभी अजीब संयोग घट जाते हैं। जिस सुबह जोशीजी चले गए, उससे पहले की संध्या में एक बहुत बड़ा समूह इंडिया इंटरनेशनल सेन्टर के अनैक्सी वाले हिस्से में एकत्रित था। अवसर था प्रयाग शुक्ल द्वारा तैयार ग्वालियर में लगी स्थापत्य कला प्रदर्शनी पर स्मारिका पुस्तिका का लोकार्पण। कौन नहीं था वहाँ—चित्रकार, कवि, कहानीकार, रंगकर्मी, सभी विधाओं के लोग, एक बड़ी संख्या में। लोकार्पण के बाद सब लोग अपने-अपने ढंग से चाय-पान, रसरंजन से इस घटना को सैलेब्रेट करते हुए। शायद किसी को इस बात की सूचना नहीं थी कि उस वक़्त जोशीजी दिल्ली के किसी अस्पताल में आई.सी.यू. में भर्ती हैं अपनी साँस की तकलीफ़ के कारण। हालाँकि इस तकलीफ़ की शिकायत भी वह कई दिन से कर रहे थे। इसके बावजूद वह इस बीच हर फंक्शन में मौजूद थे। होली से एक दिन पहले वाणी प्रकाशन द्वारा आयोजित दरियागंज वाले आफ़िस में या स्वयं उनके अपने निवास पर या आई.आई.सी. में अशोक वाजपेयी के कविता पाठ में।

उस शाम विष्णु नागर, अजित राय और मैं लगभग आधा घंटा एक साथ थे और हमारी बातचीत का एकमात्र विषय था—जोशीजी का लेखन, उनके मज़ाक़, उनका व्यक्तित्व, उनके संस्मरण, उनके द्वारा लिए गए या दिए साक्षात्कार। दूसरे दिन सुबह मैं एक सेमिनार में मुंबई चला गया और वहीं मुझे दोपहर में उनके चले जाने की सूचना मिली। बाद में पता चला कि जो लोग दिल्ली में थे, उन्हें भी बहुत बाद में जाकर पता चला कि जोशी जी सुबह सात बजे के आसपास छह चालीस पर हमसे दूर जा चुके थे।

मेरा पहला परिचय जोशीजी से उनकी रचनाओं के माध्यम से हुआ और बाद में उनसे। मैंने उनके उपन्यास *कसप* का मंचन किया था—1997 में। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा पिथौरागढ़ में एक छः सप्ताह का पूर्णकालिक ग्रीष्म नाट्य शिविर लगाया गया था। उसी के प्रतिभागियों के साथ उनके उपन्यास की मंच प्रस्तुति तैयार की गई थी—शिविर की समाप्ति के रूप में। इसका मंचन पिथौरागढ़ में तो हुआ ही, लौटते हुए नैनीताल, अल्मोड़ा और अंततः दिल्ली में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय परिसर में प्रदर्शन किए गए। दिल्ली के प्रदर्शन में मुंबई से सत्यदेव दुबे (जो उस दिन किसी कार्यवश दिल्ली में थे) तो थे ही, हम लोगों ने जोशीजी को भी आमंत्रित किया था और वह मौजूद थे। यह जोशीजी से मेरी पहली व्यक्तिगत मुलाक़ात थी। यह अलग बात है कि इससे पहले मैं उनकी रचनाओं से परिचित हो चुका था। इससे पहले 1992 में हमारे

विद्यालय के छात्रों के साथ रंजीत कपूर जोशीजी के उपन्यास *कुरु कुरु स्वाहा* का स्वयं द्वारा किया गया नाट्य रूपांतर मंचित कर चुके थे जिसकी अच्छी-ख़ासी चर्चा हुई थी। मैं शायद दिल्ली में न होने के कारण वह प्रस्तुति देख नहीं पाया था। लौटकर कम से कम पढ़ तो लूँ, यह सोच कर मैंने उपन्यास ख़रीदा भी लेकिन हर बार ऐसा कुछ होता रहा कि उसे पढ़ने की तरफ़ लौटा ही नहीं।

पिथौरागढ़ से लौटते ही गर्मी की छुट्टियों के बाद मुझे अपने तीसरे वर्ष के छात्रों के साथ कहानियों की एक प्रस्तुति करनी थी। एक दिन डॉ. नामवर सिंह मिले तो उन्होंने सुझाया कि मनोहर श्याम जोशी की कहानी *एक दुर्लभ व्यक्तित्व* क्यों नहीं करते? मैंने तुरंत उनके एक कहानी संग्रह *मंदिर की पौड़ियाँ* पर मंगवाया और उसमें *एक दुर्लभ व्यक्तित्व* को ढूँढने की कोशिश की। पता चला कि *प्रोफ़ेसर टटा से एक मुलाक़ात* नामकी कहानी ही कभी *एक दुर्लभ व्यक्तित्व* शीर्षक से भी प्रकाशित हुई थी। बहरहाल, हम लोगों ने उसका मंचन किया। जोशी जी को जब भी पूर्वाभ्यास में बुलाया, उन्होंने सहज रूप से अपने सुझाव दिए और प्रदर्शन के दिन तो उपस्थित थे ही। इसके बाद तो लगातार उनसे मुलाक़ातें होती रही—कभी *श्रुति* कार्यक्रम में, कभी हमारे राजभाषा विभाग के हिन्दी सप्ताह में मुख्य अतिथि के रूप में, और कभी किसी दूसरे नाट्य प्रदर्शन या सेमिनार, संगोष्ठी, साहित्यिक कार्यक्रम में। मुझे याद है कि रघुवीर सहाय की याद में त्रिवेणी सभागार में आयोजित कार्यक्रम में उन्होंने सहायजी से जुड़े कई प्रसंगों का उल्लेख किया था जिन्हें सुनकर हम सब लोग जोशी जी के ह्यूमर से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सके थे। ऐसा ही एक अवसर फिर हमारे *श्रुति* कार्यक्रम में आया, जिसमें जोशीजी ने अपने एक अधूरे उपन्यास के कुछ अंश सुनाए। उपन्यास का नाम संग्राम क्षेत्र रखना चाहते थे जिसमें किसी नेतानुमा व्यक्तित्व की पहली विदेश यात्रा का प्रसंग था। पाठ भी अद्भुत था और जिस तरह से हम लोगों ने उसका मज़ा लिया, वह बेमिसाल है।

दरअसल यही वह गुण है जो जोशीजी के व्यक्तित्व में भी और उनके लेखन में भी दिखाई देता है। भीड़ में होकर भी वह सबसे अलग थे। न तो उन्हें स्वयं और न उनकी किसी रचना को किसी बने बनाए ढाँचे में फिट किया जा सकता। इतना ही नहीं, हर बार किसी नई रचना के लिए वह अपनी पिछली रचना के शिल्प को स्वयं तोड़ डालते थे और सिर्फ़ तोड़ते ही नहीं थे वरन् उसे लांघकर आगे निकल जाते थे। उदाहरण के लिए, बेशक उनकी हर रचना के भीतर से मध्यवर्गीय ज़िन्दगी और परिवारों के बीच चुपचाप, छिपे-ढँके प्रसंग झाँकते रहते हैं लेकिन फिर भी हर बार नए, ताज़े और पहली बार ही सामने आ रहे हों—ऐसा लगता है। मुझे नहीं लगता कि उनसे बड़ा प्रयोगधर्मी और मूर्तिभंजक हिन्दी क्या, भारतीय साहित्य में भी देखने को मिलेगा। इसी के समांतर है उनका साहित्येतर लेखन। मैं यहाँ उनके दूरदर्शन धारावाहिकों और फ़िल्मी रचनाओं के बारे में लिखने नहीं जा रहा हूँ वरन् एक ऐसी किताब की चर्चा करना चाहूँगा जिसकी तरफ़ हम लोगों का बहुत कम ध्यान गया है और वह है सिनेमा के संदर्भ में *पटकथा लेखन*। एक शुद्ध तकनीकी विषय पर होते हुए भी जोशी जी ने जिस भाषा, तेवर और मुहावरे में उसे लिखा है, उसे पढ़ना किसी भी सृजनात्मक रचना से कम आस्वादमय नहीं है। मुझे याद है, जैसे ही वह छपकर आई थी, मैंने तुरंत उसकी एक प्रति मँगवाई थी और जब उसे पढ़ना शुरू किया तो समाप्त करके ही उठा। यह था उनके लेखन और क़िस्सागोई का अंदाज़ जो आपको एकदम से अपनी गिरफ़्त में जकड़ लेता है। ठीक यही अनुभव उनके लखनऊ प्रवास वाले आत्मकथात्मक संस्मरणों की किताब *लखनऊ मेरा लखनऊ* को पढ़कर हुआ।

दूसरों को तो जोशीजी ज़िन्दगी भर उधेड़ते ही रहे लेकिन जिस तरह से, जिस बेबाकी और निर्ममता से उन्होंने खुद को भी सबके सामने उधेड़कर रख दिया है, वह इस रचना को अनायास ही बहुत गहरा और मार्मिक बना डालता है। मैंने तो उसे पढ़ा ही एक के बाद न जाने अपने विद्यालय के कितने सहयोगियों और सहकर्मियों को भी पढ़ने को दिया। इसके साथ मुझे ऐसी ही और बहुत सी आत्मकथाओं का ध्यान हो आता है। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की *अपनी ख़बर* इससे पहले पढ़ चुका था। इसी के आसपास भगवतीचरण वर्मा की *कहि न जाए, का कहिए* पढ़ने को मिली। रवीन्द्र कालिया की *ग़ालिब छुटी शराब* से भी पहले ही सामना हो चुका था और बाद में कमलेश्वर की आत्मस्वीकृतियों के तीन भागों से भी गुज़रा। मैं समझता हूँ कि यदि कोई रचना अपने साथ-साथ अपने जैसी और बहुत सी रचनाओं की भी याद दिलाए तो यह उस रचना की गुणवत्ता का सबसे बड़ा उदाहरण है।

जोशीजी की रचनाओं की तरह उनकी रचनाओं की प्रस्तुतियों का अनुभव भी एक दूसरे से बिलकुल अलग रहा। दोनों की पृष्ठभूमि और परिवेश में पहाड़ है। *कसप* किया गया ही पहाड़ में रहने वाले प्रतिभागियों के साथ जो एक शिविर में सीखने के लिए आए हुए थे। इसलिए उनका अपना कच्चापन, ताज़गी और अनगढ़पना उपन्यास की प्रस्तुति शैली को खोजने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ। यूँ भी यहाँ दो युवा प्रेमियों—डी.डी. उर्फ़ देवदास और राधा के बीच पहाड़ी क़स्बे के एक मुहल्ले में बसे बहुत से परिवारों की भीड़ में छुपते-छुपते एक प्रेम कहानी जन्म लेती है, जो अपने सुखद अंत तक पहुँचती ही नहीं। लेकिन फिर भी धर्मवीर भारती के *गुनाहों का देवता* जैसी भावुकता कहीं दिखाई नहीं देती। कहानी कभी उस तरफ़ बढ़ने भी लगती है तो जोशीजी ब्रेष्ट की तरह एक ही झटके में उसे तहस-नहस कर देते हैं।

सभी प्रतिभागी स्वयं उसी परिवेश में जन्मे, पले और बड़े हुए थे, इसलिए उन्हें *कसप* के पात्रों से अपने को जोड़ने में कोई बहुत ज़्यादा दिक़्क़त नहीं हुई। रचना के कथ्य और शिल्प के भीतर से ही प्रस्तुति का स्वरूप भी अपने आप बनता चला गया, जो एक फ़िल्म से मिलता-जुलता है। उपन्यास का कथानक भी पहाड़ी परिवेश में एक प्रेम कहानी फ़िल्माने से ही संबंधित है जिसके लिए पहाड़ से गया हुआ नायक डी.डी. मुंबई से लौटकर आता है। फ़िल्म तो ख़ैर क्या बनती, उसकी अपनी प्रेम कहानी शुरू हो जाती है।

इसके बरक्स *प्रोफ़ेसर टटा* में काम करने वाले सभी छात्र अलग-अलग राज्यों से थे। मात्र एक छात्र पिथौरागढ़ से था। ऐसे में रिहर्सल के दौरान जोशीजी का सलाह-मशविरा बहुत काम आए। कहानी की प्रस्तुति बहुत सफल रही। यद्यपि जो छात्र प्रोफ़ेसर की भूमिका में था, वह कहानी में चित्रित प्रोफ़ेसर की शारीरिक इमेज से बिलकुल अलग था, फिर भी उसने अपनी अभिनय क्षमता से उस अन्तर की तरफ़ ध्यान ही नहीं जाने दिया।

यादें तो ढेर सारी हैं जो पिछले दस सालों में इकट्ठी होती गई हैं लेकिन अब उन्हें बार-बार दोहराने से भी क्या होगा। मज़ेदार बात यह है कि खुद अपने सामने घटे क़िस्सों से ज़्यादा तो वे क़िस्से और घटनाएँ हैं जो दूसरे दोस्त उनके बारे में सुनाते रहे हैं। वे इतने खुले, बेबाक, दो-टूक और काफ़ी हद तक स्वच्छन्द और उच्छृंखल हैं कि यहाँ लिखे भी नहीं जा सकते। यह जोशीजी का ही बूता था कि वे ऐसी स्थितियों में पहले खुद को फँसा सकते थे और फिर उनसे बाहर आकर निहायत पारदर्शिता से उनके बारे में बयान भी कर सकते थे। एक अर्थ में दिल एक खुली किताब है, इस मुहावरे को वह शत-प्रतिशत सही साबित करते थे। इसी बात को कुछ-कुछ इस तरह भी कहा जा सकता है कि उनकी कथनी और करनी में कोई भेद नहीं था

अर्थात् जितना अप्रत्याशित उनका लेखन है, उतने ही अप्रत्याशित वह स्वयं भी हो सकते थे या शायद थे ही। ऐसा पारदर्शी व्यक्ति मैंने दूसरा नहीं देखा—सचमुच में एक दुर्लभ व्यक्तित्व।

देवेंद्र राज अंकुर : सुपरिचित रंगकर्मी। *कहानी का रंगमंच* से नई रंगविधा की शुरूआत। *पहला रंग, रंग कोलाज, दर्शन प्रदर्शन* और *अंतरंग बहिरंग, नाटक का सौंदर्यशास्त्र* नाट्यालोचना की पाँच पुस्तकें। प्रकाशित। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक हैं।

एक दुर्लभ व्यक्तित्व

प्रयाग शुक्ल

लखनऊ से प्रकाशित होने वाली पत्रिका *कथाक्रम* के लिए मनोहर श्याम जोशी से मुझे एक लंबा साक्षात्कार करना था। और इसकी याद दिलाने के लिए *कथाक्रम* के संपादक शैलेंद्र सागर के फोन भी मेरे पास पिछले दिनों प्रायः आते रहते थे। मैं उन्हें आश्वस्त करता रहता था कि 'यह मैं जरूर ही करूँगा', पर इन दिनों मेरी भी कुछ व्यस्तताएँ हैं, और जोशी जी की भी हैं ही (साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिलने के बाद उन्हें छोटे-मोटे कई इंटरव्यू यों भी देने पड़ते थे)—वे व्यस्तताएँ निपट जाएँ तो मैं यह इंटरव्यू ही सबसे पहले करूँगा। पर वह अपूर्ण ही रहा, बल्कि कहना चाहिए शुरू भी नहीं हो सका। और जोशीजी चले गए। उनसे भी मैं इस इंटरव्यू की चर्चा करता रहता था और वह हँस कर यही कहते थे, 'जब चाहो तब आ जाओ।' इस इंटरव्यू को करने की कई तरह की तैयारियाँ भी मैं मन ही मन बना रहा था और मित्रों को यह बताया भी करता था कि जोशीजी से पहला वाक्य तो मैं यही कहूँगा कि 'जोशी जी से इंटरव्यू तो स्वयं जोशी जी ही कर सकते हैं। पर मैं भी जब इस काम के लिए उकसा दिया गया हूँ तो कुछ तो आपसे पूछूँगा ही . . .।'

पर यह भी कहना क्या ठीक होगा कि जोशीजी से मैंने साक्षात्कार नहीं लिया। नहीं, वह तो ठीक नहीं ही होगा। एक औपचारिक इंटरव्यू की शक्ल में भले मैं जोशी जी से साक्षात्कार नहीं ले सका, और उसका मलाल तो अब हमेशा बना रहेगा; पर उनसे 'प्रश्नोत्तरों' का सिलसिला तो कोई चालीस वर्षों से भी अधिक का है। मैं 1963-64 में कोलकाता से, *कल्पना* हैदराबाद में रह कर, दिल्ली आया था। 1965 में एक फ्रीलांसर के तौर पर *दिनमान* से जुड़ा था। तब जोशीजी की नियुक्ति दिनमान के सहायक संपादक के रूप में हो चुकी थी। और जानने वाले जानते हैं कि 1965 से 1968 तक के *दिनमान* की बात जोशीजी के बिना पूरी नहीं हो सकती। अज्ञेय उसके संपादक थे, और उनका तो *दिनमान* में महती योगदान है ही। पर *दिनमान* जैसी पत्रिका के लिए एक मनोहर श्याम जोशी चाहिए—और वह तो हिंदी में एक ही अकेला है—इसका भान स्वयं वात्स्यायनजी को भी था, तभी वह आग्रहपूर्वक जोशीजी को लाए थे। जोशीजी के अलावा भला कौन विज्ञान, खेलकूद, सिनेमा, संगीत, नृत्य, पुरातत्त्व, दर्शन, आधुनिक चिंतन, राजनीति, अंतरराष्ट्रीय राजनीति, अर्थशास्त्र, साहित्य, कला, आदि-आदि पर अधिकारपूर्वक लिख और लिखवा सकता था।

हम चौबीस-पच्चीस वर्ष के युवा तब चकित होकर उनके कामकाज और उनके जानकारीपूर्ण ज्ञान को देखा-सुना करते थे, और अचरज इस बात का सबसे अधिक करते थे कि इतने विषयों की जानकारी और इतनी विविध चीजों में उनकी दिलचस्पी क्योंकर संभव हो सकी है। जोशी जी भी तब युवा ही थे, अगर हम चौबीस-पच्चीस के थे तो वह बत्तीस-तैंतीस के रहे होंगे। विवाह तब तक उन्होंने किया नहीं था। तब सिगरेट खूब पीते थे और किसी सहयोगी से विनोदपूर्वक माँगी गई एक सिगरेट के बदले उसके पाँच पन्ने या तो उसकी ओर से दुबारा लिख सकते थे या दस पन्ने सुधार सकते थे। आज मुझे जोशीजी की वही छवि सबसे अधिक याद आ रही है कि वह टाइम्स ऑफ इंडिया बिल्डिंग में *दिनमान* के दफ्तर में सहयोगियों की


जोशी जी अपनी पत्नी भगवती जोशी के साथ

इस मेज से उस मेज जा रहे हैं, सिगरेट के लंबे कश भरते हुए और किसी को कुछ बता या सुझा या हँसा रहे हैं। और सहयोगियों में हैं सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, श्याम लाल शर्मा, श्रीकांत वर्मा आदि। रघुवीर सहाय तब *नवभारत टाइम्स* में हैं, और कभी-कभी *दिनमान* दफ्तर की ओर भी आ जाते हैं—जो उसी हॉल में है। कभी वात्स्यायनजी के कमरे से निकल रहे हैं, कभी हम जैसे किसी फ्रीलांसर को पकड़ रहे हैं, उसे कोई कार्ड दे रहे हैं कि अमुक-अमुक जगह जाकर तुम्हें एक वृत्तांत बनाना है, जाओ . . .। वह दोपहर भला कैसे भूल सकता हूँ। जोशीजी ने एक असमिया नाटक का कार्ड मुझे थमाया है। नाटक शाम को ही है। प्रगति मैदान में उन दिनों आयोजित होने वाले नाट्य समारोह में।

मैं अचकचा कर कहता हूँ, 'असमिया नाटक! नाटक पर तो मैंने कभी लिखा नहीं है।' 'तो, अब लिखो न भाई! हर चीज कभी न कभी पहली बार ही तो की जाती है।' फिर मेरे चेहरे पर थोड़ी बेचारगी भांप कर यह जोड़ना नहीं भूलते, 'अरे, घबराते काहे हो, तुम लिख कर तो लाओ . . .।' अब कोई बहाना नहीं चल सकता। मैं कार्ड हाथ में लिए हुए टाइम्स ऑफ इंडिया बिल्डिंग के बाहर निकलता हूँ। . . . और वह शाम भी तो जब मैं जोशीजी के साथ बैठा हूँ, *दिनमान* दफ्तर में। एक-एक कर लोग जा चुके हैं। पिकासो के सत्तर वर्ष पूरे होने पर, मुझे उन्होंने *दिनमान* की कवर स्टोरी सौंपी है। आज डेड लाइन है। मेरा लिखा हुआ वह पढ़ते, और कुछ सुधारते जा रहे हैं। कुछ तथ्यों के लिए मैं तीन-चार बार टाइम्स ऑफ इंडिया की लाइब्रेरी में जा चुका हूँ, जो *दिनमान* दफ्तर से लगी हुई ही है। पर जोशीजी हैं कि दिमाग पर थोड़ा-सा जोर डालते हैं और कई तथ्य, कई मर्म, कागज पर उतर आते हैं—पिकासो के। शायद रात नौ बजे हम टाइम्स ऑफ इंडिया बिल्डिंग के बाहर आते हैं . . . कवर स्टोरी प्रेस को सौंप कर।

उनका हंसमुख और आपको हँसाता-गुदगुदाता चेहरा ही बार-बार सामने आ रहा है . . . भुवाल संन्यासी पर कोई उपन्यास लिख रहे थे जोशी जी। पिछले दिनों उनके फोन आते थे किसी न किसी बांग्ला शब्द को लेकर। बांग्लादेश से लौटे थे जोशीजी तो भी खूब बातें हुई थीं। फिर, पीछे लौटा जा रहा हूँ।

जोशीजी के साथ फटफटिया में बैठ कर कनॉट प्लेस जा रहा हूँ। . . . कॉफी हाउस। जोशी जी *सारिका* के लिए लेखकों के मजेदार इंटरव्यू ले रहे हैं। जोशीजी *दिनमान* के खेलकूद संपादक योगराज थानी की मेज पर बैठे हैं और हॉकी या क्रिकेट की बारीकियों में 'उलझे' हैं, उलझा रहे हैं, नहीं, नहीं, उलझा नहीं रहे हैं, वही तो सब कुछ सुलझा रहे हैं। . . . जोशीजी किसी की आवाज की नकल उतार रहे हैं, साभिनय किसी की मिमिक्री कर रहे हैं। जोशीजी राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में आए हैं, हमारे निमंत्रण पर, *रंग प्रसंग* के पारसी अंक का लोकार्पण

करने और अपनी टिप्पणियों से सबको मोह ले रहे हैं . . . रंजीत कपूर की अनुपस्थिति में उन्हें 'शाबाशी' दे रहे हैं और *रंग प्रसंग* में भूलवश रंजीत की जन्म-तिथि गलत छप जाने पर ऐसी मीठी चुटकियाँ भी ले रहे हैं कि पूछिए मत! नहीं, न कभी किसी का नुकसान किया, न किसी के आड़े आए, सबको बढ़ाया, जो भी उनके संपर्क में आया, कुछ पाकर गया, खोकर नहीं। *श्रुति* में अपना कंबोडिया वाला उपन्यास पढ़ा तो सुनने वाले ऐसे रस में भीगे कि मनाने लगे कि वह रचना-पाठ कभी समाप्त ही न हो . . .।

हरिया हरक्यूलीज की हैरानी का अंश *इंडिया टुडे* में पढ़ कर फ़ोन किया तो रात के ग्यारह बज रहे थे। मैंने कहा, 'यह मुझे इतना अच्छा लगा है कि इच्छा हुई आपको अभी बताऊँ।' हँसे, बोले, 'चलो, तुम्हें अच्छा लगा, उधर नैनीताल-कुमाऊँ में न जाने कितने परिजन नाराज बैठे हैं . . . गालियाँ पड़ रही हैं, मुझे गलियाँ।'

याद नहीं पड़ता कि कभी उन्हें किसी को निराश करते देखा हो . . . भगवतीजी (जोशी जी की पत्नी) और जोशीजी, भला कब किसी मित्र-परिजन को अपने घर के किसी कामकाज में भूलते थे . . .।

1963-64 में *कल्पना* में रहते हुए मैं जोशीजी की कुछ चीजों और कविता में उनके 'कूर्मांचली' रूप से परिचित हो चुका था, *दिनमान* से जुड़ा तो भाषा को लेकर रोज ही खेले जाने वाले उनके 'खेल' से, फिर पढ़ने में आईं उनकी कहानियाँ, *एक दुर्लभ व्यक्तित्व* जैसी कहानियाँ। और आपके भीतर अपनी कहन शैली से न जाने क्या-क्या जगा गईं। जब *कुरु कुरु स्वाहा* पढ़ा तो लगा कि जोशीजी तो अपने समय, समाज, भूत-वर्तमान, देश-दुनिया में 'इतना गहरे पानी पैठ' हैं कि आप दांतों तले उंगली दबा लें! *कसप, हरिया हरक्यूलीज की हैरानी, ट-टा प्रोफेसर, क्याप* . . . पिछले दो-तीन दशकों में जोशीजी ने *गप्प* (गल्प) और आधुनिक-उत्तर आधुनिक विमर्श की न जाने कितनी खिड़कियाँ खोल दीं . . . अपनी शर्तों पर, पश्चिम की या किसी प्रवृत्ति या आंदोलन की शर्तों पर नहीं . . . सब कुछ जानते-बूझते, पढ़ते-सुनते-गुनते हुए जोशी जी ने जो कुछ किया अपनी तरह से, और मौलिक ढंग से . . ।

थे ही वह मौलिक! हर बतकही हर महफिल में, अपने लहजे में, अपनी तरह से बात करने वाले! 'हलो' कहने के बाद उनका हँसते हुए बतियाना और फिर बीच-बीच में आपको भी वजह-बेवजह हँसा देना और पते की कोई बात भी थमा देना, उन्हें जिस तरह आता था, उस तरह भला कहाँ किसी को आता है।

कोई बारह-तेरह दिन पहले की बात है। मैं रोहतक के रास्ते में था। मोबाइल बजा और जोशीजी की आवाज सुनाई पड़ी, ठीक उन्हीं की, पर मोबाइल में कटती हुई-सी . . .इतनी बात मैं समझ सका कि बच्चे अमेरिका से आए हैं, अब जाने वाले हैं। सो जोशीजी शायद उसी प्रसंग से घर बुला रहे हैं। मैंने कहा, दिल्ली पहुँच कर आपको आज शाम ही फोन करूँगा। बताया कि जा तो रहा हूँ रोहतक, पर शाम तक लौट आऊँगा। लौटा तो उस शाम उन्हें फोन नहीं कर सका। मैंने मान लिया था कि बुलावा कल-परसों का होगा। सुबह फोन कर लूँगा। सुबह फोन किया तो वह हँसे, 'अरे भाई, बुलावा कल शाम का ही था। तुमने शाम को फोन ही नहीं किया। पुष्पेश (पंत) भी बाहर गए थे उस दिन, शाम को लौटे तो सीधे मेरे यहाँ ही आ गए थे . . .' आदि। और अंत में, मुझे आश्वस्त करने के लिए, 'चलो, कोई बात नहीं, फिर मिलेंगे।'

फिर न तो उनकी आवाज सुनने को मिली, न मिलना हुआ। पर वह सशरीर भले हमसे बिछुड़ गए हैं, वैसे बिछुड़े कहाँ हैं! यही सोच रहा हूँ . . .।

कवि मनोहर श्याम जोशी

अशोक वाजपेयी

मनोहर श्याम जोशी का फोन कम ही आता था। होली के आसपास आया कि एक शाम उनके यहाँ कुमाऊंनी संगीत और रसरंजन का कार्यक्रम है जिसका मुझे भी न्योता है। मेरे यह बताने पर कि उस दिन मैं इलाहाबाद में होऊँगा, वे खिन्न होकर बोले कि हर कोई इलाहाबाद क्यों जा रहा है? उससे थोड़े दिन पहले वे वाणी प्रकाशन के एक सम्मान समारोह में, जो उनको साहित्य अकादेमी पुरस्कार पाने के उपलक्ष्य में था, मिले थे। हमेशा की तरह उत्फुल्ल नहीं दीख रहे थे। पूछने पर बोले कि कुछ सांस की तकलीफ है। जोशीजी का स्वभाव अपने को गंभीरता से न लेने का था। हर बार मिलने पर कुछ मजाक अपना बनाते थे और फिर कुछ आपका। इसलिए यह पता नहीं चलता था कि असल बात क्या है। वे एक तरह से बात बनाने के लेखक थे : भाषा के जितने रजिस्टरों का इस्तेमाल उन्होंने अपने लेखन में किया उतना कम ही लेखक कर पाए हैं।

हिंदी के कितने ही रूप, उसकी कितनी ही बोलियों के रंग उनकी भाषा में खिलते थे। आरंभ में उन्होंने कविता भी लिखी थी, 'कूर्मांचली' के नाम से। एक लंबी कविता *कल्पना* में छपी थी उस समय जब रघुवीर सहाय उसके संपादक थे। उसमें भाषा की कई अछूती भंगिमाएँ थीं। मुझे बंबइया हिंदी में लिखी दो पंक्तियाँ, लगभग पैंतालीस बरस बाद, आज भी याद हैं : 'हम लोगों का असल चीज आत्मा का अंदर है; कौन साला बोला तुमको हनुमानजी बंदर है।' निम्न मध्यवर्ग, विस्थापित लोग, पहाड़ की यत्किचिंत यादें, राजनीतिक-सामाजिक जिंदगी आदि से निस्बत रखते हुए जोशीजी ने अपनी चौकन्नी, आत्मव्यंगय और आत्मविडंबना से भरपूर आधुनिकता रची थी; उत्तर-आधुनिकता को भी अपने अहाते में खींच लाने में वे सर्वथा समर्थ थे। रघुवीर सहाय पर उनका पुस्तकाकार संस्मरण रघुबीरजी के कविव्यक्तित्व को समझने में किसी भी आलोचनात्मक यत्न से कहीं बेहतर और मददगार है। उन्होंने कई लेखकों से जो इंटरव्यू लिए थे वे उस विधा के प्रतिमान ही बन गए। इन दिनों आतंककारी और स्वयं आतंक से भरे अमेरिकी समाज की अनेक विश्वव्यापी विकृतियों पर उनकी पैनी नजर थी और मध्यवर्गीय विलासिता, उपभोक्तावाद आदि पर उन्होंने गहरी समझ और दूरदृष्टि से लिखा। उनके उपन्यास हिंदी में अपनी तरह के उपन्यास हैं। उन्होंने दूसरों के ही नहीं अपने बनाए ढाँचे तोड़ने में कभी संकोच नहीं किया।

सभी जानते हैं कि अपार लोकप्रियता के बावजूद मनोहर श्याम जोशी को, उन्होंने जो महत्वपूर्ण कार्य किया उसकी एवज में, वह सब नहीं मिला जिसके कि वे हकदार थे। साहित्य अकादेमी पुरस्कार हालाँकि देर से दुरुस्त तब मिला जब वे बहत्तर पार कर चुके थे। पर उनके मन पर इसका कोई बोझ न था। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर सबसे पहले इतने सीरियल बनाने और उनसे मिली लोकप्रियता का भी उन पर बोझ न था। वे सच्ची लेखकीय जिजीविषा से प्रेरित व्यक्ति थे। हम जैसे कई लेखक एक विनोदप्रिय हंसमुख बंधु की अनुपस्थिति को शिद्दत से महसूस करेंगे।

अशोक वाजपेयी : सुपरिचित कवि, आलोचक और संस्कृतिकर्मी। सभी कलाओं में गहरी दिलचस्पी है। *समय से बाहर* में विभिन्न कलाओं पर लेख-टिप्पणियाँ संकलित हैं। *विवक्षी* नयी कविता पुस्तक है। दिल्ली में रहते हैं।

रंग प्रसंग

आगामी अंक

जुलाई-सितंबर, 2006

- कुछ नई रंगविधियों और प्रस्तुतियों पर विशेष लेख।
- नाट्य समारोहों के इतिहास और उनकी भूमिका पर देवेंद्र राज अंकुर का आलेख।
- सैमुएल बेकेट की जन्मशती पर कृष्ण बलदेव वैद का आलेख।
- रंगभाषा : आर्तो का आर्तनाद—जॉक देरिदा की मार्फ़त : कृष्ण गोपाल वर्मा।
- कथाकार, उपन्यासकार, नाटककार और कवि महेन्द्र भल्ला की कविताएँ।
- संतूर वाद्य पर सुनीरा कासलीवाल का शोधपूर्ण आलेख और संतूर वादक भजन सोपोरी से किया हुआ उन्हीं का साक्षात्कार।
- नई नाट्यकृतियों और रंगकर्म संबंधी पुस्तकों की समीक्षाएँ।
- कला, सिनेमा, नृत्य-जगत आदि पर भी नियमित सामग्री, तथा और भी बहुत कुछ।

जुलाई, 2006 के पहले सप्ताह में प्रकाश्य।
अपनी प्रति अभी से सुरक्षित करा लें।

